शुभकामना

आयुष्मान् श्री जितेन्द्र नाथ पाठक की इस पुस्तक को प्रकाशित देख मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। इसमें हिंदी के मुक्तक काव्य के विकास की कहानी कही गई है। मुक्तकों का साहित्य हिंदी की बहुत बड़ी संपत्ति है। श्री जितेंद्रनाथ जी ने बडे परिश्रम से इस साहित्य की छान-बीन की है। उन्होंने इसे बड़ी पटभूमि पर रखकर परखा है। मूल रूप से यह पुस्तक एम० ए० परीक्षा के निबंध रूप में लिखी गई थी। उस समय परीक्षकों ने भी इसे बहुत पसंद किया था। अब यह पुस्तक रूप में प्रकाशित होकर बृहत्तर सहृदय समाज के सामने है।

मुक्तकों का भारतीय साहित्य में विशिष्ट स्थान है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में अत्यंत मूल्यवान मुक्तक भरे पड़े हैं। शृंगार, वैराग्य, नीति, दैनदिन जीवन और राजस्तुति इनके मुख्य विषय रहे हैं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की यह परंपरा हिंदी साहित्य में पूर्ण रूप से सुरक्षित रही है। रीतिकालीन हिंदी साहित्य तो सरस मुक्तकों का भांडार ही है। श्री जितेंद्र-नाथ ने इस सरस साहित्य के विभिन्न रूपों के अभ्युदय और विकास को सावधानी से समझने का प्रयास किया है। मुझे विश्वास है कि सहृदय-जन इसे पसंद करेंगे। मेरी हार्दिक शुभकामना है कि आयुष्मान् जितेंद्रनाथ भविष्य में उत्तम ग्रंथों से साहित्य-भाडार को पूर्ण करते रहें और साहित्य-रसिकों के प्रीतिभाजन बनें। तथास्तु

हजारीप्रसाद द्विवेदी

श्रद्धेय गुरुदेव आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

को

प्रणतिपूर्वक

भूमिका

काव्य के क्षेत्र में मुक्तक और प्रबंध दो सर्वमान्य विभाग हैं। भारतीय साहित्य में मुक्तक और प्रबंध दोनों प्रकार के काव्यों की प्रचुरता के साथ सृष्टि हुई है। प्रबंधों का निर्माण तो दो हजार वर्षों से भी पुराना है किंतु मुक्तकों की रचना ईसा की प्रथम शताब्दी के आस पास से आरंभ हुई और उत्तरोत्तर प्रबंधों की प्रतिद्वंद्विता में आगे बढ़ती गयी।

प्रबंध कवि की किसी महती इच्छा, इतिवृत्त-विधायनी बुद्धि और शिल्प-कुशल चेतना का परिणाम है किंतु मुक्तक कवि की सद्यःस्फुरित भावुकता, समास-चेतना और भाव-विधायिनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति। बाह्य रूप और अंतरवर्ती चेतना की इसी भिन्नता के कारण संभवतः मुक्तकों का निर्माण और उसका ग्रहण काफी वेग से हुआ और प्रबंधों का निर्माण काफी धीरे धीरे। संभवतः इसी कारण मुक्तकों का संख्यातीत विशाल साहित्य सामने आया और प्रबंधों का ऐसा साहित्य जो सरलता पूर्वक गिना जा सके। हिंदी में आदिकालीन और मध्यकालीन प्रायः समूचा धर्माश्रित भक्ति साहित्य मुक्तकों में निबद्ध हुआ। रीतिकाल का प्रायः समूचा शृंगार साहित्य मुक्तक काव्य का गौरव बना। डिंगल का लगभग अधिकांश शौर्य-व्यंजक साहित्य मुक्तकों में लिखा गया और आदि से अंत तक संपूर्ण नीति और सुभाषित काव्य मुक्तकों में रचित हुआ। १६ वीं शताब्दी से पूर्व पृथ्वीराज रासो, आल्ह खंड, पद्मावत, रामचरित मानस आदि यद्यपि हमारे साहित्य के अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त काव्य ग्रंथ हैं फिर भी मुक्तकों की विशालता की तुलना में ये बहुत कम पड़ेंगे।

संस्कृत साहित्य में बहुत मूल्यवान तथा हिंदी की अपेक्षा संख्या में अधिक प्रबंध हैं और साथ ही मुक्तक हिंदी की अपेक्षा काफी कम हैं फिर भी संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य आनंदवर्द्धन ने अमरुक या अमरु के शतक के एक एक श्लोक के लिए कहा था—

अमरुक-कवेरेकः श्लोकः प्रबंध शतायते।

इस कथन के पीछे यह दृष्टिभेद भी है कि मुक्तकों में संदर्भ-चयन की

पीठिका प्रदान करने के लिए 'विकासक्रम की पृष्ठभूमि' नामक अध्याय की योजना करनी पड़ी।

पाठकों की सहायता के लिए मैंने अंत में नामानुक्रमणिका भी जोड़ दी है जिससे उन्हें अपने लिए अपेक्षित सामग्री ढूढ़ने में सुविधा होगी।

जहा तक मुझे ज्ञात है हिंदी साहित्य के आरभ से उन्नीसवीं विक्रमीय शताब्दी (आदिकाल और मध्यकाल) तक के प्रबंध काव्यों का तो समग्र रूप से अध्ययन हो चुका है किंतु विशाल मुक्तक साहित्य का समग्र रूप से अध्ययन नहीं हो सका है। मैंने इस अभाव की पूर्ति करने की चेष्टा की है। इस कार्य में मैं कहाँ तक सफल हो सका हूँ इसका निर्णय विद्वान और सहृदय पाठक करेंगे।

इस प्रबध का निर्देशन श्रद्धेय गुरुदेव आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया। आचार्यवर ने आदिकालीन और मध्यकालीन साहित्य के अध्ययन का यह अवसर देकर मेरा बड़ा उपकार किया। इस सुविशाल मुक्तक साहित्य का आलोड़न सभव ही नहीं हुआ होता यदि गुरुदेव ने बराबर हर प्रकार की कठिनाइयों को न सुलझाया होता। मैं उनके सम्मुख विनयावनत हूँ।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन इस बीच जब जब काशी आए मैं उनके सामने अपनी विभिन्न समस्याएँ रखता रहा और बडे ही धैर्यपूर्वक उन्होंने उनको सुलझाने की कृपा की। यह उनके जैसे महिमाशाली व्यक्तित्व के योग्य ही है।

श्रद्धेय डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने मेरे उत्साह का सतत संवर्द्धन किया और हर प्रकार की सभव सहायता के द्वारा इस पुस्तक को इस रूप में पहुँचाने में योग दिया। उनके इस सहज स्नेह के लिए मैं उनके प्रति विनत हूँ।

गुरुदेव प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनेक निर्देशों का उपयोग मैंने प्रस्तुत प्रबध के शृंगारिक मुक्तक वाले अध्याय के स्वच्छद काव्यधारा के विकास वाले अश में किया। इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

आदरणीय डा० श्री कृष्णलाल ने शोध मार्ग की अनेक कठिनाइयों को बड़ी तत्परता के साथ दूर किया। यदि आपने यह तत्परता न दिखाई होती

तो प्रबंध को प्रस्तुत करने में मुझे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

आदरणीय श्री विजयशंकरमल्ल के संमुख भी मैं विनयावनत हूँ जो हर प्रकार की संभव सहायता के माध्यम से प्रबंध के आरंभ से उसके प्रकाशन तक इससे बराबर संबद्ध रहे। 'मुक्तक काव्य का स्वरूप' वाले प्रकरण में आपके सुझावों से मै विशेष लाभान्वित हुआ।

आदरणीय पं० करुणापति त्रिपाठी ने पालि और प्राकृत के कुछ मूल अंशों के मर्म तक पहुँचने में मेरी सहायता की। एतदर्थ मैं उनका आभार मानता हूँ।

आदरणीय डा० बच्चनसिंह जी को भी मैं श्रद्धासहित स्मरण करूँगा जिन्होंने प्रबंध के परिवर्द्धित नवीन अंशों को अपने उपयोगी परामर्शों के द्वारा विशेष समृद्ध किया। उनके प्रति मैं अपना आदरभाव व्यक्त करता हूँ।

इसके पश्चात मैं डा० शंभूनाथ सिंह को श्रद्धासहित स्मरण करूँगा जिनके परामर्श इस प्रबंध के कतिपय अध्यायों के लिए बडे ही उपयोगी सिद्ध हुए। मुक्तक काव्य का स्वरूप, काव्यरूप और वीररसात्मक मुक्तकों के अध्ययन में उन्होंने अनेक बहुमूल्य सुझाव दिए। मैं उनके प्रति आंतरिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

राजकीय संस्कृत विद्यालय काशी के प्राध्यापक पं० जगन्नाथ उपाध्याय का भी मैं विशेष कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस प्रबंध के 'धर्माश्रित मुक्तक' और 'नीतिपरक मुक्तक' वाले अध्याय की कुछ मूलभूत गुत्थियों को सुलझाया और बराबर अपने परामर्श देते रहे। यद्यपि वह नहीं चाहते कि उनके विषय में मै कुछ लिखूँ फिर भी श्रद्धाज्ञापन के इस अवसर को मैं छोड़ना नहीं चाहता।

डा० नामवर सिंह ने 'विकास क्रम की पृष्ठभूमि' के संबंध में और डा० शिवप्रसाद सिंह ने प्रबंध की उपस्थापन-पद्धति और संदर्भ ग्रंथों के संकेत के प्रसंग में अपने महत्वपूर्ण सुझाव देकर इस प्रबंध का बड़ा उपकार किया। भाई ब्रजविलास ने यत्र-तत्र कुछ न कुछ मीनमेष निकालकर और इस भांति प्रबंध की समृद्धि में योग देकर मेरी बड़ी सहायता की। इन सभी बंधुओं के प्रति मेरे मन में आदरभाव सुरक्षित है।

सुहृद्वर श्री गोबर्द्धन उपाध्याय और नागरी मुद्रण के सुयोग्य

व्यवस्थापक श्री महतावराय ने बड़ी तत्परता के साथ इसके मुद्रण की व्यवस्था की। साथ ही नागरी मुद्रण के अन्य सभी कर्मचारियों ने इस पुस्तक के प्रकाशन में बड़ा परिश्रम किया। मैं इन सभी शुभचिंतकों और सहायकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

पुस्तक में कुछ तो टंकक की कृपावश, और कुछ शीघ्रता के कारण कतिपय त्रुटियाँ रह गयी हैं। अध्येताओं की सुविधा के लिए पुस्तक के अंत में शुद्धि-पत्र दिया गया है।

हिंदी विभाग
डिग्री कालेज, गाजीपुर

—जितेन्द्रनाथ पाठक

विषयानुक्रम

प्रकरण पृ० सं०

प्रवेश

अपभ्रंश संबंधी सबसे महत्वपूर्ण प्रकाशन हेमचंद्राचार्य के प्राकृत-व्याकरण का है। सन् १८७७ ई० में प्रसिद्ध भाषातत्वविद् जर्मन पंडित पिशेल ने इस व्याकरण को संपादित किया। इस पुस्तक का नाम था 'ग्रामेटिक डेर प्राकृत श्प्राखेन'। इस व्याकरण से, अपभ्रंश संबंधी सामग्री निकालकर तथा अन्य खोजों का विनियोग करते हुए पिशेल ने सन् १९०२ ई० में 'माटेरियालिएन त्सुर कैंटनिस डेस अपभ्रंश' नामक पुस्तक प्राकृत व्याकरण के परिशिष्ट-रूप में प्रकाशित कराया। इसमें हेमचंद्रकृत प्राकृत-व्याकरण के सभी मुक्तकों के अतिरिक्त पैंतीस पद्य और हैं। उन पैंतीस पद्यों में से एक चंडकृत प्राकृत-व्याकरण से, एक ध्वन्यालोक से, अठारह 'सरस्वती कंठाभरण' से, और पंद्रह विक्रमोर्वशीय से लिए गए हैं। सपूर्ण सामग्री व्याकरणिक टिप्पणियों और संक्षिप्त व्याख्याओं के साथ प्रस्तुत की गई है। इस सग्रह ने भारतीय और योरोपीय विद्वानों का ध्यान अपभ्रंश भाषा के विपुल काव्य-सौंदर्य और भाषावैज्ञानिक महत्व की ओर आकृष्ट किया। यह प्राकृतव्याकरण १९२८ ई० में पुनः डा० पी० एल० वैद्य द्वारा संपादित होकर पूना से प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत प्रबंध में इसी संस्करण का उपयोग किया गया है।

अपभ्रंश भाषा का मुक्तक-साहित्य

इसके पश्चात जर्मनी के ही एक विद्वान डा० हर्मन याकोबी ने 'भविस्सयत्त कहा' के अनुसधान और संपादन द्वारा दूसरा महत्वपूर्ण प्रयत्न किया। बाद में चलकर स्व० श्री सी० डी० दलाल ने इस पुस्तक का संपादन आरंभ किया पर १९१८ में उनका अचानक देहावसान हो जाने के कारण स्वर्गीय श्री पांडुरंग गुणे ने इस कार्य को सन् १९२३ ई० में पूरा किया। यह प्रबंधरचना है इसलिए यहाँ पर केवल श्री गुणे लिखित भूमिका मात्र का उपयोग किया गया है। बाद में बड़ौदा के महाराज सर सयाजी गायकवाड़ के आदेश से

सन् १९१४ ई० में श्री दलाल ने पाटण के जैन-ग्रंथ-भाडार के शोध और उसकी परीक्षा से कई अपभ्रश रचनाओं का पता लगाया। इनमें मुख्य ये हैं—सदेशरासक, वज्रस्वामीरास, अन्तरग सधि, चौरग सधि, सुलसाख्यान, चच्चरी, भावनासार, परमात्मप्रकाश, आराधना, नमयासुदरि सधि, भविस्सयत कहा, पउमिसिरि चरिउ इत्यादि।[1] इन पुस्तकों में से सदेश-रासक श्रृंगारिक प्रबध-मुक्तक, चचरी लोकगीतात्मक धार्मिक मुक्तक सकलन, भावनासार और परमात्मप्रकाश जैन रहस्य-दर्शन-व्यापक मुक्तक-सग्रह है, और शेप प्रबंध हैं। इन रचनाओं को अलग अलग विद्वानों ने सपादित किया।

इसके पश्चात् सन् १९२० ई० में सुप्रसिद्ध विद्वान मुनि जिनविजय जी के प्रयत्नों के फलस्वरूप, गायकवाड ओरियंटल सीरीज से सोमप्रभाचार्य कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध' का प्रकाशन हुआ। इसमें गद्य-पद्य में सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल की जैन धर्म मान्यता से सबधित बातें, प्राय गुरुशिष्य-सवाद-शैली में बडे विस्तार से कही गई हैं। मुक्तक की दृष्टि से इसका केवल यही महत्व है कि इसमें कहीं कहीं अनन्य सुदर दोहे पूर्वापर निरपेक्ष रूप से आए हैं जिनका प्रस्तुत प्रबध में उपयोग किया गया है। इसी समय श्री सी० डी० दलाल के संपादकत्व में गा० ओ० सीरीज—से 'प्राचीन गुर्जर-काव्य-सग्रह' का प्रकाशन गुजराती भापा में हुआ। इस ग्रथ में संकलित स्फुट अपभ्रंश रचनाओं का उपयोग काव्यरूप और छद वाले अध्याय में हुआ है।

जैन-साहित्य का एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रकाशन 'अपभ्रश काव्यत्रयी' का है। इस पुस्तक को सन् १९३७ में श्री लालचद्र भगवानदास गाधी ने संस्कृत-भापा में सपादित किया और यह भी गायकवाड ओरियंटल सीरीज में प्रकाशित हुई है। इसमें जिनदत्त सूरि कृत चर्चरी, उपदेशरसायनरास, कालस्वरूप कुलक, तीन मुक्तक-काव्यों का सकलन हुआ है। ये रचनाएँ जैसलमेर भाडारागार में प्राप्त हुई थीं। इनका रचनाकाल १२ शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इन मुक्तकों का उपयोग वस्तु-परीक्षण और काव्यरूप-विवेचन दोनों में किया गया है।

छ वर्ष बाद सन् १९३३ ई० में सिंघी जैन ग्रथमाला में श्री मेरुतुगाचार्य विरचित प्रबध-चिंतामणि नामक गद्य-पद्य-मिश्रित विविध-वृत्त-व्यापक ग्रथ मुनि जिनविजय जी के सपादन में प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक को

१—मोटे अक्षरों मे छपी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

अपभ्रंश-रचनाओं की भी सहायता प्रस्तुत प्रबंध में ली गई है। विचारदर्शन, कथन-शैली, काव्यरूप सभी दृष्टियों से यह संकलन विशेष महत्वपूर्ण है।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त संत-काव्यधारा को समझने के लिए अपभ्रंश ग्रंथों के अतिरिक्त हिंदी ग्रंथों में डा० श्यामसुंदर दास द्वारा संपादित कबीर-ग्रंथावली, डा० रामकुमार वर्मा द्वारा संपादित संत कबीर, तथा अन्य संकलनों में संतबानी संग्रह, गुरुग्रंथसाहब आदि का उपयोग किया गया है।

हिंदी भाषा का मुक्तक-साहित्य

शृंगारिक काव्यधारा का अध्ययन करने के लिए अपभ्रंश काव्यों के अतिरिक्त मुख्य रूप से 'विद्यापति-पदावली', 'सूर-सागर' और डा० श्यामसुंदर दास द्वारा संपादित 'सतसई-सप्तक' की बिहारी, मतिराम, रसनिधि, राम सहाय की सतसइयों का उपयोग किया गया है। पूर्वापर संबंध को समझने के लिए आचार्य केशव की कविप्रिया और रसिकप्रिया का भी अध्ययन आवश्यक समझा गया है। इसके अतिरिक्त राजस्थानी के 'ढोला मारू रा दूहा' का भी इस काव्य में विशेष उपयोग हुआ है क्यों कि "इस पुस्तक को हेमचंद्र के व्याकरण में प्राप्त दोहों और बिहारी सतसई के बीच की कड़ी समझा जा सकता है। यद्यपि यह गीतिकाव्य के रूप में प्राप्त है और इसमें एक पूरी कथा है तथापि यह मुक्तकों के संग्रह के साथ आसानी से तुलनीय हो सकती है।"[1]

वीररसात्मक मुक्तक काव्यधारा का अध्ययन करने के लिए अपभ्रंश मुक्तकों के अतिरिक्त पं० मोतीलाल मेनारिया द्वारा संपादित 'डिंगल में वीर रस' और 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' को विशेष उपजीव्य बनाया गया है। डा० उदयनारायण तिवारी द्वारा सपादित 'वीर-काव्य-संग्रह' से भी सहायता ली गई है। हिंदी की पिंगल शाखा के वीररसात्मक मुक्तकों के अध्ययन के लिए प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'भूषण' का भी उपयोग हुआ है।

नीतिपरक मुक्तकों के अध्ययन में, अपभ्रंश-मुक्तकों के अतिरिक्त, तुलसी सतसई, दोहावली, रहिमन विलास, वृंद सतसई, दीनदयाल गिरि-ग्रंथावली का विशेष उपयोग किया गया है। यों शृंगारिक सप्तशतियों में यत्र तत्र प्राप्त नीतिपरक मुक्तकों को भी दृष्टि में रखा गया है।

१—हिंदी-साहित्य का आदिकाल, ले०—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६।

अपभ्रंश-रचनाओं की भी सहायता प्रस्तुत प्रबंध में ली गई है। विचारदर्शन, कथन-शैली, काव्यरूप सभी दृष्टियों से यह संकलन विशेष महत्वपूर्ण है।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त संत-काव्यधारा को समझने के लिए अपभ्रंश ग्रंथो के अतिरिक्त हिंदी ग्रंथों में डा० श्यामसुंदर दास द्वारा संपादित कबीर-ग्रंथावली, डा० रामकुमार वर्मा द्वारा संपादित संत कबीर, तथा अन्य संकलनों में संतबानी-संग्रह, गुरुग्रंथसाहब आदि का उपयोग किया गया है।

शृंगारिक काव्यधारा का अध्ययन करने के लिए अपभ्रंश काव्यों के अतिरिक्त मुख्य रूप से 'विद्यापति-पदावली', 'सूर-सागर' और डा० श्यामसुदर दास द्वारा संपादित 'सतसई-सप्तक' की बिहारी, मतिराम, रसनिधि, राम सहाय की सतसइयों का उपयोग किया गया है। पूर्वापर संबंध को समझने के लिए आचार्य केशव की कविप्रिया और रसिकप्रिया का भी अध्ययन आवश्यक समझा गया है। इसके अतिरिक्त राजस्थानी के 'ढोला मारू रा दूहा' का भी इस काव्य में विशेष उपयोग हुआ है क्यो कि "इस पुस्तक को हेमचंद्र के व्याकरण में प्राप्त दोहों और बिहारी सतसई के बीच की कड़ी समझा जा सकता है। यद्यपि यह गीतिकाव्य के रूप में प्राप्त है और इसमें एक पूरी कथा है तथापि यह मुक्तकों के संग्रह के साथ आसानी से तुलनीय हो सकती है।"[1]

वीररसात्मक मुक्तक काव्यधारा का अध्ययन करने के लिए अपभ्रंश मुक्तकों के अतिरिक्त पं० मोतीलाल मेनारिया द्वारा संपादित 'डिंगल में वीर रस' और 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' को विशेष उपजीव्य बनाया गया है। डा० उदयनारायण तिवारी द्वारा संपादित 'वीर-काव्य-संग्रह' से भी सहायता ली गई है। हिंदी की पिंगल शाखा के वीररसात्मक मुक्तकों के अध्ययन के लिए पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'भूषण' का भी उपयोग हुआ है।

नीतिपरक मुक्तकों के अध्ययन में, अपभ्रंश-मुक्तकों के अतिरिक्त, तुलसी सतसई, दोहावली, रहिमन विलास, वृंद सतसई, दीनदयाल गिरि-ग्रंथावली का विशेष उपयोग किया गया है। यों शृंगारिक सप्तशतियों में यत्र तत्र प्राप्त नीतिपरक मुक्तकों को भी दृष्टि में रखा गया है।

१—हिंदी-साहित्य का आदिकाल, ले०—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६।

अपभ्रंश की पुस्तकों का तो बाद में पता चला लेकिन हिंदी मुक्तक ग्रंथों का परिचय विद्वानों को परपरा से प्राप्त था। अपभ्रश से हिंदी की काव्य-परपरा का संबंध-निरूपण वहुत बाद में जाकर किया गया। सवसे पहले अपभ्रश और हिंदी के धार्मिक काव्य के सबंध-निरूपण की ओर कुछ विद्वानों की दृष्टि गई। सन् १९३३ ई० में पहली बार पं० राहुल सांकृत्यायन ने बौद्ध सिद्धों का सबध संत कवियों से जोड़ा।[1] इसके पूर्व सन् १९३० में डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने सतों का सबंध नाथों से स्थापित किया था।[2] किंतु इनके वास्तविक सबध-स्थापन का कार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और डा० रामकुमार वर्मा ने किया। डा० द्विवेदी ने अपनी हिंदी-साहित्य की भूमिका में सन् १९४० ई० के आस-पास लिखा—"यदि कबीर आदि निर्गुणमतवादी सतों की वाणियों की वाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह संपूर्णत. भारतीय है और बौद्ध धर्म के अतिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा सबध है। वे ही पद, वे ही राग-रागिनिया, वे ही दोहे, वे ही चौपाइया कबीर आदि ने व्यवहार की हैं जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती सतों ने की थी। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्गदर्शक हैं। कबीर की ही भाति ये साधक नाना मतों का खडन करते थे, सहज और शून्य में समाधि लगाने को कहते थे, दोहों में गुरु के ऊपर भक्ति करने का उपदेश देते थे। इन दोहों में गुरु को बुद्ध से भी बड़ा बताया गया है और ऐसे भाव कबीर में भी आसानी से मिल सकते है जहा गुरु को गोविंद के समान ही वताया गया है। सदगुरु शब्द सहजयानियो, वज्रयानियों, तान्त्रिकों, नाथपथियों में समान भाव से समादृत है[3]।" इस तथ्य को घोषित करने वाले आरभिक लोगों में डा० रामकुमार वर्मा का भी नाम आता है।

अपभ्रंश और हिंदी की मुक्तक-रचनाओं का पारस्परिक सबंध

१—हिंदी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ, गगापुरातत्वाक सन् १९३३ ई०, पृ० २४३-४४।

२—हिंदी-कविता में योग-प्रवाह, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ११ अक ४, स० १९८७ वि०।

३—हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ३१।

उन्होंने अपने हिंदी-साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में लिखा है कि "गोरखनाथ का मत सिद्धों के वज्रयान का विकसित रूप माना गया है। इस नाथपंथ में हठयोग का प्रधान स्थान है और इसी ने कबीर के निर्गुण-पंथ का बहुत कुछ साधन-रूप निर्धारित किया। इस प्रकार नाथपंथ को हम सिद्धयुग और संतयुग के बीच की अवस्था मान सकते हैं[1]।"

किंतु यह सारी संबध-योजना धार्मिक कविता से ही सबद्ध थी। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पहले व्यक्ति है जिन्होंने क्रमशः अपने 'हिंदी-साहित्य की भूमिका', 'हिंदी-साहित्य का आदिकाल,' और 'हिंदी-साहित्य' में हिंदी के शृंगारिक, नीतिपरक, वीररसात्मक काव्यों और काव्यरूपों का अपभ्रंश से विकास दिखलाया। हिंदी-साहित्य नामक अपने नवीनतम इतिहास-ग्रंथ में डा० द्विवेदी ने अत्यंत स्पष्ट रूप में पृथक-पृथक इन संबंधों का निर्देश किया है[2]।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है प्रस्तुत प्रबंध में हिंदी के संपूर्ण मध्यकालीन मुक्तकों (आरंभ से रीतिकाल तक) की वस्तुगत और रूपगत रूढ़ियों का विकास दिखाना अभिप्रेत है। सैद्धांतिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने के लिए सर्वप्रथम मुक्तक-काव्य की परिभाषा और उसका वर्गीकरण करने का प्रयत्न हुआ है। यह कार्य संस्कृत-काव्यशास्त्रियों के मतों, नवीन मतों तथा रचित मुक्तक-साहित्य को दृष्टि में रखकर वैज्ञानिक प्रणाली को अपनाते हुए किया गया है।

विषय की सीमा और विवेचनगत उपलब्धियाँ

हिंदी के मध्यकालीन मुक्तकों के वस्तुतत्व और रूपतत्व को आरंभिक पीठिका तैयार करने वाले अपभ्रंश-मुक्तकों का आरंभिक ज्ञात समय आठवीं शताब्दी[3]

१—हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १३५।

२—हिंदी-साहित्य, पृ० १४–१५।

३—प्रो० हीरालाल जैन के अनुसार सस्कृत नाटको में अश्वघोषकृत 'शारी पुत्र प्रकरण' (दूसरी शताब्दी), भासकृत 'पचरात्र' (चौथी शताब्दी), मुद्राराक्षस (४०० ई०) में ही अपभ्रंश भाषा-रचना की प्रवृत्तियाँ मिलने लगती हैं। डा० ए० एन० उपाध्ये के मत से अपभ्रंश की मुक्तक रचनाएँ निश्चित रूप से चौथी शताब्दी में कालिदास द्वारा 'विक्रमोर्वशीय' मे लिखी गयीं (Introduction to Paramatma Prakash P. P. 56) लेकिन तब भी साहित्यिक परपरा और स्पष्ट भाषा-रचना की प्रवृत्ति की दृष्टि से सरह के दोहे ही अपभ्रंश की आरंभिक रचनाएँ मानी जाएंगी।

अर्थात् सरह का रचनाकाल है और अपभ्रंश-प्रभावित हिंदी मुक्तकों का निम्नतम समय रीतिकाल का अंत है[1]। इसप्रकार लगभग ईसा की आठवीं शताब्दी से लेकर १९वीं शताब्दी तक का मुक्तक काव्य हमारे अध्ययन का विषय हो गया है। इन दस-ग्यारह शताब्दियों के अपभ्रंश-मुक्तकों में प्रवहमान भावधारा रीतिकाल तक पहुंचते-पहुचते, अनेक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक साहित्यिक, भाषागत कारणों से भिन्न प्रतीत होने लगती है। विकास-क्रम को वैज्ञानिक ढग से समझने के लिए आवश्यक जान पड़ा है कि मध्यकाल के साहित्य को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों का विधिवत विवेचन कर दिया जाय। इस प्रसग में संपूर्ण भारतीय काव्यधारा को प्रभावित करने वाले कुछ मूल प्राचीन ग्रंथों तक जाने के लिए मध्यकाल से पूर्व की भी परिस्थितियों का विवेचन करना पड़ा है।

विकास-क्रम की सपूर्ण पृष्ठभूमि पर अपभ्रश मुक्तकों का हिंदी-साहित्य में विकास दिखाते हुए भावधारा की दृष्टि से मुक्तकों के कई क्षेत्र दिखलाई पड़े उनमें से मुख्यतया शृगारिक, धर्माश्रित, वीररसात्मक, नीतिपरक मुक्तकों के अंतर्गत संपूर्ण काव्यधारा का विकासात्मक परिशीलन किया गया है। अत में अपभ्रश और हिंदी के मुक्तक छंदों और काव्यरूपों का, मूल-शोधन और विकास-विश्लेषण किया गया है।

इस विषय के विवेचन में कुछ ऐसी बातें हैं जिनका विशेष ध्यान रखा गया है और जिनके कारण कुछ नवीन उपलब्धियां भी सामने आयी हैं। सपूर्ण वस्तु-विवेचन में काव्य-वस्तु को केवल मनोरजन करने वाले काव्य के रूप में ही नहीं देखा गया है वरन उसको समसामयिक लोकजीवन को चित्रित और गतिशील करने वाले जीवंत काव्य-प्रवाह के रूप में देखा गया है। अपभ्रंश और हिंदी के मुक्तकों को मूलतः लोक-भाषा-काव्य मानकर इसकी काव्य-प्रवृत्ति का विश्लेषण करने के लिए न केवल प्राकृत गाथा-सप्तशती तक वरन पालि-काव्यों तक जाने का प्रयास किया गया है। इससे लोकभाषा-काव्य का शक्तिशाली और पारंपरिक प्रवाह और भी स्पष्ट रूप में दिखलाई पड़ता है।

अपभ्रश काव्य लोकभाषा काव्य है। इसलिए उसमें शृगार-शास्त्रीय काव्य-रूढ़िया कम आयी हैं और लोकगीतों की शृगाराभिव्यक्ति सबधी रूढ़िया विशेष प्रस्फुट हुई हैं। इसलिए शास्त्र-रूढ़ियों के विकास के साथ-साथ इन

१—रीतिकाल के बाद भी हिंदी में मुक्तक लिखे गए पर उनका प्रमुख प्रेरणा स्रोत पाश्चात्य 'लिरिक' कविता हो गई।

लोकरूढ़ियों-के दस सौ वर्षों की यात्रा को समझने और विश्लिष्ट करने का क्रमबद्ध प्रयास किया गया है।

धार्मिक काव्य के प्रसग में सहजयानी सिद्धों, तांत्रिकों, जैन साधुओं, नाथपंथियों, संतों को समान महत्त्व दिया गया है। इस दृष्टिकोण के कारण संतकाव्य में आए हुए तत्वदर्शन और रूपगत प्रत्येक रूढ़ि को, उसके विकासशील रूप में समझने का प्रयत्न किया गया है। इन सभी धर्म-संप्रदायों के मौलिक सिद्धांतों, साधना-तत्वों, सामाजिक संबंधों का विकास-विश्लेषण किया गया है। इस क्रिया में आज तक की सारी उपलब्धियां तो स्पष्ट हुई ही हैं कुछ नई बातें भी ज्ञात हुई हैं।

वीररसात्मक मुक्तकों के विवेचन में आवश्यक समझा गया है कि संक्षेप में अपभ्रंश-पूर्व वीरता और उसकी काव्याभिव्यक्ति के स्वरूप को समझ लिया जाय। अपभ्रंश-काव्य में उस वीरता का विशिष्ट युग-परिस्थितियों के प्रभाव से कैसा रूप-परिवर्तन हुआ और मुक्तक-काव्य-विधा में उसकी कैसी अभिव्यक्ति हुई, इसे समझने का प्रयास किया गया है। अध्ययन के प्रसंग में यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हुआ है कि अपभ्रंश वीररसात्मक मुक्तकों का केवल हिंदी की डिंगल शाखा में विकास हुआ पिंगल शाखा में नहीं। संक्षेप में यह भी दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि पिंगल शाखा की वीररसात्मक मनोवृत्ति किन किन तत्वों से चालित हो रही थी।

नीतिपरक मुक्तकों को व्यक्ति के परिस्थिति-सापेक्ष आचारों से संबंधित तत्वदर्शन की अभिव्यक्ति मान कर इस विषय का अध्ययन किया गया है। इस मान्यता के कारण दस सौ वर्षों के नीतिकाव्य के परिशीलन के प्रसंग में सामाजिक व्यक्ति के आचारिक मूल्यों के विकास का अनुशीलन भी संभव हो गया है। नीति काव्यों की अभिव्यंजना-शैली पर भी थोड़ा प्रकाश डालना उचित समझा गया है।

छंदों और काव्यरूपों के विकास के परिशीलन में अपभ्रंश के उन मुक्तक छंदों पर विशेषतया ध्यान केंद्रित किया गया है जिनका हिंदी में यथावत् या किंचित् परिवर्तित रूप में विकास हुआ है। पदों आदि की शिल्पगत रूढ़ियों का स्रोत बौद्ध पालि ग्रंथों तक खोजा गया है।

इस तरह यह निबंध मुक्तक-काव्य के क्षेत्र में शोध-संबंधी एक नई दिशा में पदार्पण का लघु-प्रयास है।

'मुक्तक-काव्य का स्वरूप'

मध्यकालीन हिंदी मुक्तक काव्य तथा उसकी पूर्ववर्ती परंपरा का संबंध निर्धारित करने के पूर्व यह आवश्यक है कि मुक्तककाव्य के स्वरूप के संबंध में विचार कर लिया जाय।

मुक्त शब्द में कन् प्रत्यय के योग से उसी अर्थ में मुक्तक शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है अपने आप में संपूर्ण अन्यनिरपेक्ष मुक्त वस्तु।[1] इसी मूल अर्थ से मिलती-जुलती परिभाषाएं काव्यशास्त्राचार्यों ने भी की हैं। मुक्तक का उल्लेख आचार्य दंडी ने अपने काव्यादर्श में किया है।[2] काव्यादर्श के प्राचीन टीकाकार तरुण वाचस्पति ने अपनी टीका में मुक्तक का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है 'मुक्तक एक ऐसा सुभाषित होता है जो इतर की अपेक्षा नहीं रखता।'[3] काव्यादर्श की ही दूसरी टीका हृदयंगम के अनुसार 'मुक्तक वह श्लोक है जो वाक्यांतर की अपेक्षा न रखता हो।[4] आचार्य आनंद-वर्द्धन ने 'ध्वन्यालोक' में काव्य-प्रभेदों की परिगणना करने के बाद मुक्तक के स्वरूप की व्याख्या करते हुए लिखा है—मुक्तकों में रस-निबंधन में आग्रह-शील कवि के लिए रसाश्रित औचित्य नियामक तत्व है। प्रबंध के समान मुक्तकों में भी रस का अभिनिवेश करने वाले कवि पाये जाते हैं।'[5] ध्वन्यालोक के प्रसिद्ध टीकाकार अभिनवगुप्त के अनुसार मुक्तक अन्य से अनालिंगित होता है। इस कथन के द्वारा प्रबंध के मध्य में स्वतंत्र रूप से स्थित, परिसमाप्त तथा पूर्वा-पर से निराकांक्ष अर्थ वाला काव्य मुक्तक नहीं कहा जा सकता।

१—तृतीयोद्योत लोचनम्।

२—मुक्तक कुलकं कोशः संघातः इति तादृशः। १।१३

३—मुक्तकमितरानपेक्षमेकं सुभाषितम्।

४—मुक्तकं वाक्यान्तर निरपेक्षो यः श्लोकः।
काव्यादर्श Edited by M. Rangacharya, 1910, Madras.

५—तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्।
तत्र मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यंते।
तृतीयोद्योत—ध्वन्यालोक

कभी कभी प्रबंध में भी मुक्तक विकल्प के द्वारा मान सकते हैं क्योंकि पूर्वा-पर निरपेक्ष जिस काव्य से रस चर्वणा होती है वही मुक्तक है।[1] दसवीं शताब्दी के आस-पास[2] रचित अग्निपुराण के अनुसार 'चमत्कारक्षम' एक ही श्लोक को मुक्तक कहते हैं।[3] १२ वीं शताब्दी के[4] प्राकृत और अपभ्रंश के प्रसिद्ध वैय्याकरण तथा काव्यशास्त्री हेमचंद्र के मतानुकूल 'मुक्तकादि अनिबद्ध होते हैं।'[5] वाग्भट्ट द्वितीय के अनुसार 'एक छद मुक्तक कहा जाता है।'[6]

इन परिभाषाओं में मुख्यतया मुक्तक के चार पक्ष सामने आते हैं—१—अन्यनिरपेक्ष हो, २—अनिबद्ध हो (कथाबध रहित हो), ३—एक छद हो और ४—रसचवर्ण कराने में सहायक हो अथवा चमत्कारक्षम हो। पूर्वापर निरपेक्षता, आदि गुण मुक्तक के रूपात्मक पक्ष का पूर्ण निरूपण करते हैं लेकिन मुक्तक होने के लिए एक छंद की अनिवार्यता ठीक नहीं। जहाँ तक रसचर्वणा और चमत्कारक्षमता की बात है—यह कवि की काव्य-शक्ति पर निर्भर करता है। आधुनिक काल के आलोचक आचार्य रामचद्र शुक्ल के अनुसार "मुक्तक में प्रबध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसग की परिस्थिति में भूला हुआ पाठक निमग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिससे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबध-काव्य विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा सघटित पूर्ण जीवन का या उसके किसी अग

१—मुक्तकमन्येनानालिंगितम्। तेन स्वतत्रतया परिसमाप्तनिराकाङ्क्षार्थमपि प्रबधमध्यवर्ति न मुक्तकमित्युच्यते।" यदि वा प्रबन्धेपि मुक्तकस्यास्तु सद्भावः, पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।

—तृतीयोद्योत लोचनम्

२—History of Sanskrit Literature—by S. N. Dasgupta and S. K. De. P.P. 539.

३—मुक्तक श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।

४—History or Sans Lit—By Dasgupta & De P. P 560

५—अनिबद्ध मुक्तकादि—८।१० काव्यानुशासन (हेमचद्र)

६—तत्रैकेन छन्दसा मुक्तम्। काव्यानुशासन (वाग्भट्)

का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि कोई एक रमणीय खंड दृश्य सहसा सामने ला दिया जाता है।"[1] इसमें मुक्तक और प्रबंध का भेद दिखाते हुए मुक्तक के निम्न तत्वों पर विशेष बल दिया गया है।

१—एक रमणीय मार्मिक खंड दृश्य का सहसा आनयन

२—चयन, संयम और मंडन की प्रवृत्ति

३—कुछ क्षणों के लिए चमत्कृत कर देने वाला प्रभाव।

इन संपूर्ण मतों का विमर्श करके यह परिभाषा बनाई जा सकती है। मुक्तक पूर्व और पर से निरपेक्ष, मार्मिक खंडदृश्य अथवा संवेदना को उपस्थित करने वाली वह रचना है जिसमें नैरन्तर्यपूर्ण कथा-प्रवाह नहीं होता, जिसका प्रभाव सूक्ष्म अधिक व्यापक कम होता है तथा जो स्वयंपूर्ण अर्थभूमि संपन्न अपेक्षाकृत लघु रचना होती है।

मुक्तक का वर्गीकरण

प्राचीन काव्यशास्त्रियों में दंडी, आनंदवर्द्धन, अग्निपुराणकार, हेमचंद्र, वाग्भट, विश्वनाथ आदि प्रायः सभी शास्त्रकार मुक्तकजातीय छंदों का संख्या-मूलक वर्गीकरण करते हैं। ९ वीं शताब्दी के अंतिम चरण और १० वीं शताब्दी के प्रथम चरण में[2] हुए राजशेखर मात्र मुक्तककाव्य का विषय-वस्तुपरक और वर्णनशैलीमूलक वर्गीकरण करते हैं। संख्यामूलक वर्गीकरण करने वाले आचार्यों के प्रमुख भेद ये हैः—१—मुक्तक, २—युग्मक या संदानितक, ३—विशेषक, ४—कलापक, ५—कुलक, ६—कोष, ७—संघात या पर्यायबंध। मुक्तक की छंद-संख्या एक, युग्मक या संदानितक की दो, विशेषक की तीन कलापक की चार मानी गई है। 'कुलक' की छंद-संख्या पर किंचित मतभेद है। काव्यादर्श के प्राचीन व्याख्याकार ने कुलक को एक क्रिया की अन्विति से पूर्ण पांच या छः की संख्या दी है[3]। अग्निपुराणकार का भी यही मत है[4]।

१—हिंदी-साहित्य का इतिहास पृ० २७५।

२—काव्य मीमांसा, सी० डी० दलाल और आर० ए० शास्त्री द्वारा संपादित, सेंट्रल लायब्रेरी, बरौदा, Itroduction P. P. XV. 1916.

३—कुलकम् एकक्रियान्वितानि पंचपाणि पद्यानि।—तरुणवाचस्पति; काव्यादर्श।

४—पंचभिः कुलकं मतम्। अग्निपुराण।

किंतु वाग्भट कुलक की छंद-संख्या बारह बताते हैं[१]। लेकिन हेमचंद्र ने पाँच से चौदह के बीच की किसी भी संख्या वाले छंदों को कुलक कहकर सर्वोत्तम निर्णय दे दिया है[२]। कोष के स्वरूप पर दंडी,[३] हेमचंद्र,[४] विश्वनाथ[५] सभी एकमत हैं। इन सब का मत है कि नाना कृतिकारों द्वारा रचित मुक्तकों के समूह को कोष कहते है। अंतिम शब्द संघात या पर्यायबंध है। संघात शब्द का प्रयोग दंडी ने काव्यादर्श में किया है[६]। उसकी व्याख्या में तरुणवाचस्पति ने लिखा है कि एक व्यक्ति द्वारा निर्मित एकार्थ-विषयक पद्य संघात कहलायेगा[७]। लगभग इसी अर्थ में आनंदवर्द्धन ने पर्यायबंध को लिया है[८]। आगे चलकर संघात शब्द को अधिक व्यापक अर्थ में तथा पर्यायबंध को किंचित् संकुचित अर्थ में लिया जायगा। ऊपर राज-शेखर का उल्लेख हुआ है। यायावरीय राजशेखर के मतानुसार मुक्तक काव्यगत अर्थ और प्रबंधकाव्यगत अर्थ पाँच प्रकार के होते हैं:—१—शुद्ध, २—चित्र, ३—कथोत्थ, ४—संविधानकभू, ५—आख्यानकवान। इतिवृत्त या इतिहास से रहित अर्थ शुद्ध है। उसे विस्तार के साथ विस्तृत करना चित्र है। प्राचीन कथा या इतिहासयुक्त अर्थ कथोत्थ है। जिसमें घटना संभावित हो, उसे संविधानक भू कहते हैं और जिसमें इतिहास की कल्पना की जाय, उसे आख्या-नकवान कहते हैं।[९] यह वर्गीकरण विषयवस्तुमूलक होने के कारण संस्कृत साहित्यशास्त्रियों की परंपरा में अद्वितीय है। आगे चलकर इस वर्गीकरण का विशेष उपयोग किया जायेगा।

१—द्वादशान्ते कुलकम्।—वाग्भट्ट।

२—पंचादिभिश्चतुर्दशांते कुलकम्। ८।१२—काव्यानुशासन।

३—कोशोनानाकर्तृक. सुभाषित रत्नसमुदयः।

४—स्वपरकृत सूक्ति समुच्चय. कोश.।

५—कोशः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः।

६—१।१३—काव्यादर्श।

७—सङ्घातः एकार्थविषय. एककर्तृक पद्य. सङ्घातः।

८—ध्वन्यालोक ३।७

९—स पुनर्द्विधा। मुक्तकप्रबंध विषयत्वेन। तावपि प्रत्येकं पञ्चधा। शुद्धः, चित्रः, कथोत्थ, संविधानक भूः, आख्यानकवाश्च। तत्र मुक्तेतिवृत्तः शुद्धः। स एव सप्रपञ्चश्चित्रः। वृत्तेतिवृत्तः कथोत्थः। सम्भावितेतिवृत्त संविधानकभूः परिकल्पितेतिवृत्तः आख्यानकवान। काव्यमीमांसा, राजशेखर, नवमोध्यायः।

पाश्चात्य साहित्य में ठीक मुक्तक जैसी कोई चीज़ नहीं मिलती। आरंभिक ग्रीक-साहित्य में काव्य के दो प्रकार के व्यापक भेद मिलते हैं। [१] मेलिक या लिरिक कविता जिसमें लायर नाम के वाजे के साथ व्यक्ति-गायक के भावो की अभिव्यक्ति होती थी, तथा [२] कोरिक कविता जो कि नृत्य-वाद्य के साथ सामूहिक रूप से सामूहिक भावना की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होती थी।[१] सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ नृत्य और वाद्य, काव्य-क्षेत्र से पृथक होते गए। सामूहिक रूप से आनंद इत्यादि के अवसरों पर जो गान होते थे उनमें कथाएँ भी होती थीं। कलांतर में वे कथाएँ भी पृथक होकर विकसनशील महाकाव्य (एपिक आव ग्रोथ), कलात्मक महाकाव्य (एपिक आव आर्ट) कथाख्यायिका, पुराण (मिथ) आदि साहित्य-रूपों में वदल गईं। ऊपर निर्दिष्ट व्यक्तिगायक की लायर पर गाई जाने वाली एकांत कविता भी कालांतर में व्यक्तितत्व और कला-तत्व के विकास के साथ साथ आधुनिक लिरिक कविता के निकट आती गई। यहाँ पर मुक्तक का समशील यह 'लिरिक' ही विवेच्य है। पाश्चात्य-साहित्य में इस लिरिक कविता के, प्रेरक वृत्ति की दृष्टि से, दो भेद किए गए हैं—१—चिंतनात्मक (रेफ्लेक्टिव), २—भावात्मक (इमोशनल) चिंतनात्मक के भीतर ही उपदेशात्मक (डिडेक्टिव) लिरिक आ जाते हैं। मानसिक वृत्ति और आकार की दृष्टि से इस प्रगीत-मुक्तक के, प्रेमगीत (लव लिरिक) व्यंग्य गीत (सटायरिकल लिरिक), वीर गीति (वैलेड), नृत्यगीत (कोरस), गोचारणगीत (पेस्टोरल सॉग), शोक गीत (एलेजी), संबोध गीत (ओड), आदि विभिन्न भेद हैं। हिंदी के मध्यकालीन पद-साहित्य में लिरिक कविता के अनेक गुण मिल जाते हैं और आधुनिक कविता

१—The Greeks were accustomed to devide their song into two great classes: melic or lyric poetry, which was the expression of an individual singer's emotion to the accompaniment of the lyre, and choric poetry which represented some strong communal feeling and was composed for choral singing, supplemented by instrumental harmony and possibly appropriate dance-movements.—The Typical Forms of English Literature. Alfred H. Upham. Oxford University press. 1927. P. 38.

पर तो प्रगीत-तत्वों का व्यापक प्रभाव पड़ा ही है। गेय-तत्व-प्रधान और व्यक्तिगत भावापन्न प्रगीत मुक्तकों को छोड़कर भारतीय लघु छदवद्ध मुक्तकों की तरह भी--जिनमें वस्तुतत्व की प्रधानता वर्ज्य नहीं है—मुक्तक के रूप अग्रेजी में मिलते है। कपलेट, क्वाटरेट, हेक्सामीटर, हेक्टामीटर, सानेट आदि कुछ अग्रेजी छद भारतीय मुक्तक की तरह पूर्वापर-निरपेक्ष रूप मे प्रयुक्त होते हैं। उनके लिए लिरिक की तरह किसी अलग शब्द का व्यवहार नहीं हुआ है। किंतु ये सभी मुक्तक-काव्य के ही पाश्चात्य रूप हैं इनमें सानेट सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ है और प्राचीन रोमन साहित्य से लेकर आधुनिक पाश्चात्य भाषाओं के साहित्य तक इस मुक्तक काव्यरूप का अत्यधिक सम्मान हुआ है।
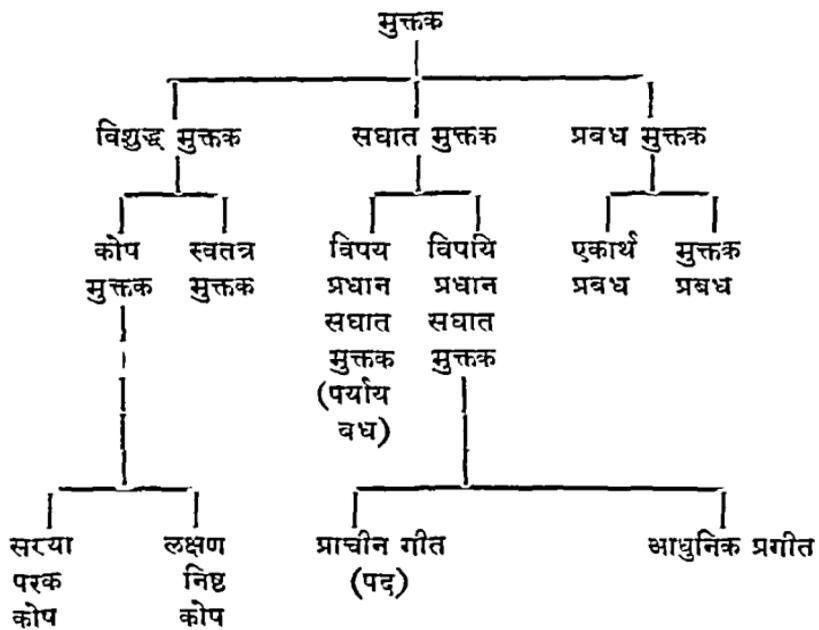
विशुद्ध मुक्तक—विशुद्ध मुक्तक वे मुक्तक होते हैं जिनमें एक बात एक ही छद में कह दी जाय। इन्हे विशिष्ट छदमूलक मुक्तक भी कह सकते हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र में इन छदमूलक मुक्तकों का विशेष विचार हुआ है। सस्कृत का श्लोक, प्राकृत की गाथा, अपभ्रश का दूहा, हिंदी का दोहा, कवित्त और सवैया आदि इन भाषाओं के मुक्तक-साहित्य के प्रतिनिधि छद बन गए हैं। इन विशुद्ध मुक्तकों में प्रायः दो प्रकार के छद मिलते हैं। एक तो वे

जो प्रायः द्विपंक्तिवद्ध होते है दूसरे वे जो विस्तृत छंद वाले होते हैं। द्विपंक्तिवद्धता की स्थिति में स्वरकंप मंद रहता है और पाठ्य-प्रधानता बनी रहती है परंतु विस्तृत छंदों में विस्तार-क्रम की वृद्धि के साथ साथ स्वरकप वढ़ता जाता है और साथ ही साथ गेयतत्त्व की प्रधानता भी। यही कारण है कि जब हम दोहे को पर्याप्त सुविधा के साथ नहीं गा सकते हैं तो सवैया और कवित्त को पर्याप्त सुविधा के साथ गा सकते हैं। ये विशुद्ध मुक्तक दो प्रकार के होते हैं। प्रथम कोष मुक्तक, द्वितीय स्वतंत्र मुक्तक। कोष की परिभाषा करते हुए प्राचीनों ने कहा है स्वरचित और परकृत सुंदर उक्तियों के समुच्चय को कोष कहा जाता है।[1] स्वतंत्र मुक्तक वे हैं जो स्व और पर कृत तो हो सकते हैं लेकिन किसी विशिष्ट दृष्टिकोण से संकलित नहीं हो सकते। कवि की लेखनी से सद्यःलिखित प्रत्येक स्फुट छंद एक स्वतंत्र मुक्तक हैं। आधुनिक समय में जो अनेक कवियों की अनेक प्रकार की कविताओं को केवल प्रतिनिधित्व के लक्ष्य को सामने रखकर संकलन (एन्थालोजी) किया जाता है वह वस्तुतः स्वतंत्र मुक्तकों का ही संकलन है। कोष मुक्तकों में प्रायः ही एक प्रकार के स्वकृत छंदों का संकलन होता है परंतु स्वतंत्र मुक्तकों में अनेक कविकृत बहुविध छंदों का संकलन होता है। कोष-मुक्तक भी दो प्रकार के होते हैं संख्यापरक कोष और लक्षणनिष्ठ कोष। संख्यापरक कोष वे कोष होते हैं जिनकी छंद-संख्या निश्चित होती है। उदाहरणस्वरूप हजार, सात सौ, सौ, पचास, बावन इत्यादि। रतन हजारा, गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती, बिहारी सतसई, अमरु शतक, भर्तृहरि के शतकत्रय, उद्धव शतक, नयन पचासा (मंडनमिश्र) शिवा वावनी आदि रचनाएँ उदाहरण के लिए ली जा सकती है। लक्षणनिष्ठ मुक्तक वे मुक्तक हैं जो कोषात्मक तो हो सकते है पर अलंकारादि शास्त्रों के लक्षणों को दृष्टि में रखकर संकलित रचनाओं के द्वारा ही। अलंकारशास्त्र को दृष्टि में रखकर रचित चंद्रालोक, भाषाभूषण, कविकल्पद्रुम आदि हैं। इनमें भी दो शैलियाँ अपनायी जाती हैं कभी कभी तो पूर्ण छंद ही उदाहरण होता है पर कभी कभी छंद की ऊपर वाली पंक्ति में लक्षण और नीचे वाली पंक्ति में उदाहरण। चंद्रालोक और भाषाभूषण आदि में अलंकार-निरूपण की यही दूसरी पद्धति अपनायी गयी है। इन मुक्तकों का विषय कुछ भी हो सकता है वह प्रेम का भाव हो सकता है, निवृत्ति की चेतना हो सकती है, नीति का कथन हो सकता है लेकिन इन सब भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाले छंद

१—स्वपरकृत सूक्ति समुच्चयः कोशः। काव्यानुशासन—हेमचंद्र।

को स्वयंपूर्ण, अभिमंडित, और अपने आप में परिसमाप्त होना चाहिए।[1] इस दृष्टि से हिंदी की प्राप्त सतसइयों में तुलसी और वृंद की सतसइयों को छोड़कर शेप प्रायः सभी शृंगारमूलक हैं, वज्रयानी सिद्धों के कोप, परमात्मप्रकाश, कबीर की साखियाँ आदि सब रचनाएँ वैराग्यभावापन्न रचनाएँ हैं, अपभ्रंश काव्यत्रयी रहीम, वृंद आदि के मुक्तक प्राय ही उपदेश और नीतिमूलक हैं। यह भावनाएँ वीररसात्मक भी हो सकती हैं जिसके प्रमाण में राजस्थानी का अधिकांश मुक्तक-साहित्य रखा जा सकता है। इस प्रकार विशुद्ध मुक्तक अपने सभी भेदोपभेदों के सहित प्रायः अगेय, छदमूलक और स्वयपूर्ण मुक्तक-शैली है।

सघात-मुक्तक—सघात-मुक्तक वे मुक्तक हैं जो एक ही व्यक्ति द्वारा अनेक पद्यों में एक ही विपय को लेकर लिखे जाते हैं। इनके दो भेद हैं विपयनिष्ठ या पर्यायबध और दूसरा विषयिनिष्ठ। विपयनिष्ठ मुक्तक वे मुक्तक हैं जिनमें एक विशिष्ट वस्तु के प्रति आग्रह पाया जाय। सेनापति का षड्ऋतु वर्णन या देव का अष्टयाम इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। इनमें वर्णन एक छद में हमेशा अपूर्ण रहता है और आगे के छंदों में उसी वर्ण्य को पूरा किया जाता है। इसे हम पर्याय-बध भी कह सकते हैं। पर्याय-बध का अर्थ है कई छंदों का वह बध जिसमें एक ही वर्ण्य का नैरतर्य या पर्यायत्व हो।

सघात मुक्तक का दूसरा भेद है प्रगीत मुक्तक। प्रगीत शब्द यहाँ अंग्रेजी के 'लिरिक' का समानार्थक है। कतिपय आलोचकों की मान्यता है कि हिंदी में प्रगीत आधुनिक छायावादी काव्य में ही पाश्चात्य प्रभाव के कारण लिखा गया और वे प्रगीत की सारी विशेपता उसकी आत्माभिव्यजकता ही मानते हैं। परतु पाश्चात्य साहित्य में लिरिक अत्यंत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वह उतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जितने में सस्कृत के सारे मुक्तक साहित्य को समेट ले। डा० ए० बी० कीथ तथा डा० दासगुप्त और डा० डे आदि सब ने सस्कृत के अमरुशतक, आर्यासप्तशती, शृंगारशतक

१—Each stanza normally can stand by itself and serves to express one idea, be a sentiment of love, of resignation, or of policy, in complete and daintly finished form A History of Sanskrit Literature By A. B Keith · P. 178

आदि को लिरिक का नाम दिया है। लेकिन यहाँ प्रगीत मुक्तक को उतने व्यापक अर्थ में नहीं लिया जा रहा है। प्रगीत मुक्तक के निम्नलिखित तत्व होते हैं:—

१—गेयता (भावतत्व और लयतत्व का सामंजस्य)।
२—आत्माभिव्यंजन।
३—केंद्रीय भावना और अन्विति।

भावतत्व के अभाव में ही लयतत्व शुद्ध संगीत बन जाता है और लय-तत्व के सर्वथा अभाव में भावतत्व प्रायः गद्यात्मक छद-बंध हो जाता है जिसे पद्य कहा जा सकता है। प्रगीत मुक्तकों में भावतत्व और लयतत्व दोनों समंजस और सम अवस्था में रहते हैं। दूसरा तत्व है आत्माभिव्यजन। यह सबसे प्रमुख प्रगीत तत्व है। प्रगीत काव्य में कवि चाहे जो और जैसा वर्ण्य विषय ले पर उसका वर्णन व्यक्तिनिष्ठ पद्धति से ही करेगा। वह जगत की प्रत्येक वस्तु के साथ अपने रागात्मक संबंध की अभिव्यक्ति करता है। यह रागात्मक अभिव्यक्ति कभी तो प्रच्छन्न होती है और कभी स्पष्ट। प्रच्छन्न पद्धति में वर्ण्यवस्तु या प्रस्तुत पृष्ठभूमि में रहता है और प्रक्षेप पद्धति (प्रोजेक्शन) के द्वारा वह अपनी भावनाओं को अन्य माध्यमों में आरोपित करके अभिव्यक्त करता है। सूरदास की गोपिकाओं का विरह-निवेदन और कुछ नहीं सूरदास का ही विरह-निवेदन है। संपूर्ण कृष्ण-भक्ति-साहित्य में प्रेम और विरहनिवेदन इसी प्रक्षेप-पद्धति के द्वारा हुआ है। लेकिन विनय आदि के पदों में यह कवि भी प्रत्यक्ष आत्मनिवेदन का सहारा लेते हैं। मीरा आदि के शृंगारिक पदों में विशुद्ध प्रगीतात्मक तत्व मिलते है। लेकिन प्राचीन प्रगीतों से नवीन प्रगीतों में काफी अंतर हो गया है—भावभूमि और उपस्थापन-पद्धति दोनों दृष्टियों से।

प्राचीन प्रगीत मध्यकालीन संगीत से विशेपतया अनुशासित है। उसमें कवि भक्त है, उसका हर्ष-विषाद, अभाव - अभियोग, विरह-मिलन, विनय-विराग सब कुछ भगवान के सुंदर रूप को आश्रय करके ही व्यक्त होता है। मध्यकालीन संगीत की टेक वाली व्यवस्था और परवर्ती प्रत्येक पंक्ति के तुक का उसी टेक के तुक पर अन्वित होना—यह प्राचीन प्रगीत की विशेषता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि टेक का तुक परवर्ती पंक्तियों के तुक से नहीं भी मिलता फिर भी संगीत का बंधान यथावत चुस्त रहता है। टेकवाली प्रथम

पंक्ति परवर्ती पंक्तियों से छोटी होती है। इसके अतिरिक्त प्राचीन मुक्तकों में परोक्ष और प्रक्षेप पद्धति अधिक अपनायी गई है। प्रत्यक्ष और सीधे निवेदन की शैली कम अपनाई गई है। नवीन मुक्तकों में कवि न तो भक्त है न तो उसका सारा निवेदन भगवानोन्मुख। वह विशुद्ध कवि है और उसके सम्मुख उसके प्राकृत युग-जीवन की समस्याएँ हैं। उसका मन आज अधिकाधिक व्यक्तिवादी हो गया है। अनुकूल या प्रतिकूल सामाजिक परिवेश की प्रतिक्रिया से ही उसके गीतों का जन्म होता है। मध्यकालीन प्रगीतकार जब अपने सारे व्यक्तिनिष्ठ आत्मनिवेदन के द्वारा भी सामाजिक हृदय को सतुष्ट करता था तो आज की आत्माभिव्यक्ति अधिकाश में एक विशेष वर्ग को ही सतुष्ट कर पाती है और व्यक्तिवादी है। शैली की दृष्टि से भी नवीन और प्राचीन प्रगीतों में बहुत अधिक अतर हो गया है।

प्रबध-मुक्तक—किसी कथा के किसी घटना या प्रसग को, आधार बनाकर लिखे गए भावात्मक लघुकाव्य को प्रबंध-मुक्तक कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं प्रथम, एकार्थ प्रबध-मुक्तक, द्वितीय मुक्तक-प्रबध। एकार्थ प्रबंध-मुक्तक वे प्रबध-मुक्तक हैं जिनमें एक ही विषय को लेकर एक खडकाव्यात्मक प्रबध लिखा जाय पर जिसकी कथा अत्यत लघु और क्षीण हो और काव्य भावात्मक और व्यक्तिनिष्ठ शैली में लिखा गया हो। ऐसे काव्यों को कुछ लोग 'लिरिक' और कुछ लोग खडकाव्य मानते हैं। लेकिन उनकी आत्मा और विषयवस्तु चूँकि संपूर्णतया प्रगीतात्मक (लिरिकल) होती है इसलिए उन्हें अतत. प्रबधात्मक मुक्तक मानना ही उचित होगा। अर्थ की एकता और एकान्विति ऐसी रचनाओं में प्रधान वस्तु होती है। इस शैली के सर्वोत्तम काव्यों में 'मेघदूत' और 'आँसू' का नाम लिया जा सकता है। इनमें विस्तृति अवश्य खडकाव्यात्मक होती है पर मूल प्रेरणा भावात्मक होती है। इनमें धाराप्रवाह व्यक्तिनिष्ठ ढग का होगा। तन्मयता, आवेग सब प्रगीतात्मक कोटि के होंगे। लगभग इसी शैली का काव्य संदेशरासक भी है। इसमें भी पथिक को सदेश देने वाली विरहिणी का वक्तव्य-विषय प्रगीतात्मक है, और विषय की एकान्विति भी प्रगीतों जैसी है। इसमें नवीनता है तो इतनी कि इसकी उपस्थापना लगभग सपूर्णतया प्रबधात्मक है। वही साजसज्जा, कथोपकथन की वही अधिकता, ऊहात्मक अलकारों का प्रयोगाधिक्य यह सब सदेशरासक में मिलता है लेकिन इन सब के भीतर भी उस अतिशय 'कोमलागी मृगाक्षिणी, पिकवचनी विरहिणी' का अनन्य करुण विरह-विह्वल हृदय स्पष्ट हुआ है – यह

-अपने आप में विशुद्ध प्रगीतात्मक तत्त्व है। इस प्रकार हम 'संदेश-रासक' को भी एकार्थ निर्वाहक प्रबंध मुक्तक कह सकते हैं।

प्रबंध-मुक्तक से किंचित भिन्न मुक्तक - प्रबंध होता है। प्रबंध-मुक्तक में यदि उपस्थापन शैली प्रबंधात्मक होती है और वक्तव्य-विषय प्रगीतात्मक तो मुक्तक-प्रबंध में उपस्थापन शैली मुक्तकात्मक पर वक्तव्य-विषय कथाश्रयी। 'सूरसागर' इस प्रकार का सर्वोत्तम उदाहरण है। सूरसागर में श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध की कथाधारा सूर का उपजीव्य है पर वे उसे नवीन प्रसंगोद्भावनाओं के साथ बीच-बीच में तोड़ देते हैं और एक-एक कड़ी को लेकर मनचाही पद-रचना करते हैं। यहाँ प्रबंध तोड़कर मुक्तकों में अभिव्यक्त किया गया है और प्रबंध-मुक्तक की शैली में मुक्तक ही फैलाकर प्रबंध की विस्तृति को पहुँचा दिया जाता है।

मुक्तक और आख्यान-गीत—इन दोनों से भिन्न है आख्यान गीतात्मक या वीरगीतात्मक मुक्तक (Ballad lyric) पाश्चात्य साहित्य में समवेत काव्य (कोरस) और वीरगीत (बैलेड) प्रगीत-काव्य के ही अंतर्गत लिए गए हैं। यह वस्तुतः आदिम काव्यरूप हैं। मानव-सभ्यता के अत्यंत आरंभ में मानव-समाज अपने हर्ष-विषाद को सामूहिक ढंग से नृत्य, गीत, वाद्य आदि के साथ व्यक्त करता था। जैसा कि कहा जा चुका है सभ्यता की वृद्धि के साथ नृत्य अलग हो गया, वाद्य अलग और गान अलग। यह गान विशुद्ध लिरिक नहीं था बल्कि कथात्मक था। यही कथा निकलकर आगे आई और प्रबंध काव्यों, पुराणों आदि में विस्तृत हो गई। लेकिन कथात्मक गीत का वाद्य के साथ गान आज भी प्रचलित है। यही वीरगीत या आख्यान-गीत है। इस प्रकार के आख्यान गीत में व्यक्ति-तत्व बिलकुल अप्रधान रहता है और समाज का सामूहिक व्यक्तित्व प्रधान हो जाता है। इस प्रकार के गानों का अवश्य ही एक समृद्ध युग रहा होगा। स्टीनथाल नामक जर्मन पंडित के अनुसार एक पूरी जाति (race) काव्य-रचना कर सकती है। व्यक्ति तो सुदीर्घ काल के विकास और संस्कृति का निष्कर्ष है लेकिन आदिम जातियाँ तो मनुष्यों के समूह हैं। मनोवेग, उत्तेजन, भाव-वृत्ति की दृष्टि से आदिम असभ्य मनुष्यों में आज की तरह विषमता नहीं थी, उनमें अपेक्षाकृत समता थी—जो एक की अनुभूति थी वही सबकी। एक सामान्य रचनात्मक प्रेरक वृत्ति ही संगीत और कविता के स्फुरण का कारण बन जाती थी।[१] आख्यान

१—......a whole race can make poems. The individual is the outcome of culture and long ages of

गीति के मूल बिंदुओं की स्थापना करते हुए श्री डब्ल्यू० पी० केर का कहना है कि 'आख्यान-गीति एक प्रगीतात्मक वर्णनप्रधान काव्य होता है। सभी आख्यान गीतियाँ प्रगीतात्मक होती हैं जो या तो स्वयं प्रसिद्ध मूल वाली होती है या जो जनकाव्य के लोकप्रिय रूपों को ग्रहण करके चलती हैं। इनका प्रसार सपूर्ण जाति भर में होता है। यह केवल एक वर्णनात्मक काव्य नहीं है बल्कि यह प्रगीतात्मक काव्यरूप में वर्णनात्मक कविता है या फिर वर्णनात्मक शरीर में प्रगीतात्मक कविता है।'

हिंदी में 'आल्हखड' इस कोटि का सर्वोत्तम काव्य माना जाता है। बीसलदेव रासो भी एक हद तक आख्यानगीतिपरक काव्य है। इन आख्यानक गीतियों में कथा-धारा का वेग अत्यधिक होता है यद्यपि इनमें भी कुछ मार्मिक स्थलों पर रुकने की प्रवृत्ति पाई जाती है। हिंदी के विद्वानों का समर्थन भी इन काव्यों को गीतिरूप में प्राप्त हुआ है। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिंदी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में बीसलदेव रासो को

---

development while primitive races show simply an aggregate of men Sensation, impulse and sentiment must be quite uniform in the uncivilized community—what one feels all feel A common creative sentiment throws out the word and makes poetry.

१—'Ballad is here taken as meaning a lyrical narrative poem (all ballads are lyrical ballads) either popular in its origin or using the common forms of popular poetry and fitted for oral circulation through the whole of a community. .It is not a narrative poem only, it is narrative poem lyrical in form or a lyrical poem with a narrative body in it.

Forms and styles in Poetry. By W. P. Ker. P. 3.

'गीति ग्रंथ' माना है। उनके अनुसार इस रासो को अपभ्रंश भाषा से सद्यः विकसित हिंदी का ग्रंथ कहने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।[1] आल्हखंड को पं० रामचंद्र शुक्ल ने वीरगीति[2] और डा० रामकुमार वर्मा ने 'वीर रस प्रधान एक गीतिकाव्य[3] कहा है। इन विद्वानों का मत सर्वथा सही होते हुए भी इस प्रकार के वीर काव्यों को प्रबंधात्मक ही मानना चाहिए। इसमें न तो व्यक्तित्व उभरता है न तो इनकी प्रवृत्ति प्रगीतात्मक होती है। कथा का दुर्वार वेग इनको प्रबंध ही कहने के लिए बाध्य करता है। इसी कारण आख्यानक गीति या वीरगीति को यहाँ मुक्तक के अंतर्गत नहीं लिया गया है।

मुक्तक और लोकगीत

प्रेरणा और प्रभाव की दृष्टि से (फोक सांग) गीति से मिलता जुलता है। दोनों में लोकजीवन की वह अनुभूतियां व्यक्त होती है जो लोकप्रिय योद्धाओं, व्यापक प्रभावशाली प्रेरकघटनाओं आदि से अस्तित्व पाती हैं। मुक्तक से लोकगीतों का वास्तविक संबंध जानने के पूर्व लोकगीतों का स्वभाव-परिचय कर लेना विशेष उचित होगा। सर्वप्रथम सन् १८४६ ई० में फोकलोर शब्द के प्रयोक्ता डब्ल्यू० जी० टामस ने इसकी व्याख्या में कहा था कि ये लोकगीत 'सभ्य राष्ट्रों के असंस्कृत वर्गों के परंपरागत ज्ञान[4] से संबद्ध होते हैं। इसमें लोक-जीवन के परंपरागत सौंदर्य-बोध संबंधी अभिव्यक्तियों की मौखिक और लिखित परंपराओं का सन्निवेश हो जाता है।[5] यह एक सामान्य विरासत होती थी जिसे धनी और निर्धन,

---

१—हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ६६–७०।

२—हिंदी-साहित्य का इतिहास पृ० ३२।

३—हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० १०३।

४—"......Traditional learning of the uncultured classes of civilised nations. Encyclopedia Britannca, Vol. X. Folklore.

५—The term is normally confined to the spoken or written traditions of a people, to traditional aesthetic expressions—Dictionary of World Literature, P. P. 242-48.

अशिक्षित और शिक्षित, पुरुष और स्त्री सब ने समृद्ध किया है। लोकगीत विकसनशील होते हैं और निरंतर परिवर्तमान। इस परिवर्तन की प्रक्रिया में ये बराबर अभिनव माधुर्य प्राप्त करते रहते हैं।[1] इन लोकगीतों की प्रधान विशेषताएँ होती हैं इनका निर्वैयक्तिक जनकाव्य होना, प्राय मौखिक परपराओं में सुरक्षित रहना तथा बराबर शिष्ट-साहित्य को प्रभावित करना। इस प्रकार के साहित्यपरिगृहीत लोकगीतों का सबसे सुदर उदाहरण 'ढोला मारू रा दूहा' है।

यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो इन आदिम काव्यरूपों से ही मुक्तकों का जन्म हुआ होगा। आरंभ में जब मानव-समाज में साम्यवादी अवस्था रही होगी तो ये गीत उन आख्यानक गीतियों के रूप में रहे होंगे जिनका सकेत किया जा चुका है। लेकिन कालातर में उत्पादन के साधनों में सूक्ष्मता के आगमन के साथ-साथ व्यक्तिगत पूजी और व्यक्तिवाद का प्रसार हुआ होगा। फलतः इन्हीं लोकगीतों के लघु रूपों को उन वैयक्तिक सुख-दुख की अनुभूतियों से पूर्ण किया गया होगा जो अपने सार्वजनिक स्वभाव को एकदम नहीं खो चुकी होंगी। साहित्य का विकास होने पर इन्हीं सागीतिक लघु रूपों को छदात्मक परिणति देकर शिष्ट मनोभावों की अभिव्यक्ति का साधन बनाया गया होगा। निश्चित बंध वाले छदों में बँधकर लोकस्वर लोककाव्य की स्वच्छदता से बहुत कुछ दूर हो जाता है पर पद, गीत और प्रगीत वाले काव्यरूपों में वह अधिक सुरक्षित रहता है। गाथा, श्लोक, आर्या आदि में उतनी लोकगीतात्मकता नहीं है जितनी जयदेव के गीतगोविंद तथा विद्यापति और सूर के पदों में। तात्पर्य यह कि लोकगीतों से मुक्तक-साहित्य को बराबर छद मिले हैं। इनका सीधा रूप हिंदी के पदों और प्रगीतों में विकसित हुआ है।

———

१—This is a common heritage to which the rich and poor, educated and illiterate, men and women, have contributed a share. The body of folk-songs has grown, everchanging but always acquiring fresh sweetness.—The Folk Songs of the Singhalese By N D. Wijesekera, Proceedings and transactions of the All-India Oriental Conference. 1936-44.

विकासक्रम की पृष्ठभूमि

भारतीय इतिहास का संपूर्ण मध्ययुग सामंती सभ्यता का काल है। अंतिम हिंदू-सम्राट हर्षवर्द्धन की मृत्यु से यह काल आरंभ होकर मुगल साम्राज्य के पतन तक प्रसरित है। इस काल के पूर्व की पंद्रह सोलह शताब्दियों का इतिहास भी सामाजिक दृष्टि से सामंतवादी ही था परंतु उसमें पतनशीलता न होकर विकासोन्मुखता और नवोन्मेषशालिता अधिक थी। भारतवर्ष में सामंतवाद का आरंभिक रूप-गठन गौतम बुद्ध के अवतरण के पूर्व ही हो चुकता है। इस समय का सामंत लोक-जीवन का प्रिय नायक था उसके जीवन के दुख-सुख में साक्षी होकर उसका पोषण और तोषण करने वाला। रामायण और महाभारत काव्यों में हमें जिस प्रकार के क्षेत्रीय राजाओं की चर्चा मिलती है वे यही लोकप्रिय जननायक हैं। इस काल में विशेष लक्ष्य करने की बात यह है कि सामंत लोक से अत्यधिक संयुक्त थे। लेकिन गौतम बुद्ध से आरंभ होकर हर्षवर्द्धन तक फैलने वाले सामंत-समाज के विकासोन्मुख काल में राजाओं की क्षेत्रीयता और पारस्परिक स्वतंत्रता बड़ी बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियों के अस्तित्व में आने से रूप बदलने लगी। उनकी क्षेत्रीयता और स्वतंत्रता अत्यधिक सीमित हो गयी, कहीं-कहीं समाप्त भी हो गयी। मौर्य-साम्राज्य और गुप्त-साम्राज्य के प्रतापी शासकों का राज्य-विस्तार इन्हीं क्षेत्रीय सामंतों और राजाओं को समाप्त करके हुआ था। इस काल की ऐतिहासिक घटनाओं का सामंतवाद पर जो असर पडा वह यह कि सामंत वर्ग जनता से दूर होता चला गया। फलतः वह लोक स्तर से भी दूर हो गया। इसी काल में हमें संस्कृत के काव्यों और नाटकों की गौरवशाली परंपरा का दर्शन होता है।

इस काल के आरंभ में ही कुछ ऐसे महत्वपूर्ण ग्रंथ मिलते हैं जिन्होंने भारतीय भाषा और साहित्य को सबसे अधिक प्रभावित किया। प्रथम था पाणिनीय व्याकरण, दूसरा था वात्स्यायन का कामसूत्र और तीसरा था भरत का नाट्यशास्त्र। इन तीनों ग्रंथों के कर्ताओं ने इन ग्रंथों की पूर्ववर्ती परंपरा का भी संकेत किया है पर प्राप्त साहित्य के आरंभ में इन्हीं का स्थान है। पाणिनीय व्याकरण ने वैदिक संस्कृत के प्रयोगों और लोकव्यवहृत रूपों को नियमबद्ध करके विश्व का सबसे अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक व्याकरण

प्रस्तुत किया। व्याकरण की दृष्टि से अद्वितीय महत्व का होते हुए भी अष्टाध्यायी के द्वारा कुछ शताब्दियों में ही भाषा का सहज प्रवाह बँध गया। किस प्रकार यह व्याकरणसम्मत लौकिक सस्कृत धीरे धीरे पडित समाज और राजन्य वर्ग की वस्तु बनती जाकर लोक भाषाओं के बढ़ने का कारण बन गई यह आगे चलकर दिखाया जाएगा। इसके बाद वात्स्यायन का कामसूत्र आता है जिसने समूचे भारतीय वाङ्मय के शृगार-तत्व को सर्वाधिक प्रभावित किया। कामसूत्र तत्कालीन सामती समाज और सस्कृति के सपूर्ण कलात्मक और विलासी जीवन के साधारण पक्षों को एक नियम-शृखला के रूप में उपस्थित करता है। सामतों के अतःपुर, राज्य-प्रासाद, बहिर्जीवन इत्यादि का सुविस्तृत परिचय कामसूत्र से हो जाता है। जो कुछ कमी रह जाती है उसे भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र पूरा कर देता है। रस, नायक-नायिका भेद, अन्य प्रकार के पात्रों, रंगमंच, नृत्य, विभिन्न प्रकार की परिवेशगत अलकृतियों के निर्देश के रूप में भरत मुनि ऐसा बहुत कुछ दे गए जो न केवल सपूर्ण भारतीय नाट्य-साहित्य को वरन् सपूर्ण भारतीय काव्य-साहित्य को भी प्रभावित करता है। यदि हम कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र को भी जोड लें तो विकासोन्मुख सामतकाल के राजनीतिक जीवन के विविध रूपों की पृष्ठभूमि में निहित तत्वदर्शन का भी परिचय मिल जाएगा। उस कूटनीति में विषकन्याएँ तथा सामाजिक जीवन में परकीयाएँ भी आदिष्ट थीं। कौटिल्य की इन व्यवस्थाओं का प्रभाव भी अनेक परवर्ती सस्कृत काव्यों पर किसी न किसी रूप में पडा।

मौर्य-साम्राज्य के पतन के पश्चात अचानक भारतीय इतिहास तिमिराच्छन्न हो जाता है। इतिहासकार अत्यत अपर्याप्त प्रमाणों के आधार पर इस काल का चित्र उपस्थित करता है। १८८३ ई०

ऐहिकतापरक काव्यों का में सुप्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ मैक्समूलर ने अपना वह

आरंभः गाथा सप्तशती प्रसिद्ध मत उपस्थित किया जिसमें कहा गया था कि यवनों, पार्थियनों और शकों आदि के द्वारा

उत्तर-पश्चिम भारत पर बार बार आक्रमण होते रहने के कारण कुछ काल के लिए सस्कृत में साहित्य बनना बंद हो गया था। कालिदास के युग से, नए सिरे से सस्कृत भाषा की पुनः प्रतिष्ठा हुई और उसमें एक अभिनव ऐहिकतापरक स्वर सुनाई देने लगा (इडिया, १८८३ ई० पृ० २८१)[१]। इस मत का

१—A History of Sans. Lit. by Dr. A. B. Keith, quoted on the P. 39.

अनेक विद्वानों ने खंडन किया। डा० कीथ ने ऐहिकतापरक कविता के मूलस्रोत को वैदिक-साहित्य में खोजा है फिर भी उनका कहना है कि यह मत इस रूप में अब भी प्रचलित है कि उक्त पुनः प्रतिष्ठा के युग के पहले तक संस्कृत भाषा ऐहिकतापरक भावों के लिए बहुत कम प्रयुक्त होती थी। ऐसे भावों का प्रधान वाहक प्राकृतभाषा थी। प्राकृत की ही पुस्तकें बाद में चलकर ब्राह्मणों द्वारा संस्कृत में अनूदित हुईं।[1] डा० डे ने भी स्वीकार किया है कि 'प्रेम कविता सुसंस्कृत और सम्मान्य कविता में नहीं ली गई होती यदि हाल की सप्तशती ने अपना आकर्षण न पैदा किया होता। इस सप्तशती के चरण अतिशय ऐहिकतापरक हैं। यह मनोभाव निश्चित रूप से लोकमनोभाव है जो कम से कम प्राकृत भाषा में सुरक्षित है।[2] इसके पूर्व संस्कृत के प्राप्त साहित्य में यह मनोभाव काव्य का चरमसाध्य बनकर कभी नहीं आया। डा० डे के अनुसार संस्कृत की कोई रूढ़ि प्राकृतसत्तसई में नहीं है बल्कि प्राकृत काव्य की ही रूढ़ियाँ परवर्ती संस्कृत काव्यों में अबाध रूप से गृहीत हुई हैं।[3] इस प्रकार के ग्रंथों में कालिदास की रचनाओं के ऐहिकतापरक तत्वों, अमरु के शतक तथा गोवर्द्धन की आर्यासप्तशती आदि को लिया जा सकता है। असंभव नहीं है कि गीतगोविंद पर भी उसका प्रभाव पड़ा हो। निष्कर्ष यह कि ईसवी सन् के आसपास भारतवर्ष में आभीर, पार्थियन, यवन, शक, सिथियन, हूण आदि अनेक ज्ञात-अज्ञात जातियों और उनकी विभिन्न संस्कृतियों का आगमन हुआ। इतिहास साक्षी है कि विराट और अदम्य पाचनशक्ति वाली भारतीय संस्कृति ने इन सबको आत्मसात कर लिया। इन विदेशी

विदेशागत जातियाँ और गाथा सप्तशती

जातियों ने भारतीय साहित्य और संस्कृति को ऐसे अनेक तत्व दिए जिनमें से बहुत कम तत्वों से आज का इतिहासकार परिचित है। ऐसी ही कुछ पूर्व की शताब्दियों में हिमालय के पाददेश में बसने वाली यक्ष, गंधर्व, किन्नर नामक समृद्ध कला-चेतना वाली विलासप्रिय जातियाँ भी आर्यों से मिली थीं। परंतु उनकी कला-चेतना परवर्ती विदेशी जातियों के मनोभावों से पृथक थी। हाल की सत्तसई में मिलने वाली कविता इन्हीं पूर्ववर्ती विदेशागत जातियों के मनोभावों से पूर्ण है। इनमें एक प्रकार के

१—Ibid, P. 39.

२—History of Sans. Lit. Vol. I By Dasgupta & De. P. 156.

३—Ibid., P 157.

प्रस्तुत किया। व्याकरण की दृष्टि से अद्वितीय महत्व का होते हुए भी अष्टाध्यायी के द्वारा कुछ शताब्दियों में ही भाषा का सहज प्रवाह बँध गया। किस प्रकार यह व्याकरणसम्मत लौकिक सस्कृत धीरे धीरे पडित समाज और राजन्य वर्ग की वस्तु बनती जाकर लोक भाषाओं के बढ़ने का कारण बन गई यह आगे चलकर दिखाया जाएगा। इसके बाद वात्स्यायन का कामसूत्र आता है जिसने समूचे भारतीय वाङ्मय के शृगार-तत्व को सर्वाधिक प्रभावित किया। कामसूत्र तत्कालीन सामती समाज और सस्कृति के सपूर्ण कलात्मक और विलासी जीवन के साधारण पक्षों को एक नियम-शृखला के रूप में उपस्थित करता है। सामतों के अत'पुर, राज्य-प्रासाद, बहिर्जीवन इत्यादि का सुविस्तृत परिचय कामसूत्र से हो जाता है। जो कुछ कमी रह जाती है उसे भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र पूरा कर देता है। रस, नायक-नायिका भेद, अन्य प्रकार के पात्रों, रंगमंच, नृत्य, विभिन्न प्रकार की परिवेशगत अलकृतियों के निर्देश के रूप में भरत मुनि ऐसा बहुत कुछ दे गए जो न केवल सपूर्ण भारतीय नाट्य-साहित्य को वरन् सपूर्ण भारतीय काव्य-साहित्य को भी प्रभावित करता है। यदि हम कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र को भी जोड़ लें तो विकासोन्मुख सामतकाल के राजनीतिक जीवन के विविध रूपों की पृष्ठभूमि में निहित तत्वदर्शन का भी परिचय मिल जाएगा। उस कूटनीति में विषकन्याएँ तथा सामाजिक जीवन में परकीयाएँ भी आदिष्ट थीं। कौटिल्य की इन व्यवस्थाओं का प्रभाव भी अनेक परवर्ती सस्कृत काव्यों पर किसी न किसी रूप में पडा।

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात अचानक भारतीय इतिहास तिमिराच्छन्न हो जाता है। इतिहासकार अत्यत अपर्याप्त प्रमाणों के आधार पर इस काल का चित्र उपस्थित करता है।

ऐहिकतापरक काव्यों का आरभः गाथा सप्तशती

१८८३ ई० में सुप्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ मैक्समूलर ने अपना वह प्रसिद्ध मत उपस्थित किया जिसमें कहा गया था कि यवनों, पार्थियनों और शकों आदि के द्वारा उत्तर-पश्चिम भारत पर बार बार आक्रमण होते रहने के कारण कुछ काल के लिए सस्कृत में साहित्य बनना बंद हो गया था। कालिदास के युग से, नए सिरे से सस्कृत भाषा की पुनः प्रतिष्ठा हुई और उसमें एक अभिनव ऐहिकतापरक स्वर सुनाई देने लगा (इडिया, १८८३ ई० पृ० २८१)[1]। इस मत का

१—A History of Sans. Lit. by Dr. A. B. Keith, quoted on the P. 39

अनेक विद्वानों ने खंडन किया। डा० कीथ ने ऐहिकतापरक कविता के मूलस्रोत को वैदिक-साहित्य में खोजा है फिर भी उनका कहना है कि यह मत इस रूप में अब भी प्रचलित है कि उक्त पुनः प्रतिष्ठा के युग के पहले तक संस्कृत भाषा ऐहिकतापरक भावों के लिए बहुत कम प्रयुक्त होती थी। ऐसे भावों का प्रधान वाहक प्राकृतभाषा थी। प्राकृत की ही पुस्तकें बाद में चलकर ब्राह्मणों द्वारा संस्कृत में अनूदित हुईं।[१] डा० डे ने भी स्वीकार किया है कि 'प्रेम कविता सुसंस्कृत और सम्मान्य कविता में नहीं ली गई होती यदि हाल की सप्तशती ने अपना आकर्षण न पैदा किया होता। इस सप्तशती के चरण अतिशय ऐहिकतापरक हैं। यह मनोभाव निश्चित रूप से लोकमनोभाव है जो कम से कम प्राकृत भाषा में सुरक्षित है।[२] इसके पूर्व संस्कृत के प्राप्त साहित्य में यह मनोभाव काव्य का चरमसाध्य बनकर कभी नहीं आया। डा० डे के अनुसार संस्कृत की कोई रूढ़ि प्राकृतसत्तसई में नहीं है बल्कि प्राकृत काव्य की ही रूढ़ियाँ परवर्ती सस्कृत काव्यों में अबाध रूप से गृहीत हुई है।[3] इस प्रकार के ग्रंथो में कालिदास की रचनाओं के ऐहिकतापरक तत्वों, अमरु के शतक तथा गोवर्द्धन की आर्यासप्तशती आदि को लिया जा सकता है। असंभव नहीं है कि गीतगोविंद पर भी उसका प्रभाव पड़ा हो। निष्कर्ष यह कि ईसवी सन् के आसपास भारतवर्ष में आभीर, पार्थियन, यवन, शक, सिथियन, हूण आदि अनेक ज्ञात-अज्ञात जातियों और उनकी विभिन्न संस्कृतियों का आगमन हुआ। इतिहास साक्षी है कि विराट और अदम्य पाचनशक्ति वाली भारतीय संस्कृति ने इन सबको आत्मसात कर लिया। इन विदेशी

विदेशागत जातियाँ और गाथा सप्तशती

जातियो ने भारतीय साहित्य और संस्कृति को ऐसे अनेक तत्व दिए जिनमें से बहुत कम तत्वों से आज का इतिहासकार परिचित है। ऐसी ही कुछ पूर्व की शताब्दियो में हिमालय के पाददेश में बसने वाली यक्ष, गंधर्व, किन्नर नामक समृद्ध कला-चेतना वाली विलासप्रिय जातियाँ भी आर्यों से मिली थीं। परंतु उनकी कला-चेतना परवर्ती विदेशी जातियों के मनोभावों से पृथक थी। हाल की सत्तसई में मिलने वाली कविता इन्हीं पूर्ववर्ती विदेशागत जातियों के मनोभावों से पूर्ण है। इनमें एक प्रकार के

१—Ibid, P. 39.
२—History of Sans. Lit. Vol. I By Dasgupta & De. P. 156.
३—Ibid., P 157.

स्वच्छंदतामूलक (रोमैंटिक) लोकजीवन का सहजोच्छ्वास है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सप्तशती के वक्तव्य-विषय पर लिखा है कि इसमें जीवन की छोटी-मोटी घटनाओं के साथ एक ऐसा निकट संबंध पाया जाता है जो इसके पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य में बहुत कम मिलता है। प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमिकों की रसमयी क्रीड़ाएँ और उनका घात-प्रतिघात इस ग्रंथ में अतिशय जीवित रूप में प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनों की प्रेम-गाथाएँ, ग्राम वधूटियों की शृंगार चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुंदरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं के भावोत्तेजन आदि बातें इतनी जीवित, इतनी सरस और इतनी हृदयस्पर्शी है कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट होता है। भारतीय काव्य का आलोचक इस नई भावधारा को भुला नहीं सकता। यहाँ वह एक अभिनव जगत में पदार्पण करता है जहाँ आध्यात्मिकता का झमेला नहीं है। कुश और वेदिका का नाम नहीं सुनाई देता, स्वर्ग और अपवर्ग की परवा नहीं की जाती, इतिहास और पुराण की दुहाई नहीं दी जाती और उन सब बातों को भुला दिया जाता है जिसे पूर्ववर्ती साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।[1] परंतु इस काव्य को एकदम लोकसाहित्य (फोक लिटरेचर) नहीं मानना चाहिए। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार उसका स्पिरिट नया है पर भाषागत और भावगत वह सतर्कता इसमें भी है जो संस्कृत कविता की जान है। इस नई धारा का पूर्ण विकास हिंदी-साहित्य में हुआ है।[2] डा० डे ने भी इस बात को स्वीकार किया है।[3]

गुप्त-काल और साहित्य-भारतीय साहित्य के चरम विकास का युग

यह चर्चा हाल की सप्तशती अर्थात् ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी के आस-पास की है। इसी समय भारतीय राजनीति के रंगमंच पर भारत के स्वर्णयुग गुप्तकाल का उदय होता है। इस समय ब्राह्मण-धर्म, संस्कृत-साहित्य और भारतीय कलाएँ वेग से उन्नति करने लगती हैं। कुषाण सम्राटों के अवशेष एकदम उच्छिन्न किए जाने लगते हैं। साम्राज्य के विस्तार के साथ ही साथ देश का

१—हिंदी साहित्य की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ११२।

२—वही, पृ० ११३।

३—History of Sanskrit Lit. by Dasgupta and De. P. P 156-57.

आर्थिक विकास भी संभव होने लगता है। आर्थिक दृष्टि से सुसंपन्न, राजनीतिक दृष्टि से सुरक्षित भारतीय-साम्राज्य में साहित्य और कला-शिल्प की उन्नति स्वाभाविक थी। फलतः उन कवियों का उदय और उन काव्यों का सर्जन होता है जिन्हें हम संस्कृत-साहित्य का गौरव मानते हैं। भारतीय साहित्य में गुप्त युग की महत्वपूर्ण देन है। शताब्दियाँ और सहस्राब्दक बीत गए पर आज भी भारतीय जीवन में गुप्त सम्राट घुले हुए हैं। केवल इसलिए नहीं कि विक्रमादित्य और कालिदास की कहानियाँ भारतीय लोकजीवन का अविच्छेद्य अंग बन गयी हैं। वल्कि इसलिए कि आज के भारतीय धर्म, समाज, आचार-विचार, क्रिया-कांड आदि में सर्वत्र गुप्तकालीन साहित्य की अमिट छाप है। जो पुराण और स्मृतियाँ तथा शास्त्र निस्संदिग्ध रूप से आज प्रमाण माने जाते हैं वे अंतिम तौर पर गुप्तकाल में ही रचित हुए थे, वे आज भी भारतवर्ष का चित्त-हरण किए हुए हैं, जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुए थे वे आज भी भारतीय चिंता-स्रोत को गति दे रहे हैं। गुप्त-युग के बाद भारतीय मनीषा की मौलिकता भोथी हो गयी। टीकाओं और निबंधों का युग शुरू हो गया। टीकाओं की टीका और उसकी भी टीका, इस प्रकार मूलग्रंथ की टीकाएं छः छः आठ-आठ पुश्त तक चलती रहीं।[1]

विकासोन्मुख सामंतवादी समाज का अंतिम चरण

इस विकासोन्मुख सामंतवादी समाज का विकास अंतिम हिंदू-सम्राट हर्षवर्द्धन तक होता है। रुद्रदामा के गिरनार के शिलालेख (१५० ई०) में प्रयुक्त अलंकृत गद्य, पश्चातवर्ती सम्राट समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तंभ-लेख पर क्षोधित हरिषेण का गद्य-पद्य मिश्रित विजयोल्लेख (५३० ई०) उस बढ़ती हुई आलंकारिक प्रवृत्ति की सूचना देते हैं जो विकासोन्मुख सामंतवादी युग में होता है। इस सुंदर आलंकारिक प्रवृत्ति और भारतीय जीवन की नवनवोन्मेषशाली संस्कृति की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति कालिदास ने की। कालिदास में श्रेष्ठ कला, श्रेष्ठ वस्तु तथा श्रेष्ठ तत्व-दर्शन का सामंजस्य और संतुलन है इसीलिए कालिदास भारतीय काव्य के शीर्षस्थ कवि माने जाते हैं। परंतु कालिदास के पश्चात भारतीय कवि अलंकरण की ओर झुकता गया और उदात्त जीवन की अभिव्यक्ति से दूर होता गया।

१—उत्तरी भारत के कलात्मक विनोद पृ० ४।

स्मृतिशासित समाज की अलकारशासित अभिव्यक्ति

इस मोड को हम एक दृष्टि से और देख सकते हैं। ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी तक पवित्रताभिमानी आर्यों ने अपने महत्वपूर्ण स्मृतिग्रंथ रच लिए थे। इन स्मृतियों का मूल उद्देश्य था वर्णाश्रम धर्म के आचार-विचारों का विस्तृत निरूपण। प्राथमिक स्मृतियों में उच्चवर्ण वालों का निम्नवर्ण वालों की कन्याओं से विवाह विधिसमर्थित था परतु परवर्ती स्मृतियों ने इस अनुलोम विवाह-संबध को रोक दिया। लोक-जीवन में प्रेम की स्वच्छदता वाला प्राणशाली तत्व समाप्त होने लगा। यही कारण है कि जब पूर्ववर्ती रामायण तथा महाभारत महाकाव्य एव शूद्रक और भास की कृतियाँ अधिक स्वच्छंद और अधिक सहज भावानुरूपिणी हैं तो परवर्ती सस्कृत के काव्य और नाटक अधिक अलकृत और सकीर्ण जीवन के परिचायक। कालिदास को हम अपवाद के रूप में ले सकते हैं जिनमें प्रेम के स्वच्छद रूप का आभास बराबर मिलता है।

सहज और स्वच्छद प्रेम मानव-जीवन का इतना भावमय और छदोमय व्यापार है जो अपने आप में अनेक गौरवशाली रचनाओं की सभावना रखता है। स्मृतिशासित समाज में इस प्रथा का उच्छेद हो गया। ब्राह्मविवाह-पद्धति को मान्यता मिली जिसमें स्वयवरण न होकर पिता-पक्ष द्वारा वर और कन्या के पाणिग्रहण का निश्चय होता था। ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त होते ही विवाह हो जाता था क्योंकि कोई भी व्यक्ति बिना आश्रमी हुए रह ही नहीं सकता था। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के भी ब्राह्म-विवाहेतर प्रेम-सबध भी अमर्यादित थे। फलत स्वच्छंद प्रेम सर्वथा लुप्त हो गया। इसका भारतीय काव्य साहित्य पर बहुत ही दूरगामी प्रभाव पड़ा।

काव्य शिष्ट जनपद समाज की वस्तु और लोकभाषाओं को उत्तरोत्तर विकास का अवसर

ईसा की पाँचवीं छठीं शताब्दियों से ही संस्कृत-काव्य-शास्त्र में भामह, दडी, वामन, उद्भट और रुद्रट आदि आलंकारिकों का जो प्राधान्य दिखलाई पड़ता है उसके मूल में समाज का वही स्मृतिशासित परिवेश था। स्मृतिशासित समाज में अलकार-शासित अभिव्यक्ति स्वाभाविक हो उठी। जीवन की व्यापक पटभूमि से नव-नव विषयों के चयन के प्रति एक प्रकार की उदासीनता इस काल के सभी कवियों में दृष्टिगोचर होती है। कवियों ने यदि प्रेम-चित्रण करना भी चाहा है, तो अपने वक्तव्यविषय को

विधिसमर्पित रखने के लिए कथानकों का चुनाव पौराणिक उपाख्यानों और रामायण तथा महाभारत आदि काव्यों से किया है। इतना ही नहीं इन विषयों में गृहीत नारीपात्रों के नखशिख-चित्रण के प्रति कवियों की जो रुचि इस काल में दिखलाई पड़ी वैसी केवल हिंदी के रीतिकाल में दिखलाई पड़ी अन्यथा कभी नहीं। इस चरण में काव्य-चित्रित जीवन अधिक से अधिक अयथार्थ और अलंकृत हुआ। साहित्य में होने वाले इन्हीं परिवर्तनों के कारण कविता भी जनता से उत्तरोत्तर दूर होती गई तथा राज्य-दरबार और पंडित-समाज की वस्तु बनती गयी।

इन परिस्थितियों में गाथासप्तशती में मिलने वाली लोक-भाषा (प्राकृत) की रचनाओ को मान्यता मिलना और उनका लोकप्रियता प्राप्त करना स्वाभाविक भी था। किंतु ऐसा भी नहीं है कि प्राकृत में ही लोककविता के रस से पूर्ण रचनाएँ की गई हों। इसके काफी पूर्व बौद्धों के पालि और प्राकृत भाषाओं में धर्मोपदेश के बहाने से ही सही अनेक स्थलों पर अत्यंत सहज और अप्रतिम काव्य आ चुका था। सुत्त निपात से उद्धृत निम्नलिखित काव्य अपने भीतर चकित कर देने वाला काव्य-तत्व रखता है :—

लोकभाषा काव्य की परंपरा

१—'पक्कोदनो दुद्धखीरो हमास्मि (इति घनिय गोपो) अनुतीरे महिया समानवासो। छन्ना कुटि आहित्थे गिनि अथ चे पत्थयसी पवस्स देव ॥१॥

भात मेरा पक चुका है। दूध दुह लिया है। मही नदी के तीर पर स्वजनों के साथ निवास करता हूँ। कुटी छा ली है और आग सुलगा ली है। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो।

२—'अंधकम कसा न विज्जरे। कच्छेरूलहतिणे चरन्ति गावो। वुटिंठपि सहेय्युं आगतं अथ चे पत्थयसी पवस्स देव ॥२॥

मक्खी और मच्छड़ यहाँ पर नहीं हैं। कछार में उगी घास को गौवें चरती हैं। पानी भी पडे तो उसे वे सह लें। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो।

३—गोपी मम अस्सवा अलोला। दीघरतं संवासिया मनापा। तस्सा न सुणामि किंचिपापं अथ चे पत्थयसी पवस्स देव ॥३॥

मेरी ग्वालिन आज्ञाकारी और अलोला है। वह त्रिकाल की प्रिय संगिनी है। उसके विषय में कोई पाप भी नहीं सुनता। अब हे देव चाहो तो खूब वरसो।

४—अत्थिवसा अत्थि धेनुपा। गोधरणीयो पवेणियोऽपि अत्थि। उसभोऽपि गवंपती च अत्थि अथ चे पत्थयसी पवस्स देव ॥४॥

मेरे तरुण बैल हैं और बछड़े हैं, गाभिन गायें हैं और तरुण गायें भी हैं और सबके बीच वृषभराज भी हैं। अब हे देव चाहो तो खूब वरसो।

५—खील निखाता असपवेधी। दामा मुंजममा नवा सुसठान। न हि सिक्खन्ति धेनुपाऽपि देतुं अथ चे पत्थयसी पवस्स देव ॥५॥

खूँटे मजबूत गड़े हैं, मूँज के पगहे नए और अच्छी तरह बटे हैं। बैल भी उन्हें नहीं तोड़ सकते, अब हे देव चाहो तो खूब वरसो।[1]

ऐसी काव्यात्मक उक्तियाँ प्रचुर परिमाण में बौद्धों के थेरगाथा और थेरीगाथाओं में भी प्राप्त होती हैं। श्री भरत सिंह उपाध्याय ने उक्त पंक्तियों पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि यहाँ सुखी कृषक के जीवन का वर्णन केवल पृष्ठभूमि के रूप में है, वह स्वय अपना लक्ष्य नहीं है। उसका वर्णन यहाँ उससे बड़े एक अन्य सुख की केवल अभिव्यक्ति के रूप में किया गया है।[2] निस्सदेह यह सरस बौद्ध-साहित्य अपना लक्ष्य स्वय नहीं है लेकिन प्रश्न यह है कि अपभ्रंश के जैन, बौद्ध, नाथ मतों की और समूचे भक्तियुग की रचनाएँ क्या अपना लक्ष्य आप ही हैं? यदि नहीं तो धर्म के नाम पर भी रचित समस्त सरस मुक्तक साहित्य काव्य की सज्ञा पायेगा। किंतु इन उद्धरणों को यहाँ देने का प्रयोजन दो बातों की सूचना देना था। पहली यह कि लोकरस की सहज कविता ईसा की कई शताब्दी पूर्व ही पालि और प्राकृत भाषाओं में होने लगी थी दूसरी यह कि 'गाथा सप्तशती' में प्राप्त अपने आप में स्वतंत्र लोकरस सपन्न शुद्ध ऐहिक गाथाए भारतीय साहित्य में विलकुल नई हैं। इस प्रकार गाथा सप्तशती को सहज जीवन की अभिव्यक्ति तो परपरा से प्राप्त हुई पर स्वच्छद शृंगाराभिव्यक्ति बहुत कुछ विदेशागत जातियों द्वारा। फलत हम मान सकते

१—सुत्त निपात्त, अनुवादक श्री भिक्षु धर्मरत्न पृ० ४ - ७।

२—पालि-साहित्य का इतिहास, पृ० २३८।

हैं कि समाज में हमेशा एक ओर लोक-काव्य या लोक प्रभावित-काव्य होता है दूसरी ओर अभिजात वर्ग का काव्य। जब लोक-प्रभावित काव्य लोक-जीवन के सहज राग और स्वच्छंद तथा सहज छंद से पूर्ण होता है तो अभिजात काव्य अपनी सुदृढ़ मर्यादाओं में बद्ध और कभी कभी रुद्ध। ऐसा भी होता आया है कि लोक जीवन के बरबस खींचने वाले छंद और भाव साहित्य को नवजीवन देते रहते हैं। वैदिक ऋषियों और लौकिक संस्कृत के मूल छंद क्या थे ? क्या आचार्यों के द्वारा वे सब के सब गढ़े गए थे ? नहीं उनमें से अधिकांश लोक-स्वर से गृहीत होते थे। साहित्य में गृहीत एक विशिष्ट लोकस्वर एक छंद बनकर लक्षणग्रंथों में जाकर स्थिर हो जाता है। परंतु अपनी मस्ती में गाने वाले अनजान लोककवि के मुख से तो अनायास ही रोज अनेक छंद निकलते रहते है। प्राकृत अपभ्रंश के अधिकांश छंद लोक के बिलकुल अपने विशिष्ट स्वर हैं। प्रसिद्ध विद्वान डा० वेलंकर का भी यही मत है। उनके अनुसार अपभ्रंश के मात्रावृत्तों में संस्कृत के वर्णवृत्तों से भिन्न एक नए प्रकार का तालवृत्तात्मक संगीत है और इस 'तालवृत्त' या ताल-संगीत का उद्भव लोकजीवन से हुआ है। तात्पर्य यह कि संस्कृत उच्चवर्ती सम्राटों, सामंतों, पंडित समाजों में सिमटती गई और अपभ्रंश भाषाओं को लोकजीवन की नवनवोन्वेषशालिनी स्वरभंगिमा को बांधते हुए विकसित होने का अवसर बराबर मिलता गया।

अपभ्रंश-मुक्तकों की सहजता का भाषा-वैज्ञानिक कारण

अपभ्रंश रचनाओं की सहजता का एक कारण और दिया जा सकता है। इस अध्याय के आरंभ में ही कहा गया है कि ई० सन् के आसपास ही पाणिनि मुनि ने वैदिक संस्कृत के अनियमित प्रयोगों और भाषा के लोकव्यवहृत रूपों को एक व्यवस्था दी। बाद में संस्कृत के सभी ग्रंथ इसी व्यवस्थित भाषा में लिखे गए। परंतु भाषा का सहज स्वभाव है परिवर्तन। इसे वैय्याकरण ह्रास मानता है पर भाषावैज्ञानिक विकास। लौकिक सस्कृत और तत्कालीन लोकभाषाएं पालि और प्राकृत में तद्भवता और तत्समता का अंतर तो था किंतु आधारभूत व्याकरण का विशेष अंतर नहीं हुआ था। इस प्रकार की पालि और प्राकृत को लोकप्रतिभा का आश्रय मिला और संस्कृत उत्तरोत्तर उच्चतर सुसंस्कृत राजसमाज और पंडित-समाज में सीमित होती गई। आठ-दस शताब्दियों में अपभ्रंश भाषाएं अस्तित्व में आई और उनमें संस्कृत के व्याकरण से भी अधिक अंतर हो गया। व्याकरणिक रूपों में सरलीकरण की व्यापक प्रवृत्ति

प्रतिफलित होने लगी। राहुलजी के अनुसार 'यहाँ आकर भाषा में असाधारण परिवर्तन हो गया। उसका ढांचा ही बिलकुल बदल गया, उसने नये सुबंतों, तिङतों की सृष्टि की, और ऐसी सृष्टि की है जिससे वह हिंदी से अभिन्न हो गई है, और संस्कृत-पाली-प्राकृत से अत्यंत भिन्न।[1] यह भूलना नहीं चाहिए कि जिस समय अपभ्रंश भाषाएं रूप ले रही थीं उस समय संस्कृत में बाणभट्ट के कादंबरी की दीर्घ सामासिक शब्दावली वाली वाक्य-योजना हो रही थी।

ऊपर संस्कृत और प्राकृत साहित्य के कालक्रमानुसार विकास को इस दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न किया गया है जिससे संस्कृत साहित्य की उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति का पता चल जाय और प्राकृत की लोक प्रभावित विकासोन्मुख प्रकृति का। हाल की गाथासप्तशती की विशेष चर्चा इसी संदर्भ में हुई है। किंतु यह जानना भी आवश्यक है कि अपभ्रंश भाषा का उद्भव और विकास किन शताब्दियों, किन प्रदेशों और किन जातियों में हुआ? इस ऐतिहासिक परिशीलन से अपभ्रंश-साहित्य में प्राप्त वस्तु का स्वभाव जानने में विशेष सहायता मिलेगी।

अपभ्रंश-भाषा का विकास

अपभ्रंश शब्द का प्रथम उल्लेख पतंजलि (दूसरी शती ईसा पूर्व) के महाभाष्य में मिलता है। उनके अनुसार प्रत्येक शब्दके बहुत से अपभ्रंश होते हैं। उदाहरण के लिए 'गौ' शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि विभिन्न शब्द रूप।[2] भरतमुनि (दू० श० ई०) ने समान (संस्कृत) शब्द के अतिरिक्त शब्दों को विभ्रष्ट कहा है।[3] तत्पश्चात उन्होंने सात देशीभाषाओं का जो तत्कालीन प्राकृतें हैं उल्लेख किया है। वे हैं मागधी, आवंती, प्राच्य, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीक और दाक्षिणात्य।

१—हिंदी काव्य धारा की अवतरणिका पृ० ६।

१—एकैकस्य ही शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा। तद्यथा। गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येमादयोऽपभ्रंशाः।

—महाभाष्यम्, किलहार्न संस्करण, भाग १, पृ० २।

२—त्रिविध तच्चविज्ञेय नाट्ययोगे समासतः।
समान शब्दैर्विभ्रष्ट देशीमतमथापि वा॥ नाट्यशास्त्रम्।

इनके अतिरिक्त उन्होंने शवर, आभीर, चांडाल, चर, द्राविड़, ओड् आदि बहुत सी विभाषाओं का भी उल्लेख किया है। इनके बोलनेवालों का निर्देश करते हुए उन्होंने इनके पेशों का संकेत किया है। उनके अनुसार इनमें से अधिकांश दस्तकारी करने वाली और गोपालक जातियों से संबद्ध हैं। इसी प्रसंग में आभीरोक्ति[1] का भी उल्लेख हुआ है। आगे चलकर उकार बहुला भाषा[2] का निर्देश हुआ है। भविस्सयत्त कहा कि भूमिका में प्रो० गुणे ने नाट्यशास्त्र से कुछ ऐसे छंदों को उद्धृत किया है जो उकार प्रवृत्ति से संपन्न हैं। विद्वानों के अनुसार यह प्रवृत्ति अपभ्रंश-भाषा की है। भरत के अपभ्रंश से संबद्ध उल्लेखों से प्रो० गुणे ने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं।

'यद्यपि भरत ने अपभ्रंश-भाषा का नामोल्लेख कहीं नहीं किया है क्योंकि उस समय तक यह पूर्णतः स्पष्ट रूप से पहचानी जाने योग्य विकास-प्राप्त अवस्था में नहीं थी और 'आभीरोक्ति' नाम से पुकारी जाती थी तथापि इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि यह बोली उस समय भी वर्तमान थी। यह भी प्रकट है कि इसके बोलनेवालों का वास-स्थान पंजाब और उच्चतर सिंध में था। इस बोली में तब तक उच्च साहित्य नहीं था और इसके बोलनेवाले कुछ निश्चित घुमक्कड़ जातियों में ही सीमित थे जो पूर्व और दक्षिण की ओर बढ़ते हुए हिंदू-संस्कृति में विलीन हो रही थीं। संभवतः इन्हीं घुमक्कड़ जातियों ने प्राचीन प्राकृतों को अपभ्रंश का भाषा-रूप दिया होगा[3]।'

१—आभीरोक्तिः शाबरी वा द्राविडी द्राविडादिषु। वही।

२—हिमवत्सिंधुसौवीरान्ये च देशाः समाश्रिताः।
उकार बहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषा प्रयोजयेत।। वही।

३ although Bharat has nowhere mentioned Apabhramsha by name, because it was yet in a crude form still to develop and going under the name Abhirokti, there is no doubt that the dialect existed in his days. It also seems clear that the home of the speakers was then in the Punjab and the Upper Sindh. It had yet not high literature of

अपभ्रंश का दूसरा महत्वपूर्ण उल्लेख वलभी के राजा धरसेन द्वितीय के एक शिला लेख में हुआ है जिसमें वह अपने पिता के विषय में कहता है—

'संस्कृतप्राकृतापभ्रंश-भाषात्रय-प्रतिबद्ध-प्रबंधरचना-निपुणतरांतःकरण. ।'

इसके बाद भामह[1] और दंडी[2] दोनों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश भाषा छठीं शताब्दी तक साहित्यिक भाषा हो गई थी। भामह और दंडी में अंतर इतना है कि जब भामह अपभ्रंश भाषाभाषियों के विषय में मौन हैं तो दंडी उसका 'आभीरादिगिर' कह कर स्पष्ट निर्देश करते हैं। इस 'आभीरादिगिर.' शब्द द्वारा दंडी ने बड़ा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य दे दिया है। भरत के उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि अपभ्रंश भाषा 'हीना वनेचराणां' मात्र की भाषा थी। आभीरादि का 'आदि' शब्द बताता है कि अपभ्रंश भाषा केवल आभीरों की भाषा नहीं थी। ये आभीर निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा को अपने साथ बाहर से नहीं ले आए थे वरन वे अन्य जातियों के साथ जहा कहीं भी गए वहा की क्षेत्रीय प्राकृतों को चुन लिया और उस पर अपनी बोली का व्यापक प्रभाव डालने में समर्थ हुए।[3] इन उल्लेखों से एक बात और ज्ञात होती है कि उस समय तक जब अपभ्रंश राजाओं और पंडितों द्वारा समादृत हो रही थी तो दूसरी ओर आभीर चाडाल शबर आदि जनसाधारण की अभिव्यक्ति का माध्यम भी बन गई थी। इस प्रकार भरत के समय में जो अपभ्रंश एक जंगली बोली आभीरी के नाम से

---

its own and the circle of its speakers was limited to certain nomadic tribes who penetrated southwards and eastwards and were assimilated in the Hindu civilisation. It is they, however, who seem to have given to the older Prakrits the Apabhramsh form

Introduction to Bhavisayatta Kaha By Gune P. 51.

१—शब्दार्थौ सहितौ काव्य गद्य पद्य च तद्विधा।
संस्कृत प्राकृत चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥ १।३६ काव्यालंकार।

२—आभीरादिगिर. काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।
शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्॥ १।३६ काव्यादर्श।

३—Introduction to Bhavisayatta Kaha By Gune, P. 53

ख्यात थी वही बीच की पांच शताब्दियों की यात्रा में दंडी तक आते आते एक साहित्यिक भाषा बन गई।

९वीं शताब्दी के काव्यशास्त्री रुद्रट ने वाक्य के छः भेद करते हुए संस्कृत प्राकृत, मागध, पिशाच भाषा, शौरसेनी तथा अपभ्रंश का उल्लेख किया है। उसने जो अत्यंत महत्वपूर्ण बात कही है वह यह कि 'भूरिभेदो देश-विशेपादपभ्रंशः'[1] इससे पता चलता है कि अपभ्रंश तब तक प्रत्येक क्षेत्र में वहाँ के क्षेत्रीय प्राकृतों के प्रभाव से थोडा भिन्न होकर बोली जाती थी और प्राकृतें बोलचाल से बाहर हो चुकी थीं।

अपभ्रंश भाषा का व्यापक रूप से उल्लेख ९ वीं शताब्दी का काव्य-शास्त्री राजशेखर करता है। काव्यमीमांसा में कुल सात-आठ स्थानों पर वह विभिन्न प्रसंगों में अपभ्रंश का उल्लेख करता है। सर्वप्रथम अपने 'काव्य-पुरुप' के वर्णन में वह संस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रंश को जघन प्रदेश, पैशाची को पद और वक्ष प्रदेश को सबका मिश्रण बताता है।[2] इसके पश्चात् वह सफल कवियों के लिए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और भूतभाषा चारों की जानकारी आवश्यक बताता है।[3] दशम अध्याय में वह बताता है कि गौड़ प्रदेश वाले संस्कृत प्रेमी होते हैं, लाट (गुजरात) देश वाले प्राकृत प्रिय, सकल मरु-टक्क-भादानक (मारवाड़, पूर्वी पंजाब आदि प्रदेश) प्रदेश वाले अपभ्रंशप्रिय, आवंती प्रदेश (मध्य मालव) परियात्रा और दशपुर प्रदेश वाले भूतभाषाप्रिय तथा मध्यदेश में रहने वाले इन सब भाषाओं में अभ्यस्त होते हैं।[4] दशम अध्याय में ही राजचर्या का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि परिचारक वर्ग को अपभ्रंश का पर्याप्त अभ्यास होना चाहिए। परिचारिकाओं को भी मागध भाषा की जानकारी आवश्यक है। अंतःपुरवासिनी परिचारिकाओं को संस्कृत-प्राकृत दोनों का ज्ञान होना चाहिए तथा राजा के मित्रों को सभी भाषाओं का।[5] इसी अध्याय में राजा की कविगोष्ठी का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि सभा मंडप के मध्य में हाथ भर ऊँची एक

१—काव्यालंकार २।१२।

२—काव्यमीमासा—तृतीयोध्यायः।

३—वही—नवमोध्यायः।

४—वही—दशमोध्यायः।

५—वही— दशमोध्यायः।

वेदिका होनी चाहिए जिसपर राजा आसीन हो। इसके उत्तर में सस्कृत भाषा के कवि तथा उनके पीछे वैदिक, दार्शनिक, पौराणिक, स्मृतिशास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी आदि का स्थान होगा। पूर्व की ओर प्राकृत भाषा के कवि और उनके पीछे, नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव, तालावचर आदि होंगे। पश्चिम की ओर अपभ्रंशभाषा के कवि और भित्तिचित्रकार, माणिक्य बंधक, वैकटिक, सुनार लौहकार आदि होंगे। दक्षिण की ओर भूत-भाषा के कवि होंगे और उनके पीछे सामत और उनके दरबारी, रस्सियों पर नाचने वाले, खिलाड़ी आदि रहेंगे।[1]

राजशेखर के इन समस्त उल्लेखों से दो प्रधान निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथम तो यह कि नवीं शताब्दी में पारिचारक और परिचारिकाओं को अप-भ्रंश जानना आवश्यक था। संभवतः इसलिए कि अपभ्रंशभाषी जनता और केवल अपभ्रंश जानने वाले राजा के बीच उन्हें माध्यम का कार्य करते रहना पड़ता रहा होगा। अतएव जनता से लेकर राजा के व्यवहार की भाषा अपभ्रश थी अर्थात् तब तक प्राकृत की तरह अपभ्रश मृतभाषा नहीं हुई थी। दूसरा यह कि सस्कृत और प्राकृत अत्यंत उच्चवर्गीय पण्डित और राजसमाज में घिरती जा रही थी।[2]

अपभ्रश के सबंध में अतिम महत्वपूर्ण उल्लेख नमिसाधु का मिलता है। इसने रुद्रट के काव्यालकार की टीका में अपभ्रश के लिए 'प्राकृतमेवापभ्रश' लिखा है जिसका अर्थ यह होता है कि अपभ्रश एक दम नए सिरे से उत्पन्न नहीं हुई थी वरन उसकी पूर्ववर्ती साहित्यिक प्राकृतें ही देशी भाषाओं के योग से अपभ्रशों की अवस्था में विकसित हो गयीं।

इस प्रकार हमने देखा कि अपभ्रश भाषा मूलत' विभिन्न प्रदेशों की प्राकृतें ही हैं जो विदेशागत पश्चिमीय आभीरादि जातियों की भाषा-रचना से किंचित प्रभावित होकर उस रूप में आ गई जिस रूप में आज हमें वे प्राप्त हैं।

अपभ्रंश के पश्चिमोत्तर भारत से समस्त उत्तर भारत में प्रसरित होने की बात को आभीरों और गोपों के ऐतिहासिक विकास द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है। आभीरों के इस प्रसार-निर्देश में उनके सस्कारों को भी समझने

१—वही, दशमोध्यायः।

२—Introduction to Bhavisayatta Kaha By Gune. P P 56

का प्रयत्न किया जाएगा। इससे उस लोक-काव्य के रचना-संदर्भ को समझने में सहायता मिलेगी जो आभीरादि जातियों द्वारा रचा गया और कालांतर में हिंदी में विभिन्न युग-प्रवृत्तियों से किंचित परिवर्तित होते हुए विकसित हुआ।

महाभारत में आभीर जाति का उल्लेख अनेक बार हुआ है। नकुल के पश्चिम-विजय प्रसंग में आभीरों को सिंधु-तट पर वसने वाला कहा गया है।[1] शल्यपर्व में वलदेव की तीर्थ-यात्रा के प्रकरण में आता है कि राजा ने उस विनशन में प्रवेश किया जहाँ शूद्र आभीरों के कारण सरस्वती नष्ट हो गयी।[2] बाद में जब अर्जुन वृष्णियों की विधवाओं को लेकर द्वारका में चलते हुए पंचनंद में प्रवेश करते हैं तो दस्यु लोभी और पापकर्मी आभीर आक्रमण कर महिलाओं को छीन ले जाते हैं।[3] इन प्रसंगों के अतिरिक्त द्रोणाचार्य के सुपर्ण-व्यूह में भी इनके दर्शन होते हैं।[4] स्पष्ट ही महाभारत के उल्लेखों के अनुसार यह अधिकतर पश्चिमोत्तर प्रदेशों में रहने वाली असभ्य, शूद्रवत और लड़ाकू जाति थी। लेकिन बौद्ध-साहित्य में इन आभीरों से तो नहीं पर गोपालक जातियों से संबद्ध गोपजाति बड़ी ही शालीन चित्रित की गई है। खुद्दक निकाय (पाँचवीं शती ई० पू० से पहली शती ई० पश्चात तक) के 'सुत्त निपात' नामक ग्रंथ में एक धनिय गोप की चर्चा आती है। इससे संबद्ध एक रचना पीछे दी जा चुकी है। यह गोप भी महीनदी के तीर का निवासी है। महीनदी सौराष्ट्र में है[5] जो बाद में चल कर अपभ्रंश-प्रदेश हुआ। आभीरों और गोपों में मुख्य अंतर यह है कि एक युद्ध-प्रिय घुमक्कड़ जाति है तो दूसरी हृष्टमना गोपालक कृषक जाति।

ईस्वी सन् की दूसरी शती में काठियावाड़ के सुंद नामक स्थान में प्राप्त महाक्षत्रप रुद्रदामन के एक अभिलेख में उसके एक आभीर सेनापति रुद्रभूति के दान का उल्लेख है।[6] इससे दूसरी शताब्दी में काठियावाड़ में आभीरों का

१—महाभारत, पर्व २, अध्याय ३२, श्लोक १०।

२—वही, पर्व ६, अध्याय ३७, श्लोक १।

३—वही, पर्व १६, अध्याय ७, श्लोक ४४-४७।

४—वही, पर्व ७, अध्याय २०, श्लोक ६।

५—पाणिनिकालीन भूगोल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल।

६—डी० आर० भंडारकर : इंडियन एंटिक्वेरी, १९११ ई०, पृ० १६।

निवास समझा गया है। एन्थोवेन ने नासिक अभिलेख (३०० ई०) के आभीर राजा ईश्वरसेन की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए ई० की तीसरी शती में आभीरों का काठियावाड़ में आधिपत्य प्रमाणित किया है।[1] समुद्रगुप्त के प्रयाग वाले लौह स्तम्भ लेख (३६० ई०) के अनुसार आभीर जाति उस समय गुप्त साम्राज्य के सीमावर्ती राजस्थान, मालवा, दक्षिण पश्चिम तथा पश्चिमी प्रदेशों में डटी हुई थी। पुराणों के साक्ष्य पर कहा गया है कि आंध्र भृत्यों के बाद दक्षिण आभीर जाति के अधिकार में आ गया और छठी शती के बाद निकल गया। ताप्ती से देवगढ़ तक का तत्कालीन प्रदेश इन्हीं के नाम पर विख्यात था। जार्ज इलिएट के अनुसार ८ वीं शती में जब काठी जाति ने गुजरात में प्रवेश किया तो उसने देखा कि उसका अधिकाश भाग आभीरों के हाथ में है। एन्थोवेन ने सिद्ध किया है कि खानदेश में आभीरों का स्थायी निवास एक महत्वपूर्ण तथ्य है। इसके बाद तो आभीरों का सपूर्ण देश में इतिहास व्याप्त है ही।

अपभ्रंश साहित्य और हर्षवर्द्धनोत्तर राजशक्तियाँ

हर्षवर्द्धन के पतन के बाद से अपभ्र श-साहित्य का व्यापक प्रसार और उसमें रचित साहित्य प्राप्त होता है। इसमें हर्षवर्द्धनोत्तर राजशक्तियों की भाषा-नीति का भी हाथ था। यह राज-शक्तियाँ केंद्रीय शक्ति के विश्रृखलित होने के कारण पारस्परिक सघर्ष में रत हो गई। कन्नौज के भंडी के वशजों के अत के पश्चात अनेक निर्बल शासक हुए। इधर कन्नौज के दक्षिण में राष्ट्रकूट, पूर्व में पाल और दक्षिण-पश्चिम में प्रतिहार राज्य कन्नौज को लेने का निश्चय कर रहे थे। कन्नौज इन शतियों में वही स्थान प्राप्त कर चुका था जो स्थान मौर्य और गुप्त काल में मगध ने प्राप्त किया था। इसलिए कन्नौज को लेने का अर्थ था उत्तर भारत के केंद्र को लेना। लेकिन कन्नौज को वही ले सकता था जो कन्नौज को अपनी राजधानी बनाए। इसीलिए एक बार विजयी होने पर भी राष्ट्रकूट नरेश कन्नौज को न पा सके और प्रतिहार नागभट्ट ने कन्नौज ले लिया। कुछ समय बाद कन्नौज गाहड़वारों के अधिकार में आ गया।

१—आर० ई० एन्थोवेन : ट्राइब्स् एड कास्टस् आफ बाम्बे भाग १, पृ० २१ (गुणे द्वारा भविस्सयत कहा कि भूमिका में उद्धृत)

राज्याश्रय की दृष्टि से वंगदेश के पाल नरपति बौद्ध मतानुयायी होने के कारण सहजयानी बौद्ध सिद्धों को प्रश्रय देते थे। सहजयानी बौद्ध लोकभापा अपभ्रंश में अपने चर्यापद रचते थे। इस तरह स्वभावतः पाल नरपतियों का लोकभापा के प्रति उदार दृष्टिकोण हो गया था। इसका एक कारण संभवतः यह भी था कि पाल राजवंश का स्थापक गोपाल जन-निर्वाचित शासक था। चौरासी सिद्धों में से अधिकांश ने इन्हीं नरेशों की छत्रछाया में अपनी धर्म-साधना की। दक्षिण के राष्ट्रकूटों को भी लोकभापा के महान कवियों के संरक्षक होने का गौरव प्राप्त है। कहा जाता है कि राष्ट्रकूटों के कन्नौज पर आक्रमण के ही समय अपभ्रंश के सर्वश्रेष्ठ कवि स्वयंभू उसके किसी मंत्री रयडा धनंजय के साथ दक्षिण चले गए थे। अपभ्रंश भापा को विशेष प्रोत्साहन सोलंकी नृपतियों ने भी दिया। ये नरेश अधिकांश या तो जैन हुए या जैन मत समर्थक जिनमें सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल का नाम विशेप प्रसिद्ध है। इन नरेशों ने जैन आचार्यों को—जो सब अपभ्रंश भापा के पृष्टपोपक हुआ करते थे—राज्याश्रय और अतुल सम्मान दिया। प्राकृतव्याकरण में अपभ्रंश भापा का अपभ्रंश के दोहों के उदाहरण के सहित विवेचन अपभ्रंश-भापा और काव्य को अत्यधिक सम्मान और स्थायित्व दिलाने में समर्थ हुआ।

अपभ्रंश के ऐहिकतापरक और धार्मिक मुक्तक

सिद्धराज जयसिंह के आश्रित आचार्य हेमचंद्र ने सिद्धहैमशव्दानुशासन के अतिरिक्त छंदोनुशासन, काव्यानुशासन, देशीनाममाला कुमारपालचरित आदि ग्रंथों की रचना की। वहुत ही अधिक निश्चित होकर प्राकृतव्याकरण के चौथे प्रकरण में संगृहीत इन लगभग डेढ़ सौ दोहों को संपूर्ण अपभ्रंश मुक्तक साहित्य का प्रतिनिधि संकलन माना जा सकता है और इससे अपभ्रंशमुक्तक-काव्य के कवि की, सामाजिक स्थिति और उसके मूल स्वर का अंदाजा लगाया जा सकता है। इस निवंध में हेमचंद्रकृत प्राकृतव्याकरण को इसी रूप में लिया जायगा।

इन शताब्दियों में विशेपतया दो प्रकार का साहित्य रचा जा रहा था।[1] प्रथम धर्म और उपदेश का, द्वितीय शृंगार और वीर का। जैन धर्माचार्य, बौद्ध सिद्धाचार्य, नाथमत के पोपक साधु प्रथम कोटि की रचना कर रहे थे। इस श्रेणी का साहित्य अधिकतर धार्मिक मठों और मंदिरों में संरक्षित हुआ

१—अपभ्रंश-भापा और साहित्य—प्रो० हीरालाल जैन, ना० प्र० प० सं० २००२ अं० ३-४।

है। कुछ दरवारों में भी पाये गए हैं जैसे 'वौद्धगान ओ दोहा' की नेपाल दरवार में। कुछ तिव्वत आदि पड़ोशी देशों में भी मिले हैं। द्वितीय श्रेणी का साहित्य अधिकतर नष्ट हो गया है। वे आख्यान काव्य जो कि जैनधर्म के मत प्रतिपादन के लिए थे वे तो किसी न रूप में बच गए परतु वे विशुद्ध ऐहिकतापरक मुक्तक काव्य, जो जनकवियों द्वारा रचे गए वे अत्यधिक मात्रा में लुप्त हो गए। हेमचद्र के द्वारा संकलित अपभ्रंश दोहों की सरसता, प्रौढ़ता, लोकप्रियता, कहीं-कहीं टूटे वाक्यों, पदों या प्रसंग से टूटे हुए छंदों का होना निश्चित रूप से इस तथ्य की घोषणा करते हैं कि अपभ्रंश में इस जाति का विशाल साहित्य था जो राज्याश्रय न प्राप्त होने से समाप्त हो गया। हेमचद्र के दोहे १२ वीं शताब्दी अर्थात् अपभ्र श के अतिम दिनों में संकलित हुए थे। इसके पूर्व अपभ्र श साहित्य छठीं शताब्दी से ही लिखा जा रहा था, ऐसा कहा जा चुका है। इन छः शताब्दियों में इस तरह के केवल डेढ़-दो सौ छद ही रचे गए हों, ऐसा सभव नहीं जान पड़ता। किंतु आज तो उस विशाल साहित्य की ऐहिक प्रवृत्तियों को जानने के लिए हमारे पास केवल हेमचद्र के दोहे, प्रबधचिंतामणि में सगृहीत मुंज के दोहे, कुमारपाल प्रतिबोध के कतिपय दोहे, प्राकृत पैंगलम् और छदोनुशासन की कुछ रचनाएं तथा सदेश रासक के छंद आदि ही बचे हैं। जब तक अन्य रचनाओं का पता नहीं चलता तब तक इन्हीं से सतोष करना पड़ेगा।

अपभ्रंश-साहित्य का सामाजिक परिवेश

आश्चर्य की बात यह है कि इन ऐहिकतामूलक काव्यों का लेखन, संकलन संपादन पश्चिमी भारत में ही हुआ। पूर्वी भारत में अधिकाश धर्म-प्रभावित रचनाएँ ही मिलती हैं। इसी तथ्य की ओर सकेत करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि हिंदी साहित्य में दो भिन्न प्रकृति के आर्यों ने ग्रंथ लिखे हैं। पूर्वी आर्य अधिक भावप्रवण, आध्यात्मिकतावादी और रुढि-मुक्त थे और पश्चिमी या मध्यदेशीय आर्य अपेक्षाकृत अधिक रुढ़ि-रूढ, परपरा के पक्षपाती, शास्त्रप्रवण और स्वर्गवादी थे।[1] पश्चिमी या मध्यदेशीय आर्यों की यह परपराप्रियता तूरानियन आक्रमण के पूर्व तक साहित्य में व्याप्त है। परतु, जैसा कि सकेत किया जा चुका है, सन् ई० की प्रथम शताब्दी के आसपास उन सरस ऐहिकतापरक मुक्तकों का विकास-

---

१—हिंदी-साहित्य की भूमिका पृ० १११।

हुआ जो पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं मिलतीं और परवर्ती साहित्य में जो संस्कृत काव्यों को प्रभावित करती हैं और भाषा-कविता में अपना स्वतंत्र विकास करती हैं। अपभ्रंश के फुटकल दोहे इसी भाषा-कविता की परंपरा के द्योतक हैं।

इन दोहों के पीछे एकप्रकार की ग्रामीण संस्कृति का स्पष्ट आभास मिलता है जिसमें एकप्रकार की विलक्षण जीवंतता और गतिशीलता व्याप्त
है। इन जातियों के लोग अपनी स्त्रियों से और
ऐहिकतापरक मुक्तका इनकी स्त्रियाँ अपने पतियों से द्विविधा-रहित
का सांस्कृतिक परिवेश मुक्त मनोभाव से प्रेम करती हैं। इनका राग अत्यंत
उष्ण होकर प्रकट हुआ है। इनके राग की भूमिका
में अक्सर एक विचित्र प्रकार की क्रियाशीलता है। क्रियाशीलता अर्थात् अपभ्रंश की प्रेम कविता के पीछे सदा युद्ध की टंकार और शस्त्र का व्यवसाय है। अपभ्रंश की नारी पति के साथ युद्ध में जाती है। वह ज्वलंत भाव से कहती है कि तेरे और मेरे दोनों के रण में जाने पर जयश्री को कौन ताक सकता है? यम की घरनी को केशों से पकड़कर, कहो कौन सुख से रह सकता है।

पइँ मइँ वेहिँ वि रण गयहिं को जयसिरि तक्केइ।
केसहिं लेप्पिणु जमघरिणि भण सुहु को थक्केइ॥[1]

वह फिर कहती है कि हमने और तुमने जो किया उसे बहुत से लोगों ने देखा। उन्होंने देखा कि वह भारी समर हम लोगों ने क्षण भर में जीत लिया।

तुम्हेंहिँ अम्हेंहिँ जें किअउँ दिट्ठउँ बहुअ-जणेण।
तं तेवड्डु समर भरु निज्जिउ एक्क खणेण॥[2]

वह कहती है कि हे प्रिय! उस देश में चलो जहाँ खड्ग का व्यवसाय होता है। रण-दुर्भिक्ष में हम लोग भग्न हो गए हैं बिना युद्ध के स्वस्थ नहीं होंगे।

खग्ग विसाहिउ जहिं लहहु पिय तहिं देसहिं जाहुँ।
रण दुब्भिक्खें भग्गाइं विणु जुज्झें न वलाहुँ।[3]

१—प्राकृत व्याकरण ४ । ३७० । ३

२—प्राकृत व्याकरण ४ । ३७१ । १

३—प्राकृत व्याकरण ४ । ३८६ । १

अपभ्रंश में प्रत्येक कन्या अपनी अन्यतम इच्छा को व्यक्त करती है कि इस जन्म में और उस जन्म में भी हे गौरी ! वह कंत देना जो अकुश से अवश प्रमत गज से हँसता हुआ भिड जाय।

आयहिँ जम्महिँ अन्नहिँ वि गोरि सु दिज्जहि कंतु।
गय मतहँ चतकुसहँ जो अभिडइ हसतु।[1]

इस मनोभाव को अभिव्यक्त करने वाले बहुत से छद अपभ्रंश में रचे गए होंगे जिनमें से अब हेमचंद्र-व्याकरण आदि में कुछ ही अवशिष्ट हैं ऐसा विश्वास किया जा सकता है। आगे चलकर इस जाति की रचनाओं की विस्तृत समीक्षा करने का अवसर आएगा। यहाँ कथ्य यह था कि अपभ्रश-प्रेम-कविता की पृष्ठभूमि में युद्ध-शौर्य है। यह विदेशागत घुमक्कड़ (न्यूमेडिक) स्वच्छ-दता कामी जातियाँ ही जो पूर्णत. भारतीय बन चुकी थीं अपभ्रश के ऐहिकता-परक काव्यों की जननी हैं। ऐसा होना असभव नहीं है कि इनमें से अधिकाश क्षत्रिय बनकर जैन भी हो गई हों। परवर्ती शताब्दियों का जैन मतावलबी राजा उसी प्रकार युद्धप्रिय था जिस प्रकार हिंदू राजा। प्रवध-चितामणि में एक दोहा आता है जिसमें इस प्रसग का एक संकेत मिलता है।

एहु जम्मु नग्गह गियउ भड-सिरि खग्गु न भग्गु।
तिक्खा तुरिय न माणिया गोरी गलि न लग्गु।
प्रवध चिंतामणि।

एक दिगम्बर जैन साधु जो कि आगे चलकर राजा भोज का कुलचन्द्र नामक सेनापति हुआ, कहता है यह जन्म अकारथ गया जो सुभटों के सिर पर तलवार नहीं टूटी, तीक्ष्णगामी अश्वों की सवारी नहीं की तथा गौरवर्णा युवती के गले नहीं लगा। इससे कई बातें सूचित होती हैं। पहली तो यह कि यह सभवतः किसी ऐसी ही लड़ाकू जाति का व्यक्ति था जो कि अश्वघोषकृत सौंदरनद के नद की तरह भिक्षु हुआ था। दूसरा यह कि उस समय के अधिकांश व्यक्तियों की यह लालसा रहती थी कि ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बिताते हुए एक शूर की तरह वीरगति प्राप्त करें। उस युग का यह एक आदरणीय जीवनोद्देश्य था। ऐसा होने के लिए उस युग में दैनिक युद्धों का एक विचित्र वातावरण भी बन गया था। न केवल मुसलमानों से ही इन छोटे-छोटे राज्यों को टक्कर लेनी पड़ती थी वरन वे स्वयं भी कन्याहरण, अपमान के प्रतीकार,

---

१—प्राकृत व्याकरण ४।३८३।३।

शौर्यप्रदर्शन आदि के लिए युद्ध किया करते थे। हिंदी के आरंभिक आख्यान काव्यों में वीरता का आदर्श अत्यंत विस्तृत रूप में चित्रित हुआ है।

आलोच्य युग का धार्मिक परिवेश

व्यापक विशृंखलता के इस युग में धार्मिक आंदोलनों के विविध रूप संपूर्ण देश में दिखलाई पड़ रहे थे। ऊपर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का वह मत उद्धृत किया गया है जिसमें उन्होंने कहा है कि चौदहवीं शताब्दी तक पूर्वी प्रदेशों में सहजयानी और नाथपंथी साधकों की साधनात्मक रचनाएँ प्राप्त होतीं हैं और पश्चिमी प्रदेशों में नीति, शृंगार और कथानक साहित्य की कुछ रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। एक में भावुकता, विद्रोह और रहस्यवादी मनोवृत्ति का प्राधान्य है और दूसरे में नियमनिष्ठा, रूढ़िपालन और स्पष्टवादिता का स्वर है, एक में सहज सत्य को आध्यात्मिक वातावरण में सजाया गया है दूसरी में ऐहलौकिक वायुमंडल में। चौदहवीं-पंद्रहवी शताब्दियों में दोनों प्रकार की रचनाएँ एक में सिमटने लगी थी। दोनों के मिश्रण से उस भावी साहित्य की सूचना इसी समय मिलने लगी जो समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला है।[1] डा० ग्रियर्सन ने भक्ति के इस वेग को ईसाइयत का प्रभाव माना है। यह मत अब निरर्थक सिद्ध हो चुका है लेकिन उस ईसाई आलोचक ने अपने विवेचन में इस भक्ति-साहित्य के महत्व को एक श्रद्धालु की तरह निरूपित किया था। उसने कहा था कि यह भक्ति-आंदोलन 'बिजली की चमक के समान अचानक' सारे उत्तर भारत में फैल गया। कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चित नहीं कर सकता। डा० द्विवेदी ने इसका समुचित कारण बताते हुए लिखा है कि 'जिस बात को ग्रियर्सन ने अचानक बिजली की चमक के समान फैल जाना लिखा है वह ऐसा नहीं है। उसके लिए सैकड़ों वर्ष से मेघखंड एकत्र हो रहे थे। फिर भी ऊपर-ऊपर से देखने पर लगता है कि उसका प्रादुर्भाव एकाएक हो गया। इसका कारण उस काल की लोकप्रवृत्ति का शास्त्रसिद्ध आचार्यों और पौराणिक ठोस कल्पनाओं से युक्त हो जाना है। शास्त्रसिद्ध आचार्य दक्षिण के वैष्णव थे।[2] डा० द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल-कथित उस मत का भी निराकरण किया जिसमें उन्होंने कहा था कि हिंदू मंदिरों के ध्वंस के बाद हताश होकर

१—हिंदी-साहित्य पृ० ८७।
२—हिंदी-साहित्य की भूमिका पृ० ४५।

भगवद्भजन करने लगे। वस्तुतः यह मत एक सीमा तक ठीक है कि 'भक्ती द्राविड़ ऊपजी'।

लेकिन वस्तुत. दक्षिण के आलवार तथा अन्य आचार्यों से भी बहुत प्राचीन महायानी बौद्ध आचार्यों ने और बौद्धोत्तर पांचरात्र आगम के प्रवर्तकों ने भक्ति का उद्भव और उसका सर्वांगीण विकास किया था। माहात्म्य, स्तोत्र, पूजा, देव की लोकोत्तरता आदि भक्ति के उद्भव के लिंग हैं। महायान बौद्ध सूत्रों के अध्ययन से बुद्ध की चक्रादि की प्रतीकात्मक पूजा, स्तूपाभिवादन, प्रदक्षिणा, चरण-पादुका-पूजन, पुनः मंदिर निर्माण, अपने देव के समीप 'परित्तपाठ' आदि का क्रमिक विकास भक्ति के उद्भव को स्पष्ट बताता है। बुद्ध की लोकोत्तरता, उसके लिए त्रिकायवाद की कल्पना, करुणा का अंतिम तत्व के रूप में प्रतिष्ठापन, इन दार्शनिक सिद्धांतों के क्रमिक विकास में ही भक्ति पुष्पित और फलित हुई है। भक्ति ने अपने निरवच्छिन्न शीतल प्रवाह से उन समस्त संतप्त प्राणियों को शांति प्रदान किया जिनका जीवन शुष्क कर्म या ज्ञान से नीरस हो गया था। भक्ति के विकास में बौद्धों के समान ब्राह्मण भी भागीदार बने। व्यास की समस्त रचनाएँ भक्ति की ही परिणति हैं। आगे चलकर ७ वीं से ११ वीं शती तक के चौरासी सिद्धों में भक्ति अप्रत्यक्ष रूप से निरंतर प्रवहमान थी। इसीप्रकार इन्हीं सहजयानी सिद्धों में से ही टूटकर निकले हुए गोरखनाथ के मत में भी भक्ति की भावनाएँ नितांत शून्य नहीं हो गई थीं। डा० बड़थ्वाल के अनुसार 'भक्तिधारा का जल पहले योग के ही घाट पर बहा था।'[1] तात्पर्य यह कि उत्तर भारत में भक्ति धर्म अनेक संप्रदायों में अनेक रूपों में अप्रत्यक्ष रूप से जीवित था।

दक्षिण में उक्त आलवारों की परंपरा में आचार्य श्री रामानुज का प्रादुर्भाव हुआ। ८वीं शती में प्रादुर्भूत अद्वैत मत के प्रबल प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर की प्रतिक्रिया में चार मत-सम्प्रदाय खड़े हुए। रामानुजाचार्य का श्री संप्रदाय मध्वाचार्य का ब्राह्म संप्रदाय, विष्णु स्वामी का रुद्र संप्रदाय और निम्बार्काचार्य का सनकादि संप्रदाय।

हमारे आलोच्य काल में रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा में होने वाले 'आकाशधर्मा गुरु' स्वामी रामानंद को मध्ययुग की समग्र स्वाधीन चिंता

१—हिंदी कविता में योग-प्रवाह, ना० प्र० प०, भाग ११ अंक ४।

का भी गुरु होने का अद्वितीय श्रेय प्राप्त हुआ। उनके शिष्य न केवल सगुण रामोपासक हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास हुए वरन तुलसीदास की परंपराओं के एकदम विपरीत कबीर और अन्य निर्गुण भक्त भी हुए। विष्णु स्वामी के रुद्र संप्रदाय में आगे चलकर वल्लभाचार्य हुए जिन्होंने पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन किया और जिनकी परंपरा में सूरदास नंददास और अष्टछाप के अन्य प्रसिद्ध कवि हुए। ब्राह्म संप्रदाय में चैतन्यदेव दीक्षित हुए थे जिनका हिंदी पर सीधा प्रभाव नहीं है वरन गौड़ीय वैष्णव मतानुयायी जीवगोस्वामी जैसे भक्तों के माध्यम से है। सनकादि संप्रदाय में राधा-भाव की प्रतिष्ठा हुई। गोस्वामी हितहरिवंश इसके मुख्य भक्त थे। ब्राह्म संप्रदाय या उसके परिवर्तित रूप गौड़ीय मतवाद, सनकादि संप्रदाय और रुद्र संप्रदाय आदि का परोक्ष प्रभाव हमारे आलोच्य काल के रीतिकाव्य पर पड़ा है।

संपूर्ण अपभ्रंश-मुक्तक-साहित्य में धार्मिक साहित्य के नाम पर वेदवाह्य बौद्ध सहजयान और जैन श्रावकधर्म की रचनाएं मिलती हैं। कालांतर में उत्तरकालीन अपभ्रंश में (अत्यधिक वाद के भाषा-प्रयोगों के साथ) गोरखनाथ की साखियां मिलती है। यही अपभ्रंश में संप्रति प्राप्त धर्म-साहित्य की कुल पूंजी है।[1] हिंदी-काव्य में इसका विकास केवल संत-काव्य-धारा के रूप में हुआ है।

१—हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण मे दो दोहे राधा और हरि के नाम से भी आते हैं।

१—हरि नचाविउ पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ।
एम्वहिं राह पओहरह जं भावइ त होऊ ॥ ४२०।२ ॥

(हरि को प्रागण मे नचाया लोगो को विस्मय में डाल दिया। अब राधा के पयोधरों को जो भावे सो हो)

२—एकमेक्कउ जइवि जोएदि हरि सुट्ठु सव्वायरेण।
तो वि द्रहि जहिं कहिं वि राही ॥
को सक्कइ सवरेवि दड्ढ-नयणा नेहिं पलुट्टा ॥

(यद्यपि हरि प्रत्येक व्यक्ति को समान प्रेम और सम्मान के साथ देखते हैं लेकिन फिर भी उनकी दृष्टि वहीं स्थिर है जहाँ राधा खड़ी है। स्नेह से उमड़ती हुई आँखों को भला कौन रोक सकता है)

हेमचंद्र ने इन दोहों को १२ वीं शताब्दी मे संकलित किया। ये निश्चित

परंतु हमारे आलोच्य काल के हिंदी-पक्ष की रीतिकालीन ऐहिकतामूलक जो रचनाएँ उपलब्ध होती हैं उनमें प्राप्त शृंगार की प्रवृत्ति बिलकुल वही नहीं है जो हेमचंद्र के प्राकृतव्याकरण में प्राप्त दोहों की है। रीतिकालीन शृंगारिक प्रवृत्ति के पीछे राधा-कृष्ण को लेकर रचा हुआ भक्तिकाल का समूचा साहित्य है जिसकी चर्चा यथावसर की जाएगी।

जिस संत काव्य का उल्लेख ऊपर अपभ्रंश के धार्मिक मुक्तक-साहित्य की एकमात्र विरासत के रूप में हुआ है उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि पर थोड़ा विचार कर लेना अच्छा होगा। मुसलमानों के भारत में आगमन के पश्चात हिंदू जाति-व्यवस्था अधिकाधिक संकीर्ण होती गई। जो उच्च जातियाँ थीं वे निम्न जातियों से अधिकाधिक दूर होती गईं। इन छोटी जातियों में प्रमुख थी वयनजीवी जातियाँ जो मुलतान से पूर्वी बंगाल तक फैली हुई थी। भारतीय जातियों का अध्ययन करने वाले पंडितों ने बताया है कि इस जाति ने एक साथ ही मुसलमान-धर्म स्वीकार कर लिया। इन्हीं सद्यः परिवर्तित जुलाहा जातियों में से १२ वीं शती में मुलतान का प्रसिद्ध अपभ्रंश कवि अद्दहमाण था जिसने संदेशरासक के रूप में एक अमर विरह-संदेश-काव्य दिया। पश्चात कबीर आदि के रूप में जो छोटी जातियों की रचना-परंपरा चली उससे तो हिंदी-साहित्य गौरवान्वित हुआ ही। केवल अद्दहमाण की रचना-मात्र यह बताती है कि उस काल की वयनजीवी जाति अत्यंत समृद्ध कला-

---

रूप से उनके पूर्व की या समसामयिक रचनाएँ होंगी। इन दोहों में शृंगार के आलंबन के रूप में राधा और हरि का नाम आया है। इसके पूर्व भी ८ वीं शती की रचना 'वेणी संहार', ९ वीं शताब्दी की साहित्य-शास्त्रीय रचना ध्वन्यालोक और ११ वीं शती की रचना क्षेमेंद्र कृत 'दशावतार' में राधा का नाम शृंगार के ही आलंबन के रूप में आ चुका है। इसी काल में रचित धार्मिक ग्रंथों में राधा का नाम नहीं आता। भागवत पुराण (१० वीं शती) में राधा का नाम नहीं बल्कि कृष्ण की विशेष प्रिया एक गोपिका का संकेत मिलता है जो कि आगे चलकर राधा का रूप ग्रहण कर लेती है। यह उस समय होता है जब कि धर्म और साहित्य नीरक्षीरवत मिल जाते हैं। दार्शनिक रचना 'गोपालतापनी उपनिषद' (१२ वीं शती) में भी राधा का नाम आता है। इसलिए जान पड़ता है कि राधा लोक साहित्य से शिष्ट साहित्य और शिष्ट साहित्य से ही धर्म साहित्य में गृहीत हुईं। विद्यापति की रचनाओं में राधा का यही लोक-साहित्य-परक रूप मिलता है।

चेतना से पूर्ण थी। जिस शिल्प में उनका दैनिक जीवन लगता था वह उस समय का सर्वाधिक सूक्ष्म और उपयोगी शिल्प था। 'पाट पटंबर' बनाना कोई आसान काम नहीं था।

इधर नवागत मुसलमानों और हिंदुओं का आपसी संघर्ष और मानसिक तनाव भी चढ़ाव पर था। ईश्वर की धर्मनिरपेक्ष सत्ता का मनोरम आभास पाकर आगे बढ़ने वाले फारस के भारतीय संस्करण सूफी कवियों ने हिंदुओं के लोकजीवन में, उनकी रागात्मक कहानियों को पकड़कर प्रवेश करना आरंभ किया। उनकी भाषा ली, उनकी कथाएँ ली, उनका लोकजीवन लिया और उसको एक समयोचित उदार अर्थ दिया कि ब्रह्म नारी के समान प्रेमस्वरूप है और जीव व्याकुल साधक प्रेमी पुरुष है। सूफियों का उल्लेख यहाँ इसलिए आवश्यक हुआ कि कबीर आदि संतों के ऊपर सूफियों के 'प्रेम की पीर' का विशेष प्रभाव है।

अब उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है जो भक्ति काव्य के फलने-फूलने का कारण बनी और रीतिकाल के उदय में सहायक।

हिंदी-मुक्तक और मुसलमान-काल

मुसलमान संस्कृति का भक्तिकाल पर तो कोई उल्लेख्य प्रभाव नहीं पड़ा लेकिन रीतिकाल पर उसका विशेष प्रभाव पड़ा। इस सांस्कृतिक चरण में नागरता का सर्वाधिक विकास हुआ जिससे अपभ्रंश काव्य का सहजोन्मेष हिंदी में आलंकारिकता से उत्तरोत्तर प्रभावित होता गया। इन नवोदित प्रवृत्तियों को समझने के लिए मुसलमान-काल की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और शैल्पिक परिस्थितियों की जानकारी आवश्यक है।

दास वंश (१२००-१२९०) खिलजी वंश (१२९०-१३२०) और तुगलक वंश (१३२०-१४१२) के लगभग २०० वर्षों के शासन-काल में

भक्ति और रीतिकाल का राजनीतिक परिवेश

राजपूत राजाओं की स्थिति पूर्ववत सुदृढ़ तो नहीं रह गयी थी फिर भी वे निःशक्त नहीं हुए थे। अब भी ये बराबर अपनी पारस्परिक फूटी आदि दुर्गुणों के शिकार थे। मुहम्मद गोरी की विजय और पृथ्वीराज की पराजय से भी उन्हें चेत नहीं हुआ था। फलतः महत्वाकांक्षी निपुण सेनानी बाबर को इस देश में सफलता मिली और उसने राणा सांगा को १५२७ ई० में हराकर उत्तरी

भारत में मुगल-शासन की स्थापना की। फिर क्रमशः ३०० वर्षों के शासन-काल के भीतर अकबर, जहांगीर और शाहजहां जैसे उल्लेख्य शासक हुए जिन्होंने देश के न केवल राजनीतिक मानचित्र को प्रभावित किया वरन सांस्कृतिक जीवन को भी समृद्ध बनाया। अकबर ने बड़े पैमाने पर राज्य-विस्तार किया और अपनी उदार मनोवृत्ति के कारण वह एक सास्कृतिक समन्वयवाद का जनक और प्रचारक बना। उसके काल में ही हिंदी के सूर और तुलसी की महान प्रतिभाएं प्रस्फुटित हुई थीं। जहागीर विशेष विलासी और किंचित असहिष्णु था लेकिन चित्रकला की ओर उसकी भी रुचि थी। किंतु शाहजहां को उसकी सूक्ष्म कला-संपन्न वस्तु-निर्मित्तियों के कारण साहित्य का विद्यार्थी याद करता है जिनका सीधा प्रभाव उस युग की मुक्तक कविता पर पड़ा है। रीतिकाल का आरंभ इसी के शासन-काल में हुआ। जिस ह्रासोन्मुख सामतवाद की चर्चा हर्षवर्द्धन के पतन से औरंगजेब के साम्राज्य के पतन तक की गई है उसमें इन नरपतियों का शासन-काल अपवाद स्वरूप है। तत्पश्चात औरगजेब का अवतरण देश के सास्कृतिक जीवन का बहुत बड़ा दुर्भाग्य है। उसने न केवल मदिरों के नाम पर बनी हुई अद्भुत वास्तुनिर्मितियों को ध्वस्त किया वरन कला-शिल्प को भी क्षति पहुंचाई। उसके ही शासन-काल में बुदेलों के सरदार छत्रसाल, मराठों के छत्रपति शिवाजी तथा अन्य धर्म संप्रदायों ने उससे जमकर लोहा लिया। छत्रसाल और छत्रपति शिवाजी से हमारे जातीय महाकवि भूषण का निकट सबध है। उन्होंने विभोर होकर कहा था 'सिवा को सराहौं कि सराहौं छत्रसाल को'। औरगजेब के प्रखर अहंवाद ने उसके सभी पुत्रों के व्यक्तित्व को निर्जीव बना दिया और बिखरते साम्राज्य को सभालने में समर्थ कोई उत्तराधिकारी नहीं पैदा हुआ। इसी समय तहस-नहस कर देने वाले विदेशियों का आक्रमण भी आरभ हो गया।

सन् १५२६ से लेकर १८वीं शताब्दी के अत तक के इस राजनीतिक इतिहास का सर्वेक्षण करने के पश्चात स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है कि दिल्ली साम्राज्य स्वेच्छाचारी एकतत्रीय शासन प्रणाली के अतर्गत था। राजा की आकाक्षा ही विधि थी। अवश्य ही अनेक मुगल सम्राट ईश्वर और पार्षदों के विचारों से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रभावित होते थे परतु उन्होंने अतिम निर्णय और शक्ति को बराबर अपने हाथ में रखा। उत्तराधिकार का निश्चित नियम न होने के कारण प्राकृतिक नियम असि-परीक्षा ही प्रमुख

नियम था। मुगल सम्राट अकबर को छोड़कर मुगल कभी भूले नहीं कि वे मुसलमान हैं और इसी हैसियत से शासन करते हैं पर औरंगजेब को छोड़कर उनमें से अधिकांश उदार थे। मुगल साम्राज्यवादी थे। अधिकृत राज्य यदि साम्राज्य में मिला नहीं लिए गए तो करद होते थे। ऐसी अवस्था में देशी राजा प्रायः दिल्ली के रंगमहल की विलासिता का देशी ढंग पर अनुकरण करते थे। रीतिकालीन कविता इसी अनुकरण की अभिव्यक्ति है इसीलिए उसमें विदेशीपन अधिक आ गया है और उसी मात्रा में जीवतंता कम हो गयी है। मुगल शासन का उत्तरार्द्ध भारतीय जनता के उत्तरोत्तर खोखले होने का इतिहास है।

भक्ति और रीति काल का सामाजिक परिवेश

सामाजिक दृष्टि से यह तीन शताब्दियाँ भारत के सामाजिक जीवन में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं उपस्थित कर सकीं। हर्षवर्द्धनोत्तर मध्यकाल को ह्रासोन्मुख सामंतवादी कहा गया है। मुगल काल में सपूर्ण देश में मनसवदारों अथवा सामंतों का जाल-सा बिछा हुआ था। एक मनसवदार के ऊपर दूसरा दूसरे के ऊपर तीसरा इसी प्रकार समस्त राजकीय पद सामंतों में वितरित हो गए थे।[1] सम्राट का जीवन ही इन सामंतों का भी आदर्श होता था। जो शान-शौकत, विलास-प्रमोद शाही दरबार में होता था उसका लघु संस्करण ये भी अपने महलों में उपस्थित करना चाहते थे। जीवन भर विवाह करते जाना, हरमो की तरह कई कई रानियों, रक्षिताओं, नर्तकियों से अपना रंगमहल भर लेना इनका स्वभाव हो गया था। राजपूत रजवाड़े भी इन बातों में कोई कोर कसर नहीं उठा रखते थे। दावतें, मदिरा, नृत्य, वस्त्राभूषण, रखेलियों का खर्च यह सब अंततः मध्यवर्ग और निम्नवर्ग पर ही पड़ता था।

छोटे राज्य कर्मचारियों, दूकानदारों और व्यापारियो से संगठित मध्यवर्ग की अवस्था असुरक्षित और दयनीय थी। इसी मध्यवर्ग का एक दूसरा भाग कलाकारों और शिल्पकारों का था। यह वर्ग अपनी प्रतिभा को दरबारों के मनोरंजन और प्रसाधन-संपादन में लगाता था क्योंकि जनता इनके काव्य अथवा इनके शिल्प का मूल्य नहीं दे सकती थी। निश्चय ही मुगल सम्राटों ने (औरंगजेब को छोड़कर) इन कलावंतों और विद्वानों का यथेष्ट आदर

१—भारत का इतिहास, दूसरी जिल्द, डा० ईश्वरी प्रसाद।

किया। आश्रयदान में अकबर को छोड़कर अन्य सम्राटों में कुछ धार्मिक पक्षपात रहता रहा होगा यह धारणा बनाई जा सकती है क्योंकि हिंदी-कवियों में से अधिक लोगों को मुग़ल दरबार में प्रश्रय नहीं प्राप्त हुआ बल्कि अधिकतर देशी राजपूत राजाओं के यहाँ ही आश्रय मिला। शाहजहाँ के बाद तो ये सारे कलावत निश्चित रूप से नवाबों, राजाओं, रईसों के दरबारों में फैल गए।

निम्नवर्ग में मजदूर, विभिन्न पेशों के छोटे छोटे दूकानदार और कृषक होते थे। वर्ण-व्यवस्था के लुप्त हो जाने के कारण स्वेच्छया पेशे चुने जाते थे। राजकीय और सामती विलासिता की वृद्धि के साथ इन साधारण लोगों की स्थिति निरंतर बिगड़ती गई। सेनाओं और डाकुओं से भी ये त्रस्त रहते थे और कभी कभी आनेवाली महामारी, अकाल आदि की दैवी विपत्तियाँ भी इन्हें झकझोर देती थीं। तुलसीदास की पुस्तकों में इस युग का बहुत अच्छा निदर्शन प्राप्त होता है।

आर्थिक दृष्टि से मुग़ल शासन की यह तीन शताब्दियाँ भारत की अल्पकालीन उन्नति और दीर्घकालीन अवनति की सूचना देती हैं। अकबर के बाद आर्थिक अवस्था के बिगडने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं। मुगलों की विलासिता सीमा का अतिक्रमण कर गई थी।

आर्थिक परिवेश

विदेशी यात्री बर्नियर लिखता है कि "मैंने मुगल हरम में लगभग हर प्रकार के रत्न देखे हैं जिनमें से कुछ तो असाधारण हैं। वे (बेगमें) इन मोती की मालाओं को कंधों पर ओढ़नी की तरह पहनती हैं। सिर में वे मोतियों का गुच्छा-सा पहनती हैं जो माथे तक पहुंचता है और इसके साथ एक बहुमूल्य आभूषण जवाहिरात का बना हुआ सूरज और चाँद की आकृति का होता है। दाहिनी तरफ एक गोल छोटा-सा लाल होता है। कानों में बहुमूल्य आभूषण पहनती हैं •।" मणि माणिक्यों से आपादचूड़ ढँकी हुई इन बेगमों से क्या रीतिकाव्य की वासकसज्जाएँ अधिक सुसज्जित हैं? अधीन रजवाड़े भी इनका अनुकरण करते थे। बिहारी और देव की कविताओं में स्पष्ट ही इस प्रकार के राजपूती जीवन-स्तर की सूचना मिलती है। इस व्यापक अपव्यय में युद्ध भी सहायक होते थे। वास्तु निर्मितियों के नाम पर ताजमहल आदि के बनवाने में बेशुमार धन खर्च करना, एक करोड़ रुपये में शाहजहाँ के आसीन होने के लिए मयूरासन

(तख्त-ताऊस) का निर्माण आदि क्या है ? यह भार अंततः देश के साधारण वर्ग के टूटते कंधों द्वारा ही झेला जाता था।

उस समाज में आर्थिक दृष्टि से भोक्ता और उत्पादक दो ही वर्ग थे। भोक्ता वर्ग केंद्रीय शासन, प्रांतीय शासन, सामंत वर्ग रजवाडों से संवद्ध उच्च और मध्य कर्मचारी वर्ग था, उत्पादक विशाल देश का समूचा निम्न वर्ग। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उस काल की आर्थिक पृष्ठभूमि पर लिखा है कि इस समय आर्थिक दृष्टि से समाज में दो श्रेणियां थीं—एक तो उत्पादक वर्ग जिसमें प्रधान रूप से किसान और किसानी से संबंध रखने वाली जातियां बढ़ई, लोहार, कहार, जुलाहा इत्यादि थीं। और दूसरा दल भोक्ता (राजा-रईस) नवाब आदि या भोक्तृत्व का मददगार था। मुगल शासन के अंतिम दिनों में भारतीय समाज के ये ही दो आर्थिक वर्ग थे—राजा, सामंत, मसवदार आदि भोक्ता वर्ग और कृषक और श्रमिकों का उत्पादक वर्ग। दोनों का परस्पर का संबंध क्रमशः क्षीण होता गया और मुगल काल के अंतिम दिनों में इन दोनों की दुनिया लगभग अलग हो गई। यह व्यवधान कोई नया नहीं था। मौर्य एवं गुप्त राजाओं के काल से ही इसका आरंभ हो गया था। सन् ई० की पहली दूसरी शताब्दी में नागर और जानपद जनों का अंतर बहुत स्पष्ट हो गया था। एक के लिए कामशास्त्र, अलंकृत काव्य और नाटक लिखे जाने लगे थे और दूसरे के लिए व्रत-संयम बताने वाले स्मृति-पुराण। ज्यों ज्यों साम्राज्य-व्यवस्था संगठित होती गई और राजनीतिक सत्ता केंद्र में सिमटती गई त्यों त्यों व्यवधान भी बढ़ता गया। मुगल काल में यह व्यवधान अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया। और उसके अंतिम दिनों में जब वह व्यवस्था निष्प्राण हो गयी तो उस व्यवधान को जिला रखने के लिए एक बड़ा-सा ढांचा ही खड़ा रह गया। रीतिकाल इसी बाहरी ढांचे का प्रकाश है। इसका पोषण सामंती व्यवस्था से हो रहा था। परंतु इस व्यवस्था की रीढ़ भकड़ चुकी थी और उससे जीवन का रस बहुत थोड़ा ही खिर पाता था।[1] इस उद्धरण में डा० द्विवेदी ने स्पष्ट ही सामंतवाद को मौर्यकाल से आरंभ माना है। इस अध्याय के आरंभ में भी ऐसी ही मान्यता स्थिर की है। दोनों अर्थात् विकासोन्मुख और ह्रासोन्मुख सामंतवादों में क्या अंतर था—इसे भी डा० द्विवेदी ने स्पष्ट किया है—इस वक्तव्य को पूरा उद्धृत करने का यही प्रयोजन था।

१—हिंदी-साहित्य पृ० १६८।

जो समाज राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पराभव को प्राप्त हो जाता है उसके नैतिक उत्थान की कल्पना करना दुराशा मात्र है।

नैतिकता

हिंदू लगभग चार शताब्दियों से पादाक्रांत रहने के कारण और मुसलमान विलास तथा आंतरिक और वाह्य द्वंद्वों से जर्जर होकर अपना नैतिक बल खो बैठे थे। दोनों भयंकर रूप से इंद्रियलिप्सु हो उठे थे इसका संकेत ऊपर यत्रतत्र किया गया है पर नैतिकता का वह एक पक्ष है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी पहलू भी इस युग में दुर्बल हो गये थे। शिख से नख तक समस्त राज्याधिकारी अपव्यय के कारण अवैध ढंग से धन लेने लगे थे। ऐसी स्थिति में जनता में ऐसे शासन के प्रति आस्था एक दम उठ गयी। वह भी इन दुर्गुणों का अनुकरण करने लगी। स्वार्थ-साधना प्रबल हो उठी। जनता के आचार रक्षकों में स्वयं नैतिक बल घुट चुका था। नैतिक शक्ति के इस प्रकार अकाल के कारण जनता पूर्णतः भाग्यवादी बन गयी थी। ज्योतिष में सम्राट और जनता दोनों प्रगाढ़ रूप से विश्वास करने लगे। इस घोर भाग्यवाद का स्वाभाविक निष्कर्ष था नैराश्य। वास्तव में इस संपूर्ण युग को ही नैराश्य का गहन अंधकार ग्रसे हुए है। शाहजहाँ और औरंगजेब के पत्रों में और इस युग की सभी घटनाओं में विषाद की गहरी छाया स्पष्ट है और ज्यों ज्यों समय बीतता गया यह छाया स्पष्टतर होती गई। भीषण राजनीतिक विषमताओं ने वाह्य जीवन के विस्तृत क्षेत्र में स्वस्थ अभिव्यक्ति और प्रगति के सभी मार्ग अवरुद्ध कर दिए। निदान लोगों की वृत्तियाँ अंतर्मुख होकर अस्वस्थ काम-विलास में ही अपने को व्यक्त करती थीं। वाह्य जीवन से त्रस्त होकर उन्हें अंतःपुर की रमणियों की गोद में ही त्राण मिल सकता था। अतिशय विलास की रंगीनी नैराश्य की कालिमा से ही अपने रंगों का संचय कर रही थी। युग-जीवन की गति जैसे रुद्ध हो गयी थी।[1]

मुगल काल ने अपने ढंग पर काव्य तथा अन्य ललित कलाओं को भी पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। वास्तु, चित्र, संगीत सभी में उन्होंने उल्लेख्य उन्नति

ललितकलाएँ

की। यह एक स्वाभाविक बात थी कि वे भारतीय कलाओं के वैशिष्ट्य से प्रभावित हों और भारतीय कलाएँ फारसी कलागत उपलब्धियों से प्रभावित हों। प्रभावों के ये आदान-प्रदान तत्कालीन काव्य के आलोचक के लिए

१—रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र पृ० १५-१६।

महत्वपूर्ण है। प्रत्येक युग की एक सामूहिक मानसिक स्थिति होती है जो उस युग के कला-निर्माण में प्रतिफलित होती है। उस युग की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों की जानकारी हमें हो चुकी है उनका कैसा प्रतिफलन काव्य और कलाओं में हुआ यह यहाँ विवेच्य है।

मुग़ल काल की वास्तु-निर्मितियों में स्पष्टतः फारसी शैली आधार बन कर आयी है। यह शैली, भारतीय वास्तु-कलादर्शों की सादगी और महा-काव्योपम विराटता से भिन्न, दरबार की मुक्तकोचित चित्ररंजना और अलंकृति से पूर्ण है। अकबर की कला में उसकी उदार भावापन्नता के कारण भारतीय अभिप्राय घुल-मिल गए हैं लेकिन परवर्ती मुगल सम्राटों की वास्तु-कृतियों में कम से कम भारतीय प्रभाव है। चाहे जो भी हो, वास्तुकला के अन्यतम पुरस्कर्ता शाहजहां की अद्वितीय कृति ताजमहल उस युग की कला का श्रेष्ठ निदर्शन है। 'काल के कपोल पर स्थित नयन-विंदु' ताजमहल अपने सूक्ष्म कौशल में अप्रतिम है। अकबर की इमारतों के विराट सौंदर्य के विपरीत शाहजहां की इमारतों का सौंदर्य सूक्ष्म-कोमल है—एक की कला में यदि महाकाव्य (रामचरितमानस) की विराट गरिमा मिलती है तो दूसरे की कला में अलंकृत गीत काव्य (विहारी सतसई) की रसात्मकता का सूक्ष्म चमत्कार है। मणि कुट्टिम की चित्र विचित्र कला, सोने का रंग, मणियों का जड़ाव और नक्काशी, यहां प्रधान हो गई है। शाहजहां के स्थापत्य में मूर्ति और चित्रण-कला की विशेषताएं अधिक हैं।[1] सौंदर्यबोधशून्य औरंगजेब दो एक निर्मितियों को तोड़ ही सका बनाने की कौन कहे। परवर्ती निर्वीर्य मुगल उत्तराधिकारियों, छोटे राजाओं और नवाबों की कृतियां भी उनके ही समान निर्जीव चित्ररंजना से पूर्ण होती गईं। इस समय की राजपूत कलम भी मुगल कलम से विशेष प्रभावित हो गयी फिर भी परवर्ती मुगल काल की निर्जीवता उसमें नहीं है। ऐसी अलंकृति प्रधान निर्मितियों में आम्बेर स्थित जयसिंह सवाई के राजमहल और राजा सूरजमल के डींग के महल अपना विशेष महत्व रखते हैं। इनमें राजपूत व्यक्तित्व की गरिमा न होते हुए भी भारतीय कला का आधारभूत योग है। कुल मिलाकर, डा० नगेन्द्र के शब्दों में कलाप्रिय मुग़ल सम्राटों ने फारसी और हिंदू शैली के सम्यक संयोग से विलासपूर्ण मुगल शैली का निर्माण किया जिसकी छाप

१—रीतिकाव्य की भूमिका, डा० नगेन्द्र, पृ० २२।

तत्कालीन स्थापत्य, चित्रण, आलेखन, आदि ललित कलाओं और जवाहरात, सोने चाँदी के काम, कढ़ाई-बुनाई इत्यादि पर भी अंकित है। इन सभी में ऐश्वर्य का उल्लास है।[1]

भारतीय चित्रकला हिंदू भारत में अपने उत्कृष्ट रूप को पहुँच चुकी थी। अजन्ता के भित्तिचित्रों में जिस प्रकार की सादगी, यौवन का उन्मद वेग, द्विधाहीन मनोभाव मिलता है प्राकृत और अपभ्रंश काव्य में उसी का प्रभाव है। मुगलकाल में आकर मुगलकलम का उदय हुआ जिसमें फारसी और भारतीय दोनों शैलियों का सामंजस्य हुआ। अकबर ने चित्रकला के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया किंतु जहाँगीर के काल में चित्रकला को चरमोत्कर्ष प्राप्त हुआ। यहाँ आकर मुगल कलम में भारतीय कला की विशेषता रंग वैशिष्ट्य प्रधान हो गयी। जहाँगीर का रंगीन व्यक्तित्व इस काल में भावमय रंगीन चित्रों का कारण बना। पर्सीब्राउन के अनुसार मुगल चित्रकला की आत्मा जहाँगीर के साथ ही निर्जीव हो गई। औरंगजेब के समय में चित्रकार भी अन्य आश्रय-केंद्रों में चले गए। फिर स्थानीय विशेषताओं को लेकर लखनऊ कलम, हैदराबाद कलम आदि विभिन्न शैलियों का प्रचलन हुआ। इन चित्रों में गतिहीनता, अस्वाभाविकता की सीमा को पहुँच गई। प्रतिकृतियाँ होने लगीं। श्री रायकृष्ण दास के अनुसार 'अब चित्रों में हद से ज्यादा रियाज, महीनकारी, रंगों की खूबी तथा शानशौकत एवं अंग-प्रत्यंगों की लिखाई विशेषतः हस्तमुद्राओं में बड़ी सफाई और कलम में कहीं कमजोरी न रहने पर भी दरबारी अदबकायदों की जकड़बंदी और शाही दबदबे के कारण इन चित्रों में भाव का सर्वथा अभाव बल्कि एक प्रकार से सन्नाटा-सा पाया जाता है, यहां तक कि जी ऊबने लगता है।[2]

मुगल शैली की समकालीन राजस्थानी शैली अजन्ता की भारतीय चित्रकला की परंपरा में, युग की शृंगारिक और आलंकारिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर, लोक जीवन से कम दरबारी जीवन से विशेष प्रेरणा लेते हुए अपना विकास कर रही थी। राजस्थानी शैली के प्रिय विषय थे रागमाला, कृष्ण लीला, नायिका भेद और बारह मासा इत्यादि। इस लपेट में देव के अष्टयाम, बिहारी की सतसई, मतिराम के रसराज की चित्रव्यंजना हुई। जिस

१—रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र पृ० २२।

२—भारत की चित्रकला : रायकृष्णदास पृ० १५६।

प्रकार काव्य में राधा-कृष्ण का नाम एक नैतिक ढाल के रूप में आता था और उसके पीछे कवि राज दरबार की शृंगारिक मनोवृत्ति की तृप्ति करता था उसी प्रकार चित्रकला में नाम तो रासलीला चित्रण का होता था परंतु उसमें विलासिता के उद्रेक और तृप्ति का उद्देश्य छिपा रहता था। इन चित्रों में भावाभिव्यक्ति कमजोर और मुख-भंगिमाएं भाव-शून्य है। हां स्त्री के आंगिक उभारों, मीनाक्ष-चित्रण का विशेष जोर है। पर यह सब आलंकारिक सूक्ष्मता कहीं-कहीं अतिवादिता से लदी हुई है। राजपूत शैली से किंचित भिन्न भाव-प्रधान कांगड़ा शैली थी जिसका झुकाव रसात्मकता की ओर विशेष था। इसके व्यापक चित्र-भूमि की ओर इंगित करते हुए श्री रायकृष्ण दास ने लिखा है—देवताओं का ध्यान, रामायण, महाभारत, भागवत, दुर्गासप्तशती, इत्यादि समस्त पौराणिक साहित्य, ऐतिहासिक गाथा, लोक कथा, केशव बिहारी, मतिराम, सेनापति आदि हिंदी के प्रमुख एवं अन्य साधारण कवियों की रचनाओं से लेकर जीवन की दैनिक चर्या और शबीह तक ऐसा एक भी विषय नहीं, जिसे उन्होंने छोड़ा हो।'[1] संक्षेप में इतना कहा जा सकता है कि भारतीय शैलियां मुगल शैलियों से अधिक जीवनशाली, रसमय और कौशल-पूर्ण हैं।

जिसप्रकार मुगलकालीन वास्तुकला और चित्रकला विलासिता और अलंकरण के भावों से पूर्ण हो रही थी उसी प्रकार संगीतकला भी। भारतीय साहित्य में लोकगीतों और शास्त्रीय संगीत की पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। प्राप्त अपभ्रंश साहित्य में तो प्रायः नहीं पर हिंदी-साहित्य में लोकगीतों का प्रौढ़ साहित्य-गृहीत विकास विद्यापति की पदावली में दिखलाई पड़ता है और शास्त्रीय संगीत का सूरदास के सूरसागर में। कलाप्रिय मुगलसम्राट अकबर ने संगीत को सर्वाधिक सम्मान दिया। तानसेन उसके ही दरबार का नहीं सम्पूर्ण भारत का श्रेष्ठ गायक माना जाता है। इसने कुछ पदों की भी रचना की थी।[2] इस युग में फारसी संगीत, भारतीय संगीत से कितना प्रभावित हुआ और भारतीय संगीत फारसी सगीत से कितना, यह नहीं कहा जा सकता। जहांगीर और शाहजहां दोनों संगीतज्ञ थे और संगीतज्ञों के आश्रयदाता। शाहजहां को हिंदी-गीतों की सरल वेधकता बड़ी

१—भारत की चित्रकला, पृ० १६६।

२—कवि तानसेन—डा० सुनीतिकुमार चटर्जी।

रीतिकाव्य में फारसी प्रभाव आश्चर्यजनक रूप से संपृक्त हो गया। इसके पूर्व सूफी कवियों के प्रभाव-स्वरूप फारसी काव्य-रूढ़ियाँ संतकाव्य में अवश्य गृहीत हुई थीं पर कृष्ण और राम-भक्ति काव्य में नहीं। रीतिकाव्य में इस नए तत्व के अत्यधिक ग्रहण का कारण मुसलमानी दरबारों का प्रभाव था। यह प्रभाव-विस्तार रीति मुक्त शाखा में विशेष हुआ।

रीतिकाव्य और मुसलमानी प्रभाव

सारांश यह कि भक्तकवि और रीतिकवि की मनोवृत्ति में आधारभूत अंतर हो गया था। जब कि भक्तकवि मंदिर और जन समाज में विह्वल हृदय के गीत गाता था तब रीतिकाव्य का कवि राज्य दरबार में कवित्त कहता था, जब कि भक्तकवि आत्मरुचि और लोकरुचि से चालित था तब रीतिकवि राजा और सामंतों की विलासपूर्ण रुचि से, जब कि भक्तकवि प्रबंध या मुक्तक जिसमें चाहे स्वांतः सुखाय गा या लिख सकता था तो रीतिकवि दरबारों के प्रतिस्पर्द्धापूर्ण वातावरण के लघु समय में केवल मुक्तक रचनाएं पढ़ सकता था, जब कि भक्त कवि भारतीय लोकपरंपरा में प्रचलित रूढ़ियों को ही ग्रहण करके संतुष्ट हो जाता था तो रीतिकवि मुसलमान दरबार के आदर्शों से प्रभावित सामंतों के दरबारों की फारसी रूढ़ियों को अपनाकर ही सफल हो सकता था। भक्तिकाल से पूर्ववर्ती अपभ्रंश काल के कवि से रीतिकवि की शृंगारिक मनोवृत्तियों में साम्य अवश्य है परंतु दोनों में शृंगार की आत्मा और अभिव्यक्ति-कला की दृष्टि से मौलिक अंतर आ गया है। इसके पीछे भी भिन्न-भिन्न परिवेश हैं जिनका विवेचन पीछे हो चुका है।

कुल मिलाकर, इन दस शताब्दियों के आलोच्य काल की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक, शैल्पिक, भाषागत विविध परिस्थितियों का यथाप्रसंग विवेचन कर लेने के पश्चात यह निष्कर्ष निकलता है कि अपभ्रंश की ऐहिक मुक्तक कविता में ग्रामीण, स्वच्छंद, घुमक्कड़, युद्धप्रिय जातियों की प्रेम और वीर कविता मिलती है जो हिंदी काव्य में विकसित होते हुए भी परिवर्तमान परिस्थितियों के कारण अपने पूर्वरूप से काफी भिन्न हो गयी है। अपभ्रंश के धार्मिक मुक्तकों का हिंदी में स्पष्ट और सीधा विकास हुआ है। ब्राह्मण-धर्म की रूढ़ियों के विपरीत सिद्धों, जैनियों और नाथों की विद्रोहिणी प्रवृत्तियों का संतकाव्य में मूल स्वर सुरक्षित है। परवर्ती काल में बौद्ध और तंत्र-साहित्य के मूलों से, दक्षिण के भक्ति-आंदोलनों से, शास्त्र सिद्ध पंडितों के योग से धर्माश्रित काव्य भक्तितत्व को ही आधार मानकर चलने

लगा। रीतिकाव्य की अंतिम शताब्दियों में भक्तिसाहित्य के राधा-कृष्ण के माधुर्यपरक श्रृंगार चेष्टाओं के ग्रहण से, तत्कालीन नागरिक संस्कृति के विकास से, मुग़ल शासन की वास्तु, चित्र, संगीत, साहित्य, दरबार की फारसी कला के प्रभाव से और उद्देश्यहीन युग परिस्थितियों के व्यापक दबाव से रीतिकाव्य का सृजन हुआ। इस प्रकार अपभ्रंश श्रृंगारिक रचनाओं में मूल विषयवस्तु और कतिपय रूढ़ियों का साम्य होते हुए भी व्यक्त भावनाओं और उपस्थापन शैलियों में व्यापक अंतर आ गया।

शृंगारिक मुक्तक

ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी में संस्कृत साहित्यशास्त्र के वास्तविक आरंभकर्ता भरतमुनि ने कहा था कि 'जो कुछ पवित्र, प्रज्ञोत्तेजक, उज्ज्वल और दर्शनीय है उसकी श्रृंगार से उपमा दी जा सकती है।'[1] अत्यंत व्यापक अर्थ में आरंभ से ही प्रयुक्त इस श्रृंगार शब्द की स्थायी वृत्ति रति को भी कम व्यापक अर्थ में नहीं लिया गया। चौदहवीं शताब्दी के आचार्य विश्वनाथ ने 'मन के अनुकूल अर्थ में प्रेमार्द्र या द्रवीभूत होने को रति कहा है।'[2] संस्कृत काव्यशास्त्रियों का बहुमत बहुत पहले से श्रृंगार को रसराज मानता आया है। निरूपण के प्रसंग में केवल चार को छोड़कर शेष सभी संचारियों को श्रृंगार-रस के अंतर्गत माना गया है। इस प्रकार के श्रृंगार-रस को यदि साहित्य-लेखन के उषःकाल में ही मान्यता प्राप्त हो जाय और वह उत्तरोत्तर परिष्कृत और प्रोत्साहित होता चले—तो क्या आश्चर्य? लेकिन ईसवी सन् की पूर्व की शताब्दियों में ऋग्वेद और अथर्ववेद की कुछ ऋचाओं, बौद्धों की थेरगाथा और थेरीगाथाओं, रामायण और महाभारत के उपाख्यानों, अश्वघोष के सौंदरनंद जैसे दो एक काव्यों को छोड़कर, श्रृंगारिक प्रवृत्ति का अपने आप में पूर्णतः स्वतंत्र अस्तित्व प्राकृत की गाथासप्तशती के पूर्व नहीं पाया जाता।

श्रृंगारिक प्रवृत्ति और प्राचीन भारतीय साहित्य

'गाथासप्तशती' के रूप में जिस लौकिक श्रृंगार का अपूर्व सुंदर चित्रण हुआ है भारतीय साहित्य में उसका अचानक आविर्भाव होता हुआ दिखाई देता है। इसने परवर्ती साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया। अमरुक और गोवर्द्धन तो उससे प्रत्यक्षतः प्रभावित हुए। इस परंपरा से किंचित भिन्न कुछ ऐहिक मुक्तक काव्यों का भी संकेत मिलता है जिसमें कालिदास के नाम से

१—'यत्किंचिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते'
—नाट्यशास्त्र, अध्याय ६।

२—रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्—साहित्य-दर्पण, ३।१७६।

प्रचलित शृंगार-तिलक, घटकर्पर, भर्तृहरि रचित शृंगार शतक, बिल्हण की चौरपचाशिका आदि का नाम आता है। इन रचनाओं की भावभूमि के निर्माण में आभिजात्य का योग है। यह आभिजात्य गाथासप्तशती अमरुशतक और आर्यासप्तशती के ऐहिक धरातल से थोड़ा भिन्न है।

भारतीय शृंगार-तत्त्व को प्रभावित करनेवाले उपादान

इस ऐहिक मुक्तक-काव्य-परंपरा के विकास के साथ-साथ संस्कृत में प्रबंधकाव्यों और नाट्यपरंपरा का भी विकास हुआ। इन काव्यों और नाटकों में यह लोकस्वर विशिष्ट पौराणिक नायक और नायिकाओं के माध्यम से अभिजात जीवन के परिवेश में होकर प्रकट हुआ।

भारतीय काव्य के शृंगार तत्व को प्रभावित करने में स्तोत्र-साहित्य का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उपासना और पूजा के अवसरों पर और देवी-देवताओं के स्तवन के अवसरों पर उनकी रूप-शोभा का संकीर्तन के बहाने

स्तोत्र-साहित्य

उल्लेख होता था। कालांतर में इसप्रकार का बहुत बड़ा साहित्य रचित हुआ। शक्ति के विभिन्न व्यक्त विग्रहों—दुर्गा, सरस्वती, काली, पार्वती, लक्ष्मी आदि की अर्चना में लिखित स्तोत्र इसी प्रकार की रचनाएं हैं। स्वतंत्र स्तोत्र-साहित्य में शिव-पार्वती और राधाकृष्ण की शृंगार-लीलाओं का जो वर्णन मिलता है वह अनेक शृंगार-काव्यों को मात कर देता है। इसके अतिरिक्त परतंत्र रूप से बौद्धों के स्तोत्र-ग्रंथों, काव्यों, पुराणों में भी इस प्रकार की सामग्री खोजी गई है। इस प्रकार की शृंगारिक स्तोत्र-रूढ़ियों का भक्ति-साहित्य में अनजान में ही ग्रहण हो गया। बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक बंगाल और बिहार में जो राधा-कृष्ण की भक्ति के छंद रचे गए वे काम के सूक्ष्म संकेतों से पूर्ण हैं।

भारतीय शृंगार-तत्व को प्रभावित करने वाली दूसरी धारा थी कामशास्त्रीय ग्रंथों की। अत्यंत प्राचीन सभ्यता संपन्न भारत का कलाविलास उत्सव-

कामशास्त्रीय ग्रंथ

महोत्सव, रस-रंग ईसवी सन् के अत्यंत पूर्व ही अपने चरम शिखर पर पहुँच चुके थे। वात्स्यायन के कामसूत्र में जिन चौंसठ प्रकार की कलाओं की विशद चर्चा हुई है उनमें से अधिकांश या तो विशुद्ध साहित्यिक हैं या फिर शृंगार-साहित्य को अनेक प्रकार से अलंकृत करने वाली। उनमें से अनेक नायक-नायिकाओं की विलास-क्रीड़ाओं में सहायक हैं अनेक मनोविनोद की

साधिका हैं। तत्कालीन भारत की अत्यंत समृद्ध भोगमूलक संस्कृति और साहित्य का वह प्रतिफलन तो था ही। राजदरबारों में निर्मित होने वाले परवर्ती साहित्यिक ग्रंथों का साधनोपायों की दृष्टि से कामसूत्र विशेष उपजीव्य बना। जहाँ तक शृंगारी मुक्तक कवि का संबंध है वह तो उससे सर्वाधिक प्रभावित हुआ ही।

इस संपूर्ण शृंगारिक मुक्तक साहित्य में जिस प्रवृत्ति को पृष्ठाधार बनाया गया वह थी नायक-नायिका-भेद की नाट्यशास्त्रीय परंपरा। जैसा कि

नाट्यशास्त्रीय परंपरा

कहा जा चुका है भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नायक-नायिकाओं के विस्तृत भेदोपभेदों का रंगमंचीय विधान किया था। सुनिश्चित रूप से यह परंपरा हर प्रकार के अभिजात शृंगारी काव्य की प्रधान उपजीव्य बनी।

जैसा कि पृष्ठभूमि-विवेचन में कहा जा चुका है 'गाथा सप्तशती' के पीछे विदेशागत आभीर जाति का विशेष प्रभाव था। प्राकृत के इस गाथाकोश में

आभीर जाति की ऐहिक मनोवृत्ति

जो स्वर स्पष्ट हुआ वह अपनी लोक-प्रेरणा और ऐहिक भावापन्नता के कारण एकदम नवीन था। परवर्ती प्राकृत-साहित्य में इस प्रकार की अन्य रचनाएँ भी हुई होंगी पर वे बहुत कम मिलती हैं। इस गाथा सप्तशती के प्रभाव से जो संस्कृत में ऐहिक मुक्तक लिखे गए वे भी परिवेशगत आभिजात्य के कारण लोक धरातल से प्रायः दूर होते गए। आठवीं नवीं शताब्दी में जब संस्कृत-काव्य पांडित्य और चमत्कार-प्रदर्शक काव्य-रूढ़ियों से प्रभावित होने लगे और संकीर्णतर राज-समाज और पंडित-समाज में सिमटते गए तब तत्कालीन प्राकृतोद्भूत लोकभाषा अपभ्रंश सहज शृंगार की अभिव्यक्ति का प्रधान वाहन बन गई।

वस्तुतः किसी भी देश की रंजनात्मक जीवन-परिधि में तीन प्रकार के साहित्य विकसित होते रहते हैं। प्रथम है लोकगीतों और लोकगाथाओं का

प्रभाव-चक्र, लोक, लोकप्रभावित और शिष्ट तीन प्रकार के साहित्यों का पारस्परिक अंतरावलंबन

अलिखित साहित्य। इस मौखिक गान-परंपरा के पास निरंतर बनने वाले न तो छंदों की कमी है न तो भावों की, न तो भाषा की और न तो अभिव्यक्ति-कौशल की। यह कथाएँ रचते हैं, रूढ़ियों को बनाते हैं, अपने सामूहिक 'स्व' को द्रवीभूत कर देने वाले गीतों को 'अपनी भाषा की चंचल सवारी पर' चढ़ा लेते हैं, ये अपनी प्रवाहधारा को अप्रतिहत रखने

के लिए न जाने कितनी रूढ़ियां तोड़ते भी रहते हैं और अत में निरक्षर और अशिष्ट कथित विशाल जन समुदाय को रससिक्त और स्फुरणशील बनाए रखते हैं। इस लोकजीवन और इन लोकगीतों की सबसे स्पृहणीय भावना प्रेम की है। द्वितीय है लोक-प्रभावित साहित्य। इसका मूल प्रेरणा-स्रोत लोकगीत और लोकगाथा साहित्य होता है। अपभ्रंश का मुक्तक-साहित्य लोक प्रभावित साहित्य है। हेमचद्र के प्राकृत-व्याकरण में आए श्रृंगारिक दोहों के विषय में लोक-प्रभाव स्वीकार करना कोई बड़ी बात नहीं कहना है। बल्कि यहाँ तक कहने का पर्याप्त अवकाश है कि इन अनाम कवि या कवियों के लिखे मुक्तक-साहित्य में बहुत से लोक के भी दूहे होंगे। इसी प्रकार 'ढूला मारू रा दूहा' की भी स्थिति है। अन्यत्र कहा जा चुका है कि प्राकृत व्याकरण और ढूला के दोहों की आत्मा एक ही है। इस प्रकार यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राकृत व्याकरण के बहुत से दोहे सर्वथा अलिखित लोक साहित्य से सचयित किए गए हैं। तृतीय है अभिजात (क्लासिकल) साहित्य। हिंदी के रीतिकाल का साहित्य विशुद्ध अभिजात साहित्य है। अभिजात साहित्य में सकीर्णतर उच्च कहे जाने वाले समाज की आकांक्षाओं का प्रतिफलन होता है। इस काव्य में चमत्कार, विलासिता, कौशल, आदि पर विशेष बल दिया जाता है। यहाँ पर आकर किसी समय में आरभ लोक-साहित्य की एक विशिष्ट लहर प्राणशून्य हो जाती है। गाथा-कोश से आरंभ, प्राकृत-व्याकरण और ढूला के दोहों में संपोषित सहज श्रृंगारिक अभिव्यक्ति भक्तिकाल में आकर आभिजात्य से कुछ युक्त हुई पर रीतिकाल तक आते-आते उसमें से लोकतत्व प्रायः सब झड़ गये और बच गया लोकभाषाओं के मुक्तक-काव्य के ढाँचे पर विलासिता और काव्य-कौशल का नकली मुलम्मा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपभ्रश के ही ढांचे पर विकसित हुई रीति-कालीन कविता अपभ्रंश से भिन्न हो गयी। मध्यकालीन हिन्दी श्रृंगारिक मुक्तकों के इन सभी परिवर्तनों का सम्यक विश्लेपण और आकलन करने के लिए आवश्यक है कि उसके वस्तु-पक्ष और कला-पक्ष दोनों के विकास का अध्ययन किया जाय। इस निर्णय के अनुसार हम श्रृंगारिक मुक्तक संबधी अपने अध्ययन को दो भागों में विभाजित करते हैं.—१—वस्तुपक्ष का विकास और २—कलापक्ष का विकास।

———

वस्तु-पक्ष का विकास

मध्यकालीन हिंदी शृंगारिक मुक्तकों का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करते समय हमें सबसे पहले अपभ्रंश शृंगारिक मुक्तकों की वस्तुगत रूढ़ियाँ मिलती हैं। जैसा कि कहा जा चुका है अपभ्रंश शृंगारिक मुक्तकों की वस्तु-भूमि लोकभाषा पालि और प्राकृत की वस्तुभूमि से मिलती जुलती है। विशेषतः अपभ्रंश शृंगारिक मुक्तकों में आश्चर्यजनक रूप से लोकतत्वों का प्राधान्य मिलता है। उनकी इन कतिपय भावगत और वस्तुगत नवीनताओं का सबसे पहले विवेचन कर लेना उसके स्वरूप को समझने की दृष्टि से आवश्यक है।

सहजता

अपभ्रंश शृंगारिक मुक्तक काव्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सहजता है। इसके ऐतिहासिक कारणों पर विकासक्रम की पृष्ठभूमि में हम प्रकाश डाल चुके हैं। यहां उसकी साहित्यिक विवेचना लक्ष्य है। यह सहजता वस्तुतः उस लोक-जीवन की सहजता थी जो आभीर आदि कृषक और युद्धप्रिय जातियों से मिलकर बनी थी। इस कृषक जाति का एक चित्र प्रबंध-चिंतामणि के एक दोहे में आता है—जिसे राजा मुंज ने भी स्पर्द्धा की दृष्टि से देखा था। 'जिसके घर चार बैल हैं, दो गाएं हैं और मीठा बोलने वाली स्त्री हो उस कुटुंबी को अपने घर हाथी बांधने की क्या जरूरत।'[1] इस प्रकार की परिवेश वाली जाति के विरह और मिलन दोनों में नागरिक अलंकरणों और आडंबरों से अलग एक प्रकार की जीवंत सरलता है। इस दृष्टि से अपभ्रंश-काव्य में सीधे लोक-जीवन का चित्रण हुआ है। भाषा, भाव, अभिव्यक्ति—सब में एक प्रकार की ऐसी मार्मिक सादगी है जो पाठक का मन जीत लेती है। इसका कारण यह है कि इस अपभ्रंश की नायिका के शीश पर केवल एक फटी-पुरानी कमली भर है, गले में दस-बीस गुरियों की माला भी नहीं है तब भी गोष्ठ के रसिकों को उसकी ओर बराबर आकृष्ट होना पड़ रहा है।[2]

१—च्यारि बइल्ला धेनु दुइ मिट्ठा बुल्ली नारि।
काहुं मुंज कुंडन्नियाहं गयवर बज्झइं बारि॥ प्र० चिं० पृ० २४

२—सिरि जरखंडी लोअडी, गलि मणिअडा न वीस।
तोवि गोट्ठडा कराविया मुद्धए उट्ठ बईस॥ प्रा० व्या० ४।४२३।४

विश्वास था। यहाँ अपभ्रंश-काव्य के परकीया-संकेतों से कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया जायगा।

(१) ढोल्ला एँह परिहासडी अइ भण कवणिहिं देसि।
हउँ झिज्जउँ तउ केहिं पिअ तुहुं पुणु अन्नहि रेसि[1] ॥

हे दूल्हा ऐसा परिहास, अरे कह, किस देश में होता है। हे प्रिय ! मैं तो तुम्हारे लिए क्षीण होती हूँ और तुम अन्य के लिए।

(२) सुमिरिज्जइ तं वल्लहउं जं वीसरइ मणाउं।
जहिं पुणु सुमरणु जाउं गउ तहो नेहहो कइं नाउं[2] ॥

सुमिरिए उस प्रिय को जो थोड़ा सा भूल जाय पर जिसका सुमिरन ही चला जाय उसके नेह का क्या नाम। यह प्रिय भी संभवत. किसी प्रकार के अन्य आकर्षण में ही भूलता है।

(३) एक्कसि सील कलंकिअहं देज्जहिं पच्छिताइं।
जो पुणु खण्डइ अणुदिणहु तसु पच्छितें काइं[3] ॥

एक वार शील कलकित करने वाले को प्रायश्चित्त दिए जाते हैं और जो अनुदिन खंडित करता है उसके प्रायश्चित से क्या। यह शील कलकित करने वाला भी किसी परकीया की ओर ही आकृष्ट जान पड़ता है।

(४) ज दिट्ठउ सोमग्गहणु असइहिं हसिउ निसकु।
पिअ माणुस विच्छोहगरु गिलि-गिलि राहु मयकु[4] ॥

जब सोम-ग्रहण दीखा तो असतियाँ नि.शंक होकर हँस पड़ीं और कहने लगीं कि प्रिय जनों का विछोह करने वाले को हे राहु निगल निगल। ये प्रियजन, जिनको सामाजिक दृष्टि से ओट चाहिए, निश्चित ही परपति हैं और परकीयाओं में सलग्न हैं।

१—प्राकृत व्याकरण ४।४२५।१

२—प्राकृत व्याकरण ४।४२६।१।

३—वही ४।४२८।१।

४—वही ४।३८६।१।

इन स्फुट उदाहरणों में अनेक प्रकार से परिकीयाओं का संकेत हुआ है। इसी प्रकार प्रवध चिंतामणि के अंतर्गत मुंज के दोहों में जो मृणालवती का उल्लेख मिलता है एक तरह से वह भी परकीया-वर्णन ही है। तात्पर्य यह कि अपभ्रंश श्रृंगारिक मुक्तकों में एकनिष्ठ स्वकीयाओं का प्राचुर्य होते हुए भी परिकायाओं का अभाव नहीं है। पर इसमें भी ध्यान देने की बात यह है कि कवि का मन इन परकीयाओं के स्वतंत्र वर्णन की ओर कम गया है। इनमें अनुरक्त पुरुषों के प्रति स्वकीयाओं के खेद-प्रकाश का वर्णन अधिक है। यह वात उस समय की लोक की सामाजिक मनोवृत्ति और शील का परिचय देती है।

जैसा कि पृष्ठभूमि-विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है भक्तिकाल में आकर वहुनायक पीय (श्रीकृष्ण) को एकदम स्वीकार कर लिया गया इसलिए सारी परकीयाओं और स्वकीयाओं का भेद निर्दिष्ट करने वाली रेखाएँ मिट-सी गईं। भक्तिकाल की यह विरासत रीतिकालीन कवियों ने वड़े मनोयोगपूर्वक ग्रहण किया।

दच्छिन नायक एक तुम नंदलाल व्रज चंद।
फुलए व्रजवनितानि के दृग इंदीवर वृंद[1]॥

लेकिन नायिकाओं में सपत्नी-भावना (परकीयाओं-स्वकीयाओं दोनों में) यहाँ कम नही थी। रीतिकाल में कई सौ दोहे केवल इस वात को लेकर लिखे गए हैं कि किस प्रकार प्रिय गत रात को किसी अन्य के यहाँ से रतिचिह्नों सहित लौटा है और नायिका उसे कोस रही है। इस प्रकार के दोहों के वाहुल्य का कारण तत्कालीन नैतिकताहीन मनोवृत्ति थी।

(२) ऊहात्मक प्रयोग

'ऊहा' के अंतर्गत कवि वस्तु-वर्णन को अतिशयोक्ति की सीमा और कभी कभी उससे भी ऊपर ले जाकर कहता है। ऊहाओं में प्रसंग-गर्भता भी होती है! अपभ्रंश-मुक्तक काव्य में इन ऊहाओं की कमी नहीं है। उदाहरण स्वरूप.—

(१) मइ जाणिउ पिय विरहियह कवि धर होइ वियालि।
णवर मयंक वि तिह तवइ जिहि दिणयरि खयकालि[2]॥

१—सतसई सप्तक, मतिराम सतसई १३६।२६१

२—प्राकृत व्याकरण ४।४०१।५

रीतिकाल में आकर ऊहाओं की भरमार हो गई। ऊहाओं का प्रयोगाधिक्य कविता की क्षयिष्णु प्रवृत्ति है। बिहारी-सतसई से दो-तीन उदाहरण लें:—

इत आवत चलि जात उत चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहे लागि उसासन साथ॥[1]
आडे दे आले बसन जाडे हूं की राति।
साहस कै कै नेहबस सखी सबै ढिग जाति॥[2]
छाले परिबे के डरन सके न हाथ छुवाइ।
झिझकति हियें गुलाब कें झवा झवावति पाइ॥[3]

इन ऊहाओं में रीतिकवि निश्चय ही अपभ्रंश कवि से आगे है। जब अपभ्रंश कवि ऊहा-प्रयोग सवेदना के रूप में करता है तो रीतिकवि परिमाण-निर्देश के रूप में। यही प्रवृत्ति की क्षयिष्णुता है। रीतिकालीन ऊहाओं में न केवल अपभ्रंश की परपराएं हैं बल्कि फारसी काव्य-रूढ़िया भी मिल गई हैं। अंतिम दोहे में स्पष्ट ही छाले आदि का उल्लेख है।

नायक और नायिकाओं के मिलन में दूतियाँ, सखियाँ, दासियाँ, नीच जाति की औरतें, धाय की पुत्रियां, पडोसिनें आदि अन्य अनेक प्रकार की स्त्रिया बहुत पहले से ही सहायक होती रही हैं।[4] यह सभी प्रिय और प्रेमिका के बीच में मध्यस्थ उपादान हैं। कुमारिकाओं, स्वकीयाओं, परकीयाओं सब के लिये यह दूतियाँ और सखिया अपनी सेवाएं देती हैं पर इनकी विशेष आवश्यकता कुमारिकाओं और परकीयाओं के प्रसंग में ही पड़ती है। क्योंकि स्वकीयाओं से प्रिय-मिलन में कोई नैतिक या सामाजिक बाधा नहीं है पर कुमारिकाओं से और परकीयाओं से मिलने में बाधाएं हैं। यह दूती-परपरा उस सामाजिक परिवेश में विशेष पनपती है

[३] नायक और नायिका के बीच मध्यस्थ उपादान

१—स० स०, बि० स० ८५।३१७
२—,, ,, ,, ८२।२८३
३—,, ,, ,, ८६।४८३
४—दूत्यो दासी सखी कारूर्धात्रेयी प्रतिवेशिका।
लिंगिनी शिल्पिनी स्व च नेतृमित्रगुणान्विता॥ दशरूपक २।२६

जहाँ स्वच्छंद प्रेम बाधित होता है और स्त्रियों को कम स्वतन्त्रता मिलती है। अपभ्रंश मुक्तक काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक परिवेश उन बातों को बहुत कम प्रश्रय देता है जिनमें इन मध्यस्थों की परिपाटी अवकाश पाती। इन स्वच्छंद ग्रामीण या घुमक्कड़ जातियों के जीवन में सामाजिक बाधाएं कम से कम थीं। दूसरे इनका नैतिक जीवन भी स्वकीयात्मक प्रेम से रंजित था। स्त्री को अपने पति और पति को अपनी स्त्री में ही इतना प्रेम है कि 'पर' की ओर ध्यान देने की उन्हें आवश्यकता नहीं थी। इस प्रकार अपभ्रंश काव्य में एक पारिवारिक संस्कृति व्यक्त हुई है। परिवार में भी कभी-कभी प्रिय और प्रेमिका में अनेक छोटे-बड़े कारणों से मान का ऐसा वातावरण बन जाता है कि 'तिल-तार' थोड़ी देर के लिए टूट जाते हैं, प्रिय घर से कहीं चला जाता है या घर में ही दोनों मौन धारण कर लेते हैं। इस प्रकार अपभ्रंश श्रृंगार के ये मध्यस्थ अक्सर पारिवारिक जीवन के मानपूर्ण प्रसंगों में ही दिखाई पड़ते हैं।

सखी

अपभ्रंश में इन मध्यस्थो में सखियाँ ही अधिकतर दृष्टिगत होती हैं जिनसे प्रिय के साहचर्य से प्राप्त आनंद-विषाद सबका निवेदन तो होता ही है प्रिय को मनाने का भी काम लिया जाता है। अपभ्रंश की एक नायिका कहती है कि प्रिय यद्यपि विप्रियकारक है तो भी उसे ले आओ, आग से यद्यपि घर जल जाता है तो भी उस आग से काम पड़ा ही करता है।

विप्पिअआरउ जइ वि पिउ तो वि तं आणहि अज्जु।
अग्गिण दड्ढा जइ वि घरु तो तें अग्गि कज्जु॥[1]

इसमें जिस व्यक्ति से प्रिय को ले आने के लिए कहा जा रहा है वह निश्चित रूप से सखी है। इसके अतिरिक्त भी अपभ्रंश की अनेक नायिकाएं अपनी समवयस्का सखियों से अपने प्रणयव्यापार का निवेदन किया करती हैं।

दूती

संपूर्ण प्राप्त अपभ्रंश श्रृंगार मुक्तक साहित्य में दूती का उल्लेख हेमचंद्र के प्राकृत-व्याकरण के केवल एक दोहे में मिलता है। कहा गया है कि हे दूती यदि वह घर नहीं आता तो तुम क्यों रुष्ट होती हो। हे सखी, जो तुम्हारा वचन खंडित करता है वह मेरा प्रिय नहीं हो सकता।

१—प्राकृत व्याकरण ४।३।४३।२

भन विद्यापति सुन कविराज आगि जारि पुनु आगि क काज।
४७।१०६ वि० पदावली

जइ सु आवइ दूइ घरु काइँ अहो मुहुँ तुज्झु।
वयणु जु खण्डइ तउ सहिए सो पिउ होइ न मज्झु[1]।।

अपभ्रंश श्रृंगारिक मुक्तक साहित्य में दूती का यह उल्लेख बहुत महत्वपूर्ण है। यह एक दूती जो कि निश्चय ही रूठे हुए पति को मनाने के लिए भेजी गयी थी—ऐसी अनेक दूतियों की परंपरा को सूचित करती है। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में इस प्रकार के मध्यस्थों का उल्लेख है फिर भी अपभ्रंश-काव्य में उसका ग्रहण एक विशेष तथ्य की सूचना देता है। वह यह कि यहाँ से लोक-भाषा के काव्यों में दूतियों का ग्रहण आरंभ हो जाता है। उत्तरोत्तर यह परंपरा पुष्टतर होती गई। मुसलमानी राज्यशासन से प्रभावित सामाजिक जीवन में यह प्रवृत्ति और अधिक बढ़ गयी।

संदेशवाहक

मध्यस्थों में संदेशवाहकों का संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी सभी काव्यों में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ये संदेशवाहक अक्सर प्रिय और प्रेमिका के बीच घटित लम्बे वियोग में ही दिखलाई पड़ते हैं। प्रवासी प्रिय या तो प्रेमिका के पास, या प्रवत्स्यत्पतिका प्रिय के पास अपनी करुण संवेदनाओं को संदेश के माध्यम से भेजते हैं। ये संदेशवाहक कभी बादल हुए हैं कभी पक्षी और कभी मनुष्य। 'मेघदूत' में इस विरह-संदेश को यक्ष ने बादल से भेजा था, संदेशरासक में इस संदेश को प्रियतमा ने पथिक से भेजना चाहा और ढूला मारू रा दूहा में पहले कुञ्झड़ियों से भेजने का प्रयत्न किया गया फिर ढाढ़ियों से। संदेश अपनी विस्तृति के कारण अक्सर खंडकाव्य का रूप लेने लगते हैं पर इसप्रकार के खंडकाव्यों में प्रबंधत्व आ नहीं पाता क्योंकि करुण मनोवेगों का, बदलती हुई मन.भंगिमाओं के साथ निवेदन मुक्तकात्मक गीतियों को ही जन्म दे सकता है। इनकी संपूर्ण वस्तु गीतिकाव्यात्मक और समग्र उपस्थापन मुक्तकात्मक होता है। यही कारण है कि मेघदूत को गीतकाव्य भी कहा गया है, संदेशरासक में कथा के क्षीण तंतुओं को छोड़कर प्राय: अधिकांश छंद अपने आप में पूर्ण अंश हैं, ढूला मारू रा दूहा में कथा के दो चार जोड़ों के अतिरिक्त शेष विगलित वियोगी का करुण क्रंदन है। इन सब में संदेशवाहकों को ही आश्रय कर के सब कुछ-

---

१—प्रा० व्या० ४।३६७।१

कहा जाता है। विशुद्ध मुक्तक-साहित्य में भी इन संदेशवाहकों का आगमन होता है, पर अपभ्रंश के मुक्तकों में वह मिलता नहीं। केवल एक दोहे में संदेशवाहक का संकेत मिलता है—

> संदेसे कांइं तुहारेण जं संग हो न मिलिज्जइ।
> सुहणन्तरि पिएं पाणिएंण पिअ पिआस किं छिज्जइ[1]॥

अर्थात् जब तुम अपना संग ही नहीं देते हो तब तुम्हारे संदेश से क्या होगा। स्वप्न में पिए हुए पानी से क्या हे प्रिय प्यास बुझ सकती है। इन एक-एक दोहों को उद्धृत करने का अर्थ यह आशा व्यक्त करना है कि अपभ्रंश की गुप्त मुक्तक सामग्री में इनका भूरिशः उल्लेख होगा।

सखी, दूती, संदेशवाहक के अतिरिक्त एक 'अम्मीए' नामक नारी भी अपभ्रंश-काव्य में आती है जिसका अनुवाद विद्वानों ने 'मां' किया है।

अम्मीए

भारतीय संस्कार यह स्वीकार नहीं करते कि एक माँ अपनी पुत्री से इस प्रकार कह सकती है कि हे बिटिया मैंने तुमसे कहा कि दृष्टि को वंकिम मत करो हे पुत्री! नोकीले भाले के समान यह हृदय में प्रविष्ट होकर मारती है[2]। इसी प्रकार अपभ्रंश की विभिन्न वयस की शीलवती नायिकाएं अनेक बार अम्मा से अपने विरह-मिलन के समय का आनंद कहती हैं। कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

> (१) अम्मीए सत्थावत्थेहि सुधि चिंत्तिज्जइ माणु।
> पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु[3]॥

हे अम्मा स्वस्थ अवस्था वाली स्त्रियाँ प्रिय से मिलने पर मान की सुधि और चिंतन करें। यहाँ तो प्रिय के दीखने पर अपने-आप की ही सुधि भूल जाती हूं।

> (२) अम्मडि पच्छायावडो पिउ कलहिअउ विआलि।
> घइं विवरीरी बुद्धडी होइ विणासहो कालि[4]॥

१—प्रा० व्या० ४।४३४।१

२—बिट्टिए मइ भणिय तुहुं मा कुरु वंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवं मारइ हिअइ पइट्ठि।
प्रा० व्या० ४।३३०।४

३—प्रा० व्या० ४।३९६।२

४—प्रा० व्या० ४।४२४।१

री अम्मां ! पछतावा हो रहा है कि संध्या समय प्रिय से कलह कर लिया । सच है, विनाश के समय बुद्धि विपरीत हो जाती है ।

इन उपर्युक्त दोहों में जो इंगित किए गए हैं, माँ से वैसे इगित भारतीय जीवन में नहीं मिलते । इस वात को मानकर यह अनुमान किया जा सकता है कि यह अम्मा या अम्मडि या अम्मीए जननी न होकर कोई अन्य वृद्धा नारी होगी जो दूतियों, सखियों, सन्यासिनियों, दासियों में से कोई भी एक हो सकती है । स्वय अपनी जननी या सास भी हो सकती है पर वह नितात अपवाद होगा । हिंदी में अम्मा से ऐसा निवेदन शायद ही किया गया हो ।

[४] संकेत-स्थल

सकेत-स्थलों का उपयोग भारतीय-साहित्य में उन नायक-नायिकाओं के एकांत मिलन स्थल के लिये होता है जो सामाजिक बाधाओं के कारण स्वच्छंद रूप से यथेच्छ स्थान पर नहीं मिल पाते । प्राकृत की गाथा-सप्तशती में सकेत-स्थलों का अनेक बार प्रयोग किया गया है । संभवत उसी के अनुकरण पर परवर्ती संस्कृत मुक्तक रचनाओं में भी उनका उपयोग हुआ । परंतु अपभ्रश श्रृंगार-काव्य में सकेत-स्थलों का उसी प्रकार कम से कम उल्लेख है जिस प्रकार परकीयाओं का । प्राकृत-व्याकरण में सगृहीत अपभ्रश के दोहों में केवल ये दोहे सकेत-स्थलों की सूचना देते हैं—

[१] अब्भडवंचिउ बे पयइ पेम्मु निअत्तइ जाव ।
सव्वासण रिउ समवहो कर परिअत्ता ताव ॥[1]

दो पग साथ चलकर प्रिय जब तक लौटता है अथवा प्रेम निबाहता है तब तक सर्वाशन (अग्नि) के शत्रु (समुद्र) के पुत्र (चन्द्रमा) की किरणें फैल जाती हैं । प्रिय और प्रिया के चरणों के ये बढ़ाव निश्चित रूप से किसी एकांत स्थान की ओर हैं जो निश्चित रूप से संकेत स्थल से अभिन्न है ।

[२] ज दिट्ठउ सोमग्गहणु असइहिं हसिउं निसकु ।
पिय माणुस विच्छोहगरु गिलि गिलि राहु मयकु ।[2]

१—प्राकृतव्याकरण ४।३६५।३
२— ,, ४।३६६।१

जब सोमग्रहण दीखा तो असतियाँ (परकीयाएं) निःशंक भाव से हँस पड़ीं। कहने लगीं कि प्रियजनों का विछोह करने वाले को हे राहु, निगल, निगल। यहाँ भी स्पष्टतः संकेत-स्थल का उल्लेख नहीं है किंतु परकीयाओं और असतियों और उनके प्रेमियों की उपस्थिति ही इस बात का प्रमाण है कि संकेतस्थल भी अवश्य होंगे चाहे उनसे संबंधित रचनाएँ लुप्त हो गयी हों।

दूसरे दोहे में 'असइहिं' शब्द ध्यान देने योग्य है। साहित्य-शास्त्र में परकीयाओं के लिये असती जैसा अनादरसूचक शब्द नहीं आया है, भले ही धर्म-शास्त्र में बार-बार आया हो। यहाँ असती शब्द का उल्लेख अपभ्रंश-कवि की उस रुचि को सूचित करता है जो स्वकीयाओं या सतियों को बहुमान देती थी। यह उस युग की यौनगत सामाजिक अवस्था की भी सूचना है। परवर्ती-काल में भक्ति-आन्दोलन और विशिष्ट सामाजिक अवस्थाओं के कारण परकीयाओं और संकेत-स्थलों का माहात्म्य बढ़ गया।

भक्ति-काल में राधा-कृष्ण को आश्रय करके अपनी भक्ति-साधना करने वाले संप्रदायों में माधुर्य भाव का किसी न किसी रूप में खूब प्रचार हुआ। रूपगोस्वामीपाद द्वारा रचित 'उज्ज्वल-नीलमणि' नामक ग्रन्थ में—जैसा कि संकेत किया जा चुका है—भागवत में वर्णित गोपिकाओं को प्रतिष्ठा देने के लिए सभी परकीयाओं को भक्तिभाव के आलम्बन के रूप में स्वीकार कर लिया गया। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'उस ग्रन्थ का प्रभाव हिन्दी भक्ति साहित्य पर सीधे नहीं पड़ा होगा। उज्ज्वल-नीलमणि केवल उस काल की प्रवृत्ति का निदर्शन करने वाला एक श्रेष्ठ ग्रंथ-मात्र है।' तात्पर्य यह कि भक्ति साहित्य में परकीयाओं के रूप में गोपियो और उनके साथ यमुना-तट के न जाने कितने करील, कुंज, कदंब, झाड़ियां, वन, नदी, नौकाएं, गली, हाट, प्रकोष्ठ आदि संकेत-स्थलों के रूप में आ गए। १२ वीं शती के उड़ीसा के संस्कृत-कवि जयदेव ने भी राधा-कृष्ण के प्रेम-चित्रण-प्रसंग में संकेत-स्थानों का सुन्दर चित्रण किया है। इसके पश्चात् मैथिली कवि विद्यापति ने बड़े समारोह के साथ राधा-माधव के उस प्रेम को चित्रित किया है जो 'औघट घाटों', 'कुंज भवनों' 'संकेत कुंजों' आदि में विकसित हुआ था।

कर धर कर मोहे पारे
देव मैं अपरुब हारे कन्हैया।
सखि सब तजि चलि गेली

न जानूं कौन पथ भेली कन्हैया।
हम न जाएब तुव पासे
जाएब औघट घाटे कन्हैया।[1]

कुंज भवन सयं निकसलि रे
रोकल गिरिधारी।
एकहि नगर बस माधव हे
जनि करि बटमारी।[2]

कत हमर नितांत अगुसरि सकेत कुजहिं गेल।
तरल जलधर बरिस झरझर, गरज घन घनघोर॥[3]

कामिनि कएल कतहु परकार, पुरुषक बेस कयल अभिसार।
अइसए मिललि धनि कुंज क माझि, हेरि न चीन्हइ नागर राज।[4]
इत्यादि।

इन संकेत-स्थलों का हिंदी-ब्रजभाषा के कृष्णभक्त कवियों में पर्याप्त विकास हुआ। सूरदास की कुछ तद्विषयक पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं.—

नवल निकुज नवल नवला मिलि, नवल निकेतन रुचिर बना५।
विलसत विपिन विलास विविध बर, बारिज बदन विकच सचु पाए।[5]

कान्ह कह्यौ बन रैनि न कीजै, सुनहु राधिका प्यारी।
अति हित सों उर लाइ कह्यौ, अब भवन आपनैं जारी॥
मातु-पिता जिय जानै न कोई, गुप्त-प्रीति-रस माती।[6]

कबहुं स्याम जमुनातट जात।
कबहूं कदम चढ़त मग देखत, राधा बिना अतिहीं अकुलात।
कबहू जात बन कुंजधाम कों देखि रहत नहिं कहूं सुहात।[7]

१—विद्यापति पदावली ५८।८५
२—वही, ५६।८६
३—विद्यापति पदावली ११२।१५२
४—,, ,, ११६।१५७
५—सूरसागर पृ० ६३४
६— ,, पृ० ६३६
७—सूरसागर पृ० ६४४

स्पष्ट ही इन पंक्तियों में विद्यापति द्वारा संकेतित 'संकेत-कुंज' एक अपरिहार्य महत्त्व पा गया है। अपभ्रंश मुक्तकों में उल्लिखित संकेत-स्थल और इन संकेत स्थलों में थोड़ा अंतर भी लक्षित करने योग्य है। अपभ्रंश के संकेतस्थल जब ऐहिक जीवन के साधारण काम-तृप्ति के स्थल हैं तो विद्यापति की पदावली में भागवत में उल्लिखित संकेत-स्थलों का, पटभूमि में समाज का काफी छिपाव स्वीकार करते हुए, बहुत कुछ मांसल उल्लेख हुआ है। पर सूरदास तक आकर सब कुछ भक्ति के रंग में रंगकर वही होते हुए भी दूसरा हो गया। इन कुंजों का ऐसा रुचिर चित्र सूर उतारते हैं जैसे कोई अत्यंत पूज्य स्थल हों। यहाँ की क्रीड़ाओं में भी अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छंदता है।

रीतिकाल में आकर राधा-कृष्ण का नाम स्वीकार करते हुए भी इन संकेतस्थलों की दिव्य प्राकृतिक रमणीयता समाप्त हो जाती है। इनके यहाँ आकर कुंज तो रहते हैं पर कुछ और संकेत स्थल जुड़ जाते हैं। इनमें अरहर, कपास और ईख के खेतों का उल्लेख प्रायः हुआ है। उदाहरणस्वरूपः—

(१) सूखी सुता पटेलि की सूखी ऊखनि पेखि।
अब फूली फूली फिरै फूली अरहरि देखि॥[1]

(२) नीच बटोही बात में ऊखनि लेत उखारि।
अरे गरीब गंवार तै काहे करत उजारि॥[2]

(३) कितचित गोरी जौ भयौ, ऊख रहरि कौ नास।
अजहूं अरी हरी हरी, जहँ तहँ खरी कपास॥[3]

अरहर ईख और कपास के खेतों की चरचा रीतिकाल की विलासी, संकीर्ण, पतनशील और उद्देश्यहीन समाज-रचना की सूचना देती है। राजन्य और सामंत-वर्ग को अपनी संतुष्टियों के लिये तो राज्यप्रसाद और उसकी हरमें सुरक्षित थीं पर ऐसा जान पड़ता है साधारण समाज की कुत्सा इन्हीं रास्तों से अपनी संतुष्टि पाती थीं।

१—स० स०, मतिराम स० १२२।६७

२—वही, १२१।५८

३—स० स०, रामसहाय सत० २२६।६०

जैसा कि पृष्ठभूमि-विवेचन में सकेत किया जा चुका है राधा-कृष्ण लोक में शृंगार के अधिष्ठान बहुत पूर्व से रहे हैं भक्ति के तो दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के बाद हुए। हेमचंद्र के प्राकृत-व्याकरण में राधा-कृष्ण से सबद्ध दो अपभ्रश-छद—प्राकृत की गाथा-सप्तशती के राधा कृष्ण से सबद्ध गाथाओं की परपरा में आते हैं। वे दोहे ये हैं:—

राधाकृष्णः हिंदी शृगारिक मुक्तक के मेरुदण्ड

(१) हरि नच्चाविउ पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ।
एम्वहिं राह-पओहरह ज भावइ त होउ॥[१]

हरि को प्रागण में नचाया लोग विस्मय में पड गए। इस प्रकार राधा के पयोधरों को जो भावे सो हो।

(२) एकमेक्कउ जइ वि जोएँदि हरि सुट्ठु सव्वायरेण॥
तो वि द्रेहि जहिं कहिं वि राही।
को सक्कइ संवरेवि दड्ढ-नयणा नेहि पलुट्टा॥[२]

यद्यपि हरि प्रत्येक व्यक्ति का अच्छी तरह और सपूर्ण आदर-भाव से सम्मान करते हैं फिर भी उनके नयन वहीं लगे हैं जहा राधा खड़ी हैं। स्नेहा-प्लुत नेत्रों को कौन भला सवृत कर सकता है।

इन दोनों छदों में हरि का उन राधा की ओर विशिष्ट आकर्षण और स्नेह व्यजित किया गया है जो अनन्य सुदर हैं। इसमें यदि कोई चाहे तो भक्ति-सम्मत अर्थ भी निकाल सकता है उसी प्रकार जिस प्रकार विद्यापति के राधा कृष्ण सबधी ऐहिक भाव परक पदों में से भक्तिमूलक अर्थ भी निकाल लिया जाया करता है। लेकिन भक्तिकाल में यह राधा-कृष्ण रागानुगा भक्ति में डूब गए अर्थात् उनकी सारी विलास-चेष्टाओं को एक आध्यात्मिक व्याख्या मिली। १२वीं शती में सस्कृत कवि जयदेव ने राधा-कृष्ण को इसी रूप में लिया। परवर्ती कवि विद्यापति ने भी श्रीकृष्ण का वही रूप चित्रित किया है पर उसमें जयदेव की अपेक्षा लोकतत्त्व का अधिक प्राधान्य है। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार 'विद्यापति ने राधा कृष्ण का जो चित्र खींचा है उसमें वासना

१—प्रा० व्या० ४।४२०।२
२—वही, ८।४२२।५

का रंग बहुत ही प्रखर है। आराध्यदेव के प्रति भक्ति का जो पवित्र विचार होना चाहिए, वह उसमें लेशमात्र भी नहीं है। सख्य भाव से जो उपासना की गई है उसमें कृष्ण तो यौवन में उन्मुक्त नायक की भाँति है और राधा यौवन की मदिरा में मतवाली एक मुग्धा नायिका की भाँति। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय है[1]।' विद्यापति भक्तकवि न होकर शृंगारी कवि ही थे—इस पर सभी विद्वान प्रायः एकमत हैं। उनकी पदावली में क्रमशः वयः संधि, नख-शिख, सद्यः स्नाता, प्रेम-प्रसंग, दूती, नोक-झोंक, सखी-शिक्षा, मिलन, सखी-संभाषण, कौतुक, अभिसार, छलना, मान, मान-भंग, विदग्ध-विलास, वसंत, विरह, भावोल्लास आदि प्रसंग अत्यंत शृंगारिक ढंग से लाए गए हैं। जिन कतिपय विद्वानो ने विद्यापति की इन कविताओं को भक्तिपरक अर्थ देना चाहा है उनके पास अत्यंत अपर्याप्त प्रमाण है। विद्यापति यदि भक्त थे तो शिव के न कि राधा-कृष्ण के। वे राधाकृष्ण के शृंगारिक जीवन के कवि-गायक थे भक्त-गायक नहीं।

परवर्ती कृष्ण-भक्त कवि सूरदास में जो कवित्व है उसमें उनके भक्त-हृदय का बराबर आभास मिलता है। उनमें भक्ति-तत्व के इंगित अत्यंत स्पष्ट हैं। 'सूरसागर' में श्रीकृष्ण और राधा की विलास-लीलाओं को देखने के लिये देवता पृथ्वी पर उतर आते हैं, उसके श्रीकृष्ण निखिल-आनंद-संदोह, सर्वदेवोपरि, पूर्ण सौंदर्यविग्रह और भक्त हृदयावलंबन लीला विभु हैं। इन सुस्पष्ट सकेतों और भक्त-हृदय की चकित गद्‌गद् भावनाओं का विद्यापति की पदावली में सर्वथा अभाव है। विद्यापति और सूर दोनों के राधा-कृष्ण संबंधी मानसिक अवधारणाओं में ही पर्याप्त अंतर है। विद्यापति के लिये राधा-कृष्ण-प्रेम काव्य-वस्तु है किंतु सूर के लिये पूज्य और साधनायोग्य वस्तु। इसीलिए ऊपर कहा गया है कि विद्यापति में कृष्ण और राधा का लोक-परंपरा में प्रचलित रूप ही मिलता है। सद्यःस्नाता राधा का वर्णन करते हुए विद्यापति कहते है—

कामिनि करए सनाने।
हेरतहि हृदय हनए पच बाने।
× × ×
तितल बसन तन लाग्,
मुनिहु का मानस मनमथ जाग्।

१—हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ५६३।

विद्यापति की पदावली में कहीं दस-पाँच पदों में एकबार राधा-कृष्ण का नाम आता है अन्यथा कामिनी का उद्दीपक नखशिख वर्णन ही हुआ है जिसे कवि अपने यौवन-विमुग्ध चित्त से अपने आश्रयदाता 'लखिमा देई रूपनारायन' की मानसिक तृप्ति के लिये लिखता है। 'कामिनी' के उस रूप के प्रति विद्यापति में भी मोह है इसीलिये सपूर्ण पदावली में एक व्यक्तिगत ऐहिक स्वरकंप आघत मिलता है। इस प्रकार की रूपासक्ति सूरदास में कहीं नहीं मिलेगी। सूरदास के रति-वर्णन में भी एक अनासक्ति-भावना मिलेगी।

सूरदास या अन्य भक्तियुगीन कृष्णभक्ति कवि, राधा-कृष्ण की सपूर्ण विलास-चेष्टाओं का उपयोग करते हुए भी अपना भक्ति-उद्वेलित हृदय उसी प्रकार नहीं छिपा पाते जिस प्रकार विद्यापति राधा-कृष्ण की समस्त भक्ति-सम्मत रूढ़ियों को लेते हुए भी अपना लोक-परंपरा-समर्थित श्रृंगारी रूप। कृष्णभक्त कवियों में जितना वर्णन कृष्ण-सौंदर्य का हुआ है उतना राधा का नहीं परतु विद्यापति में राधा के रूपवर्णन में उतनी ही रुचि ली गई है जितनी रीतिकाल में। इन सब के मूल में वही बात है—पूज्य बुद्धि का अभाव और मन में लौकिक नारी की रूप-शोभा का ध्यान। यह दूसरा प्रमाण है।

विद्यापति और सूरदास दोनों के राधा-कृष्ण संबधी मान चित्रण में भी लक्ष्य करने योग्य अतर है। विद्यापति में राधा का कामिनी रूप कृष्ण से अपना मान-मूल्य बहुत अधिक माँगता है। उसमें विलास कोविद नृपतियों का अपना अंतःपुर झाँक उठता है। इतना ही नहीं विद्यापति की राधा कृष्ण की दूसरी प्रेमिका को रचमात्र भी सह नहीं सकतीं किंतु सूर में कृष्ण का बहुनायकत्व स्वीकृत हो गया है।

डोलत महल महल इहि टहलनि,
जानति तुम बहुनायक पीय।
आए सुरति किए, टाटक रस, लिए सकसकी, धकधकी हीय।
वदन छुटे पाग के वधन, लटपट पेंच अटपटे दीय।
सूरदास प्रभु हौ बहुनायक मेरें पग धारे भली कीय॥

स्पष्ट ही इसमें मान के साथ प्रिय के बहुनायकत्व को स्वीकार-सा करके अपने यहाँ उनके अपराध करके भी आने को अपना सौभाग्य-सा माना गया है।

सूर की राधा कम मान नहीं करतीं पर उसमें ऊपर वाली धारणा अंतर्यमित सी रहती है। सूर के कृष्ण राधा को उतनी तत्परता से मनाते भी नहीं जितनी तत्परता से विद्यापति के कृष्ण। इसके पीछे वास्तविकता यह है कि राधा भक्त की अभ्यंतरित रूप हैं जो कांताभाव की भक्ति करके भी मान से अधिक नमन को कर्तव्य मानता है।

रीतिकाल में यह सारी बात बदल जाती है। राधा-कृष्ण वहाँ भी रहते हैं पर उनको ग्रहण करने वाले कवि का परिवेश बदल जाता है। उनके कवि दरबारी होते हैं भक्त नहीं। श्रोता या प्रशंसक राजा होते हैं आचार्य या जन-समुदाय नहीं। ऐसी स्थिति में राधा-कृष्ण राजाओं की विलासितापूर्ण उद्देश्यहीन मानसिक आकांक्षाओं की तृप्ति के साधन बन जाते हैं। उनके चतुर्दिक लिपटी आध्यात्मिक अर्थ की छायाएँ हट जाती हैं और अत्यंत सुंदरी नायिका के रूप में राधा और अत्यंत सुंदर कामशास्त्रविद नायक के रूप में कृष्ण बच रहते हैं। जब भक्तिकालीन राधा-कृष्ण भक्तों को उत्तरोत्तर ईश्वरोन्मुक्त करते थे तो रीतिकालीन राधा-कृष्ण राजाओं और कवियों को विलासोन्मुख। संपूर्ण रीतिकाल इन प्रवृत्तियों का उदाहरण है। उनके अनुसार उनका मूल उद्देश्य कवित्व प्रदर्शन ही था।

आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई,
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो हैं।

इस प्रकार अपभ्रंश शृंगारिक मुक्तक-काव्य में जिस लौकिक राधा-कृष्ण प्रेम का स्पष्ट आभास मिलता है वह विद्यापति में भक्ति-सम्मत रूढ़ियों से युक्त हो जाता है पर अपने मूल में वह ऐहिक ही बना रहता है। किंतु भक्ति-काल में जाकर वे राधा-कृष्ण अपने समस्त शृंगारिक स्वरूप के सहित एक आध्यात्मिक भूमिका प्राप्त कर लेते हैं। रीतिकाल में यह आध्यात्मिक भूमिका फिर हट जाती है और लोक-प्रचलित उनका साधारण केलि-विलास राज्य-प्रासादों के वातावरण के अनुरूप गठित होकर बच रहता है।[1]

१——देव ने 'सुजान-विनोद' में राधा को जिस भूमि पर खड़ा किया है वह भूमि संपूर्ण लोककाव्य, लोकप्रभावित अपभ्रंश काव्य और भक्तिकाव्य में अप्राप्त है। यह केवल रीतिकाव्य में ही प्राप्त होती है। जहाँ राधा के चतुर्दिक से आध्यात्मिक अर्थ की छायाएँ हट गयी हैं।

फटिक सिलान सों सुधार्यौ सुधा-मंदिर,
उदधि दधि को सो अधिकाई उमगै अनंद।

संयोग-शृंगार की रूढ़ियाँ

आचार्यों ने सयोग-शृगार की विविध दशाओं का उस वैज्ञानिकता और विवरण के साथ निरूपण नहीं किया है जिस प्रकार वियोग-शृंगार की दशाओं का। कदाचित इसलिए कि सयोग-शृंगार की विविध दशाओं का सूक्ष्म निरूपण कामशास्त्रीय ग्रथों का विषय बन जाता है। फिर भी कवि परपरा ने मिलन प्रसगों का पूर्ण चित्रण करने का प्रयत्न किया है। अपभ्रंश-काव्य में पूर्ण कुठाहीनता और प्राकृतिक मासलता के साथ मिलन-प्रसग चित्रित हुए है। इनमें प्रिय का दर्शन, उससे उत्पन्न मनःस्थिति, मिलन, मान, परिरभ, अभिसार, प्रिय-गमन सवका चित्रण हुआ है पर अत्यत सहज पारिवारिकता के साथ। भक्तिकाल में सूरदास आदि के काव्यों में इन सभी स्थितियों का अत्यत विशद चित्रण हुआ है परतु उसमें सहज पारिवारिकता नहीं है बल्कि प्रिय के वहुनायकत्व और प्रियाओं के बाहुल्य के कारण उसका रूप ही एकदम भिन्न हो गया है। इस काल में मासलता भी कम नहीं है बल्कि चीरहरण आदि के प्रसंगों में अत्यत अकथनीय बातें तक कह दी गई हैं पर इन सब के भीतर और अगल-बगल ऐसे स्पष्ट सकेत बराबर दिए गए हैं जिनसे उस शृगार का प्रभाव भिन्न हो जाता है। किंतु रीतिकाल के सयोग शृगार में, परिवेशगत भिन्नताओं के कारण कई प्रकार की नवीनताएँ होते हुए भी, अपभ्रंशकालीन सयोग-शृगार की अनेक रूढ़ियाँ प्राय ज्यों की त्यों मिल जाती हैं।

प्रिय-दर्शन

प्रिय-दर्शन सयोग शृगार की सबसे आरभिक स्थिति है। प्रिय को देखते ही प्रेमिका के हृदय की अनेक प्रकार की स्थितियाँ हो सकती हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि यह सारी स्थितियाँ आह्लादपरक अवश्य होंगी। कवियों ने इस आह्लाद को मूर्त करने के लिये रोमाच, शरीर का आकस्मिक विकास, व्यापक औदार्य, अश्रु-पुलक, उल्लासोदय आदि का चित्रण किया है।

वाहिर ते भीतर लौं भीति न दिखैयै देव,
दूध कैसे फेनु फैलो आँगन फरस-चद।
तारा सी तरुनि तामैं खड़ी झिलमिल होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरद।
आरसी-से अम्बर में आभा-सी उज्यारी लागै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब सो लगत चद।

वायसु उड्डावंतिए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ।
अद्धावलया महिहि गय अद्धा फुट्टि तडत्ति ॥[1]

कौवा उड़ाते हुए प्रिय सहसा दीख गया । विरहजन्य दौर्बल्य के कारण आधी चूड़ियाँ तो धरती पर गिर चुकी थी पर प्रिय-आगमनजन्य प्रसन्नता के कारण उत्पन्न स्वास्थ्य से आधी चूड़ियां तडक कर टूट गयी ।

सखिए साहिब आविया, जाहं की हूंती चाइ ।
हियडउ हेमांगिरि भयउ, तन पंजरे न माइ ॥[2]

पति आयौ परदेश तैं हिय हुलसी अति वाम ।
टूक टूक कंचुक कियौ कर कमनैती काम ॥[3]

अपभ्रंश के उदाहरण में विब्बोक के माध्यम से विषाद और हर्ष का चित्रण किया गया है । ढूला के दूहे में अत्यंत स्वाभाविक ढंग से कहा गया है कि प्रसन्नता में हृदय हेमांगिरि होकर शरीर में समाने में असमर्थ हो गया । मतिराम के दोहे में प्रिय आगमनजन्य हुलास और कामातिरेक से चोली के फट जाने का संकेत है । प्रथम और द्वितीय में प्रसन्नता का आतिशय्य मात्र है पर रीतिकालीन दोहे में कामातिरेक भी है इसलिए चोली फटती है । ऊहा का दोनो में प्रयोग है । प्रियागमन के होते ही प्रसन्नता के अतिरिक्त रति की इच्छा रीतिकाल की विशेषता है ।

खज्जइ नवि कसरक्केहि पिज्जइ नवि घुंटेहिं ।
एम्वइ होइ सुहच्छडी पिएं दिट्ठे नयणेहि ॥[4]

प्रिय के नयनों से दीख जाने पर सुख की ऐसी अवस्था हो जाती है कि कचर कचर खाया नहीं जाता और घूंट घूंट पिया नहीं जाता ।

अद्भुत गति यह प्रेम की वैननि कही न जाइ ।
दरस भूख लागै द्दगन भूखहि देत भगाइ ।[5]

१—प्राकृत व्याकरण ४।३५२।१

२—ढूला मारू रा दूहा १७५।५२६

३—सतसई सप्तक, मतिराम सतसई १२४।६१

४—प्राकृत व्याकरण ४।४२३।२

५—सतसई सप्तक, रसनिधि सतसई २०४।४०६

हो क्योंकि जब कि अपभ्रंश का दोहा पश्चिम में लिखा गया होगा तो विद्यापति की पक्तियाँ मिथिला में।

(घ) भण सहि निहुअइ तेव मइ जइ पिउ दिट्ठ सदोसु।
जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिय तासु ॥[१]

हे सखी यदि प्रिय सदोष दिखाई पड़ा है, तो मुझसे एकात में इस प्रकार कहो कि उसका पक्षपाती मेरा मन न जान सके।

सखी सिखावति मान-बिधि, सैननि वरजत बाल।
हरुएं कहि मो हिय बसत, सदा बिहारी लाल ॥[२]

दोनों दोहों में एक ही भाव व्याप्त है। प्रेमिका का मन प्रिय का पक्षपाती है अथवा प्रिय से पूरित है इसलिये वह सखि से उसके दोषों को न कहने के लिये कहती है।

श्रृंगार के सयोगात्मक पक्ष को सस्कृत-साहित्य शास्त्रियों ने संभोग श्रृंगार कहा है। सभोग-वर्णन के अतर्गत प्रिय और प्रेमिका के निकटतम मिलन का वर्णन होता है। यह बड़ा ही उद्दाम प्रणय-व्यापार है। यहाँ कवि-कौशल में विशेष सावधानी अपेक्षित होती है। उस उष्णता का अनासक्त भाव से वर्णन कवि की सफलता है आसक्त भाव से वर्णन असफलता। हम पाएगे कि अपभ्रश मुक्तक कवि में अनासक्ति-भाव अधिक था और हिंदी कवि में यह बात धीरे-धीरे समाप्त होती गयी यहाँ तक कि रीतिकाल तक जाते-जाते बिलकुल समाप्त हो गयी। उदाहरण नीचे है—

संभोग-वर्णन

(क) अगिहिं अंगु न मिलेउ मिलि अहरे अहर न पत्तु।
पिअ जोअन्तिहे मुह कमलु, एम्वइ सुरउ समत्तु ॥[3]

अगों से अग नहीं मिले और अधर से अधर। प्रिय का मुख-कमल निहारते-निहारते ही सुरत समाप्त हो गया।

तौ में अनिमिप नैनता किए लाल वस ऐन।
अनमिप नैन सुनैन ए निरखत अनमिप नैन ।[४]

१—प्राकृत व्याकरण ४।४०१।४

२—लालचद्रिका ७१३

३—प्राकृत व्याकरण ४।३३२।२

४—स० स० मतिराम सतसई १२०।३८

दोनों दोहों में प्रिय की शोभा में तन्मय होकर अनिमेष नयन होने के अर्थ का साम्य है। यह निकटतम मिलन का एक रूप है।

(ख) [१] जउ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगे पइसीसु ॥[1]

यदि किसी प्रकार प्रिय को पा लूंगी तो एक अपूर्व कौतुक करूँगी। नये साजे सकोरे में जैसे पानी प्रविष्ट हो जाता है वैसे ही मै भी सर्वांग से प्रवेश कर जाऊँगी।

(२) वीजुलिया चहलावहलि ओभइ आभइ कोडि।
कद रे मिलउंली सज्जना कस कंचूकी छोडि ॥[2]
मन मिलिया, तन गड्डिया, दोहग दूरि गयाह।
सज्जण पाणी खीर ज्यूं खिल्लोखिल्ल थयाह ॥[3]
अहरे अहर लगांइ तने तन मेलिया ··· ··· ॥[4]

(३) निवि-बंधन हरि किए कर दूर। एहो भए तोहर मनोरथ पूर ॥
हमर सपथ जौं हेरह मुरारि। लहु लहु तब हम पारब गारि ॥
विहर से रहसि हेरने कौन काम। से नहि सहबहि हमर परान ॥[5]

(४) राजत दोउ रति रंग भरे।
सहज प्रीति विपरीत निसा बस आलस सेज परे ॥
अति रनबीर परस्पर दोऊ, नेकहुँ कोउ न मुरे।
अंग अंग बल अपने अस्त्रनि, रति संग्राम लरे ॥
मगन मुरछि रहे सेज खेत पर, इत-उत कोउ न टरे।
सूर स्याम स्यामा रति-रन तें इक पग पल न हरे ॥[6]

१—प्राकृत व्याकरण ४।३९६।४
२—ढोला मारू रा दूहा ४६।१५
३— ,, ,, १२४।५५३
४— ,, ,, १८६।५६६
५—विद्यापति पदावली ८३।११५
६—सूरसागर पृ० ६४८

(५) तंत्री नाद, कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूडे बूडे, तिरे जे बूडे सब अंग॥
चमक तमक हासी, ससक, मसक झपट लपटानि।
ए जिहि रति सो रति मुकति, और मुकति अति हानि॥[१]
पर्यौ जोरु बिपरीत रति, रूपी सुरत रनधीर।
करति कुलाहल किंकिनी गह्यौ मौन मंजीर॥१२९॥[२]

अपभ्रंश दोहा, ढोला मारू के दूहे, विद्यापति और सूर के पद बिहारी के दोहे रति-प्रसंगों के बदलते हुए रूपों का स्पष्ट परिचय देते हैं। अपभ्रंश के 'अपूर्व कौतुक' में तन ही नहीं मन का भी मिलन है, विद्यापति और सूर में रति प्रसंग का विवरणात्मक चित्रण है तथा रीतिकाल में सूर से जरा-सा अंतर होते हुए विपरीत रति आदि के साथ स्पष्ट रति-प्रसंग-निर्देश है। अपभ्रंश से रीतिकाल तक क्रमशः मिलन-प्रसंगों में मन-तत्व के स्थान पर तन-तत्व और सांकेतिकता के स्थान पर विवरण, साधारण प्रसंगों की अपेक्षा विपरीत रति आदि के कोकशास्त्रीय विधि विधान बढ़ते जाते हैं।

(ग) ढोल्ला सामला धण चम्पा वण्णी।
णाइ सुवण्ण-रेह कस वट्टइ दिण्णी॥[३]

प्रिय के मरकत वर्ण के वक्षस्थल पर चंपकवर्णा नायिका उसी प्रकार सुशोभित हो रही है जिस प्रकार कसौटी पर दी हुई सुवर्ण-रेखा।

नील नलिन दल सेज में परी सुतनु तनु देह।
लसै कसौटी में मनौ तनक कनक की रेह॥[४]

दोनों दोहों में उपमा और वक्तव्य का लगभग पूरा पूरा साम्य है।

(घ) चम्पय कुसुम हो मज्झि सहि भसलु पइट्ठउ।
सोहइ इंदनीलु जणि कणइ बइट्ठउ॥[५]

१—बिहारी सतसई ६६।७६

२—बिहारी सतसई ७१।१२६

३—प्राकृत व्याकरण ४।३३०।१

४—सतसई सप्तक, मतिराम स० १२६।१६६

५—प्राकृत व्याकरण ४।४४०।४

चंपा के पुष्प के मध्य भ्रमर प्रविष्ट हो गया है। मानो इंद्र नीलमणि स्वर्ण खंड पर स्थित हो।

सेज रमंता मारुवि खिण मेल्हणीम जाइ।
जांणिक विकसी केतकी भमर वइट्ठइ आइ॥[1]

दोनों दोहों का मूल भाव एक ही है। अंतर यह है कि जब प्राकृत व्याकरण के दोहे में शृंगारिक इंगित अन्योक्तिपरक चित्र द्वारा प्रस्तुत किया गया है तो ढोला मारू रा दूहा के दोहे में स्पष्ट चित्र द्वारा। पुष्प नामों का भी अंतर है किंतु सांकेतिक ढग से एक ही वात कही गई है।

(च) केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किध रयणी छुड्डु होइ।
नव बहु दंसण लालसउ वहइ मणोरह सोइ॥[2]

किस प्रकार दुष्ट दिन समाप्त होगा और शीघ्र रात होगी। नायक नववधू की दर्शन लालसा से इन मनोरथों का भार वहन कर रहा है। रीतिकाल के विशिष्ट रीति कवि मतिराम ने भी इस औत्सुक्य की व्यंजना एक स्थल पर किया है पर दोनों में बहुत बड़ा अंतर है—

केलि की राति अघाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोऊ पानी दै जाइयौ भीतर बैठि कै वात सुनाई॥
जेठी पठाई गई दुलही हंसि हेरि हरैं मतिराम बुलाइ।
कान्ह के बोल पै कान न दीन्हीं सुगेह की देहरि पै धरि आई॥

अपभ्रंश काल का नायक जब नववधू की दर्शन-लालसा से रात्रि आगमन की शीघ्र कामना करता है और दिन का शीघ्र अवसान चाहता है तो रीतिकाल के लला रात में केलि करके भी नही अघाते और दिन में पुनः घात लगाते हैं।

यह वस्तुतः दो स्वस्थ और अस्वस्थ युग-प्रवृत्तियों का अंतर है।

वैसे तो दंतक्षत या नखक्षत संभोग प्रसंग के नितांत अमानुषिक अंश है किंतु शृंगार साहित्य में यह एक बहुत ही लोकप्रिय

दंतक्षत और नखक्षत

रूढ़ि है जिसका हिंदी के संपूर्ण मध्यकालीन मुक्तकों में विशेष भाव से वर्णन हुआ है।

१—ढोला मारू रा दूहा ५६१

२—प्राकृत व्याकरण ४।४०१।१

(क) बिंबाहरि तणु रयण-वणु किह ठिउ सिरि आणन्द ।
निरुवम रसु पिएं पिअवि अणु सेसहो दिण्णी मुद्द ॥
—प्राकृत व्याकरण ४।४०१।३

तन्वी के बिंबाधर पर रदन व्रण (दतक्षत) की आनंदश्री कैसी स्थित है। मानो निरुपम रस पीकर प्रिय ने शेष पर मुहर लगा दी है। यह इस प्रकरण की बहुत ही प्रचलित उक्ति है।

(ख) कुच कोरक तब कर गहि लेल ।
कांच बदरि अरुनिम रुचि भेल ।
लावए चाहिय नखर विसेख ।
भौंहनि आवए चाद क रेख ॥

विद्यापति ने सरस मैथिली भाषा में सपूर्ण व्यापार को, प्रेमी और प्रेमिका की मानसिक प्रतिक्रियाओं के मूर्त विधान के साथ अत्यत मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। इसका कारण यह है कि विद्यापति काव्य कला के तो बहुत बडे मर्मज्ञ थे ही साथ ही बहुत बडे प्रतिभाशाली भी थे। सस्कृत के प्रकाड पडित होते हुए भी अपभ्रश को 'सब जन मिट्ठा' समझ कर उसमें ही काव्य रचना करनेवाले विद्यापति इस दृष्टि से तुलसी की परपरा में आते हैं।

(ग) चितै मुख चाह चुबन करत, सकुच तजि,
दसन छत अधर पिय मगन दीन्हौं ॥
परत स्नम बूँद टप टपकि आनन बाल
भई बेहाल रति मोह भारी ॥
विधु परसि दत विध्वत अंमृत चुवत
सूर विपरीत रति पीउ प्यारी ॥

सूरदास में दतक्षत वर्णन में विवरण से काम लिया गया है कवि विवरण उपस्थापन में अनासक्त है—यह स्पष्ट है फिर भी लगता है रीतिकाल के हम अधिकाधिक निकट आते जा रहे हैं। सूर के 'पीउ' को विपरीत रति अत्यत प्यारी है।

(ग) सुघर वदन के अधर सद रदन सुछद छविराज ।
मदन बदन कर सदन ते मनु आयौ द्विजराज ॥
स० स० राम सतसई २३२।४६

रीतिकालीन दंत-क्षत-वर्णन में केवल दो पंक्तियों के अवकाश के कारण दंतक्षत शोभा को ही उपमित करके छोड़ दिया गया है। वैसे जिस प्रवृत्ति का संकेत सूर में हुआ है वह इस काल में अपनी पराकाष्ठा को पहुँचती है।

तिय निय हिय जु लगी चलत पिय नख रेख खरोट।
सूखन देति न सरसई खोटि खोंटि खत खोंटि ॥[1]

अधरों पर दंतक्षत और उरोजों पर नखक्षत का चित्रण संयोग श्रृंगार की प्रधान रूढ़ि रही है। अपभ्रंश में तो केवल दतक्षत का ही उल्लेख है पर इसी उल्लेख से उसके विशाल लुप्त मुक्तक साहित्य में नखक्षत का भी अनुमान किया जा सकता है। विद्यापति, सूरदास, रीति कवि परंपरा सबमें दंतक्षत और नखक्षत की यह रूढ़ि मिलती है। अवश्य ही बिहारी की नायिका के बराबर नखक्षत को खरोंच खरोच देने में फारसी रूढ़ियों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

प्रवासशील प्रिय और प्रवत्स्यतपतिका

प्रणय व्यापार में प्रिय और प्रेमी का प्रथम दर्शन काव्य की दृष्टि से उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना प्रिय के प्रवास करने का अवसर। यह अवसर अपनी कारुणिक गंभीरता के कारण अधिक काव्य-शक्ति की अपेक्षा रखता है। मध्यकाल में इस प्रसंग का चित्रण उतना सुंदर नहीं हुआ जितना आधुनिक काल में, काव्य रूप की दृष्टि से मुक्तकों में उतना सुंदर चित्रण नहीं हुआ जितना प्रबंधों में। फिर भी इस रूढ़ि का जो भी यत्किंचित विकास हुआ वह नीचे दिया जा रहा है।

(क) जाउ म जन्तउ पल्लवह दक्खउ कइ पय देइ।
हिअइ तिरिच्छी हउं जि पर पीउ डम्बरइ करेइ ॥[2]

जाने दो, जाते हुए को मत रोको। देखूं कितने पग देता है। हृदय में तो मैं तिरछी होकर पड़ी हुई हूँ। प्रिय केवल जाने का आडंबर कर रहा है।

१—स० स०, बिहारी सत० ८४।२९८
२—प्राकृत व्याकरण ४।४२०।४

या भव पारावार को उल्लघि पार को जाय ।
तिय छवि छाया ग्राहिनी गहे बीच ही आय ॥[1]

अपभ्रश के दोहे में जो बात चित्रोपम भाषा में सरस बनाकर कही गई है उसे ही बिहारी ने सिद्धात रूप में रख दिया है अन्यथा बात एक ही है । भव को उल्लघित करके पार जाना कठिन है । यदि उस भव में छायाग्राहिणी 'तिरिच्छी तिय छवि' पड़ी हुई है तो इसकी उपेक्षा कोई कैसे कर सकता है ।

(ख) बाँह बिछोडवि जाहि तुहु हंउ तेवइ् को दोसु ।
हिअयट्ठिउ जइ् नीसरइ् जाणउ मुज सरोसु ॥[2]
बाँह छुड़ाए जात हौ निबल जानि कै मोहि ।
हिरदय ते जब जाहुगे सबल बदौंगो तोहिं ॥[3]

सूरदास की पक्तियाँ अपभ्रंश वाले दोहे का सुदर अनुवाद हैं । रीति काव्य में ऐसी मार्मिक पंक्तियाँ शायद ही कहीं हो । वहाँ का न तो प्रिय इतना निष्करुण है कि वह प्रिया के अनुनय पर भी विदेशगमन करे न तो प्रिया के हृदय में ही प्रिय की इतनी दृढ़ मूर्ति स्थापित है । वहाँ के नायक-नायिका का मन जितना ऐन्द्रिक सुखोपभोग में लगता है उतना इन मार्मिक और स्पर्शी प्रसगों में नहीं ।

रूप चित्रण को सयोग-वर्णन के अतर्गत ही लिया जाता है । प्रेम के सयोग पक्ष में वहिर्वृत्ति प्रधान होती है । इसमें आलबन का रूप और उसकी चेष्टाएँ आती हैं । इसके अतिरिक्त हावों और ऋतुओं का उद्दीपन आता है ।

' रूप-चित्रण

अर्थात् संयोग में नखशिख और षडऋतु की उक्तियाँ आती हैं ।[4] अपभ्रश में षडऋतु-वर्णन चरितकाव्यों में तो हुआ है किंतु अबतक के प्राप्त मुक्तकों में मुझे ऐसे प्रसग नहीं मिले । वैसे प्रबधों में भी प्राप्त प्रकृति वर्णन का मुक्तकोचित रूप यदि अपभ्रश में कहीं मिलता है तो उसका यथाप्रसग विचार किया गया है ।

१—स० स० बिहारी सत० ६४।४३३
२—प्राकृत व्याकरण ४।४३६।३
३—सूरदास कृत ।
४—बिहारी—ले०—प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १३६ ।

हम रूप-चित्रण के विकास को दो शीर्षकों के अंतर्गत समझनेका प्रयत्न करेंगे—१—ऐहिक काव्यगत शृंगार का रूपचित्रण। २—भक्तिकाव्यगत शृङ्गार का रूप चित्रण। ऐसा इसलिए करना आवश्यक हुआ है कि अपभ्रंश काव्य के रूप-चित्रण और रीतिकाव्य के रूप-चित्रण की रूढ़ियों में आश्चर्य-जनक समता मिलती है किंतु भक्तिकाव्य में ऐहिक काव्यगत शृंगार के रूप-चित्रण से कुछ मौलिक अंतर उपस्थित हो जाते हैं।

ऐहिक काव्यगत शृंगार का रूप-चित्रण

अपभ्रंश के कतिपय प्राप्त मुक्तकों में नयन, मुख, स्तन और नारी की अंग,समष्टि से प्राप्त प्रभाव का रुचि के साथ वर्णन हुआ है। कटि, नितम्ब, रोमावली, स्तनान्तर, भुजयुगल, केशकलाप, अधर आदि का भी वर्णन हुआ है पर एक दो स्थलों पर सामान्य ढंग से। यह अधिक संभव है कि लुप्त सामग्री में ऐसी रचनाएँ भी हों जिनमें सभी अंगों का अलग अलग—नखशिखमूलक—विशद वर्णन हो किंतु जबतक ऐसी कोई सामग्री नहीं मिलती तबतक उपर्युक्त निष्कर्ष ही उपयुक्त है।

[क] नयन

(१) विट्टिए मइ भणिय तुहु मा कुरु वंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिव मारइ हिअइ पइट्ठि॥[1]

हे विटिया! मैंने तुमसे कहा कि दृष्टि को वंकिम मत करो क्योंकि यह हे पुत्री, अनीदार भाले के समान हृदय में चुभकर मार करती है। मां को संबोधन करके तो नहीं किंतु सखी अपनी नायिका-सखी को संबोधन करके कहती है—

लागत कुटिल कटाच्छ सर, क्यों न होंहि बेहाल।
कढ़तु जि हियहि, दुसाल करि, तऊ रहत नटसाल॥[2]

ऐसी शताधिक उक्तियाँ रीतिकाल में सुलभ हैं।

(२) जिवं जिवं वंकिम लोअणहि णिरु सामल सिक्खेइ।
तिवं तिवं वम्महु निअय सर, खर पत्थर तिक्खेवि॥[3]

१—प्राकृत—व्याकरण—हेमचद्राचार्य ४।३३०।३

२—स० स०, बिहारी स० ८६। ३७५

३—प्राकृत व्याकरण ४।३४४।१

भौंहनि संग चढ़ाइयो कर गहि चाप मनोज।
नाह नेह साथहि बढ़्यो लोचन लाज उरोज।[1]

एक दूसरे प्रकार के भी बंकिम लोचन होते हैं—

(३) जइ तहे तुट्टउ नेहडा, मइ सहु न वि तिलतार।
त किहे बकेहि लोअणेहि, जोइज्जइ सयबार॥[2]

यद्यपि उसका स्नेह टूट गया है और मेरे साथ तिलतार नहीं है, तो भी मैं बाके लोचनों द्वारा सैकड़ों बार क्यों देखा जाता हूँ।

सतरौंही भौहनि नहीं दुरै दुराए नेह।
होति नाम नदलाल कौं नीपमाल सी देह॥[3]

तिलतार टूट जाने पर भी अपभ्रंश का नायक शतबार देखा जाता है और नायिका शत बार देखती है—"बंकिम लोअणहि"। इधर रीतिकाल की 'सतरौंहीं भौंहों' वाली नायिका भी नेह को दुराने का प्रयास कर रही है पर तब भी कहीं नेह टूट सकता है या दूर किया जा सकता है। दोनों के मूल भाव समान हैं।

[ख] मुख

(१) जिव तिव तिक्खा लेवि कर जइ ससि छोलिज्जन्तु।
तो जइ गोरिहे मुहकमलु सरसिम का वि लहन्तु॥[4]

ज्यों त्यों तीक्ष्ण किरणों को लेकर यदि शशि छोला जाय तो शायद वह गोरी के मुख कमल की समानता पा जाय। यहाँ चन्द्रमा उपमान है यद्यपि वह हीन रूप में प्रस्तुत किया गया है।

तेरी मुख समता करी साहस करि निरसक।
धूरि परी अरविंद मुख चदहि लग्यौ कलक॥[5]

अपभ्रंश में शशि के कलंक मिटने पर उसके नायिका के मुख के समान बनने की बात कही गयी है। रीतिकाल में चन्द्र बेचारे का निशंक होकर

१—स० स०, मतिराम स० १२३। ७८
२—प्राकृत व्याकरण ४। ३५६। १
३—स० स०, मतिराम स० १२२।६६
४—प्राकृत व्याकरण ४।३६५।१
५—स० स०, मतिराम स० ३।११६।३२

नायिका मुख की समता करना ही उसके लिए काल बन गया और उसे कलंक लग गया है। एक में एक प्रकार की वन्य सुकुमारता है तो दूसरी में उक्ति चमत्कार कुछ अधिक आ गया है। यों मूल में बात एक ही है।

(३) ओ गोरी मुह निज्जिअइ बद्दलि लुक्कु मयंकु।
अन्नुवि जो परिहविय तणु सो किवँ भवइ निसंकु ॥[१]

मुख निरखत ससि गयौ अंबर कौ तड़ित बसन छबि हेरि ॥

इस प्रकार की उक्तियाँ इन्हीं अर्थों में सम्पूर्ण रीतिकाल में बिखरी पड़ी हैं। यदि कथन-शैली में साम्य लें तो चंद्रमा के बादल में छिपने की ही तरह ढोला में मारवणी को प्रिय-मिलन के लिए, महल में उसी प्रकार चलते हुए कहा गया है जिस प्रकार बादलों में चंद्रमा चलता है। लोकगीतात्मक काव्यों में ऐसी सारी उक्तियाँ अतिशय सुदर बन पड़ी हैं। दूसरा उदाहरण लें:—

(३) उअ कणिआरु पफुल्लिअइ कंचण कंति पयासु।
गोरी वयण-विणिज्जिअउ नं सेवइ वनवासु ॥[२]

वह कंचन कांति के प्रकाश वाला कर्णिकार प्रफुल्लित हुआ। मानो वह गोरी की बदन-शोभा से विनिर्जित होकर वनवास का सेवन कर रहा है।

कवरी भय चामर गिरि कन्दर, मुख भय चंदअकासे।
हरि नयन भय, स्वर भय कोकिल, गति भय गज वनवासे।

विद्यापति ने भी रूढ़ उपमानों और कविसमयों के सहारे उसी शैली में सौंदर्य चित्रण करने का प्रयत्न किया है।

निअ मुँह करिहि विमुद्ध कर अन्धारइ पडिपेक्खइ।
ससि मंडल चन्दमिए पुणु काइं न दूरे देक्खइ ॥[३]

मुग्धा नायिका अपने मुख की किरणों से ही अंधकार में अपना हाथ देख लेती है। जब कि उसका मुख पूर्ण शशि-मंडल की तरह प्रकाशोज्वल है तो वह क्यों दूर तक नहीं देख सकती।

१—प्राकृत व्याकरण ४।४०१।२

२—प्राकृत व्याकरण ४।३९६।५

३—प्राकृत व्याकरण ४।३४९।१

पन्ना ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौई रहत आनन-ओप-उजास॥[1]

सपूर्ण शृगार-साहित्य में नायिका के मुख की उपमा चंद्रमा से, उभय-पक्षों में गोलाई और प्रकाश के गुण-साम्य के कारण देने की रूढ़ि बन गई है। रीतिकाल में तद्गुण, निमिलित आदि कुछ अलकारों के खिलवाड़ के कारण इस प्रकार की उपमाओं का बड़ा दुरुपयोग किया गया है। बिहारी की नायिकाओं के राज्य में पूर्णिमा की रात कभी समाप्त ही नहीं होती थी और 'जुवति जोन्ह में मिल गई' की दशा हो जाती थी। वह तो उसकी सुगध होती थी जिसके सहारे 'अली चली सग जाइ'। यह सब उक्ति-वैचित्र्य की महिमा है।

[ग] स्तन

फोडेन्ति जो हियडउ अप्पणउ ताहं पराइ कवण घृण।
रक्खेजहु लोअहो अप्पणा बालहे जाया विसम थण॥[2]
अइतुंगतणु ज थणह सो छेयहु न हु लाहु।
सहि जइ केवइ तुडि वसेण अहरि पहुँच्चइ नाहु॥[3]

जो अपना हृदय फोड़कर बाहर निकलता है उसको पराए हृदय को फोड़ने में क्या घृणा हो सकती है। हे रसिक! दृष्टि-संवरण करो इस बाला के विषम स्तन पैदा हो गए हैं। इतना ही नहीं, ये स्तन इतने उत्तु ग हो जाते हैं कि इनसे लाभ की जगह पर हानि होने लगती है। प्रिय बहुत कठिनाई और बहुत देर के बाद अधरों तक पहुँच पाता है।

प्रान पियारौ पग पर्यो, तू न लखति इह ओर।
ऐसो उरज कठोर तौ उचितै उर जु कठोर॥[4]
कर सरोज सों गहि रही पिय कर गहत उरोज।
लाज प्रबल मन में भई मन में सबल मनोज॥[5]

१—स० स०, बिहारी सत० ६६।७३
२—प्राकृत व्याकरण ३।३६७।२
३—प्राकृत व्याकरण ४।३६०।४
४—स० स०, मतिराम सत० ११८।२४
५—स० स०, मतिराम स०, १५५।४६३

प्राकृत व्याकरण और मतिराम सतसई दोनों का स्वर एक है। दोनों ने उरोजों की कठोरता और उनकी उत्तुंगता के कारण प्रिय की रतिप्रसंग संबधी असुविधा का वर्णन किया है। मतिराम का दूसरा दोहा अधिक सुंदर है। उरोजों के शास्त्र कथित गुणों में कठिनता, उत्तुंगता, विषमता, आदि आते हैं। अपभ्रंश में उक्ति-चमत्कार तो है पर एक अभिनव भंगिमा के साथ सहज और ढके तुपे ढंग से उरोजों का वर्णन हुआ है किंतु रीतिकाल में स्तनों के सभी गुणों का वर्णन प्रचुर काव्य-शक्ति खर्च करके किया गया है। इन रीतिकालीन कवियों के दृष्टि-पथिक अगणित बार इन कुच-पर्वतों से टकरा कर चूर-चूर हो गए हैं पर अपभ्रंश के कतिपय दोहों के माधुर्य को नहीं पा सके हैं।

[घ] अंग-समष्टि का वर्णन

तुच्छ मज्झहे तुच्छ जम्पिरहे।
तुच्छच्छरोमावलिहे तुच्छराय तुच्छयर हासहे।
पिय वयणु अलहन्तिए तुच्छकाय वम्मह निवासहे।
अन्नु जु तुच्छउं तहे धणहे त अक्खणइ न जाइ।
कटरि थणंतरु मुद्धडहे जे मणु विच्च ण माइ॥[1]

दूती नायक से कह रही है—हे तुच्छ कोमल राग वाले! जिसका मध्य भाग तुच्छ (कोमल) है, जिसकी रोमावलि तुच्छ और अच्छी है, जिसकी स्मित तुच्छतर है जिसके तुच्छकाय में मन्मथ का निवास है जो प्रिय की वाणी से वंचित है, ऐसी उस नवयौवना के जो अंग तुच्छ है वह कहने में नहीं आते। उस मुग्धा का जो अन्यतम तुच्छ अंग स्तनान्तर है उसमें मन भी नहीं समा पाता। अचरज है।

अन्ने ते दीहर लोवण, अन्नु तं भुअ जुअलु।
अन्नु सु घणथण हारु, तं अन्नु जि मुहु कमलु।
अन्नु जि केसकलापु सु अन्नु जिपाउमिहि।
जेण णिअम्बिणि घडिअ सु गुणु लायन्न णिहि॥[2]

१—प्राकृत व्याकरण ४।४१४।१
२—प्राकृत व्याकरण ४।४१४।१

मोर मुकुट, स्रवननि मनि कुंडल, जलज माल उर भ्राजत।
सुंदर सुभग स्याम तन नव घन बिच बग पाँति बिराजत॥
उर बनमाल सुमन बहु भाँतिन, सेत, लाल, सित पीत।
मनहु सुरसरी तट बैठे सुक बरन बरन तजि भीत॥
पीतांबर कटि तट छुद्रावलि, बाजत परम रसाल।
सूरदास मनु कनकभूमि ढिग, बोलत रुचिर मराल॥[1]

अनेक उपमानों को रूपक के माध्यम से प्रस्तुत करने की कला—

बनी मोतिन की माल मनोहर।

सोभित श्याम-सुभग-उर-ऊपर, मनु गिरि तैं सुरसरी धँसी धर।
तट भुजदंड, भौंर भृगुरेखा, चदन-चित्र तरंग जु सुंदर।
मनि की किरन मीन, कुंडल छबि मकर, मिलन आए त्यागे सर॥
जग्युपवीत विचित्र सूर सुनि, मध्य धार धारा जु बनी बर।
सख चक्र गदा पद्म पानि मनु कमल कूल हंसनि कीन्हे घर॥[2]

राधा का भाव व्यंजना के माध्यम से आया हुआ गत्वर रूप चित्र—

राधा हरि कैं गर्वं गहीली।

मंद मंद गति मत्त मतंग ज्यौं, अंग अंग सुख पुंज भरीली॥
पग द्वै चलति ठठकि रहै ठाढ़ी, मौन धरै हरि कै रस गीली।
धरनी नख चरनन कुरवारति, सौतिन भाग सुहाग ढहीली॥
नेकु नहीं पिय तैं कहुँ बिछुरति, तातैं नाहिन काम दहीली।
सूर सखी बूझै यह कैहों, आजु भई यह भेंट पहीली॥[3]

राधा का राधा वल्लभी संप्रदाय में किया गया रूप चित्रण—

ब्रज नव तरुनि कदंब मुकुट मनि स्यामा आजु बनी।
नखसिख लौं अंग अंग माधुरी मोहे स्याम धनी॥
यों राजति कवरी गूथित कच कनक कंज बदनी।
चिकुर चंद्रिकन बीच अधर विधु मानो ग्रसित फनी॥

१—सूरसागर, भाग २, पृ० ८६२
२—सूरसागर, द्वितीय भाग, पृ० ८६४।
३—सूरसागर, द्वितीय भाग, पृ० ८६८।

सौभग रस सिर स्रवत पनारी पिय सीमंत ठनी।
भृकुटि काम कोदंड नैन शर, कज्जल रेख अनी॥
भाल तिलक, ताटंक गंड पर, नासा जलज मनी।
दसन कुंद, सरसाधर पल्लव पीतम मन समनी॥
हित हरि वंस प्रसंसित स्यामा कीरति विसद घनी।
गावत श्रवननि सुनत सुखाकर विश्व दुरित दवनी॥[1]

भक्तिकाल का रूप चित्रण इतना भाव संवलित है—

मै तो एक अंग अवलोकति, दोऊ नैन गए भरि पानी॥
कुंडल झलक कपोलनि आभा, मैं तो इतनोइ मांझ बिकानी॥
इकटक रही नैन दोऊ रुँधे, सूर स्याम को नहिं पहिचानी॥[2]
(सूरसागर, सूरदास)

विरह वर्णन की रूढ़ियाँ

अपभ्रंश शृंगारिक मुक्तक साहित्य में वियोग वर्णन को उसी प्रकार प्राधान्य दिया गया है जिस प्रकार हिंदी रीतिकाल में। वियोग वर्णन की दृष्टि से दोनों में प्रायः सभी रूढ़ियाँ समान हैं। हिंदी की ऊहाएँ किस प्रकार अपभ्रंश से विकसित हुई हैं और बाद में फारसी प्रभाव से ग्रस्त हो गई हैं—यह दिखाया जा चुका है। अब कुछ अन्य साम्यधर्मी उक्तियों को लेकर अपभ्रंश काव्य की प्रेरकता सिद्ध करने का प्रयास किया जायेगा।

(१) जो पराया पथिक अपनापन लगाकर चला गया वह भी अवश्य ही सुख की नींद नहीं सोता होगा। वह उसी प्रकार होगा जिस प्रकार मैं।

अम्बणु लाइवि जे गया पहिय पराया केवि।
अवस न सुअहिं सुहच्छिअहि जिमि अम्हइं तिवं तेवि॥[3]

भए बटाऊ नेह तजि वादि बकत बेकाज।
जब अलि देत उराहनौ, अति उपजति उर लाज॥[4]

दोनों की मूल भावना में साम्य है।

१—हित चौरासी, हित हरिवंश।
२—सूरसागर, द्वितीय भाग, पृ० ८७१।
३—प्राकृत व्याकरण ४।३७६।३
४—स० स० विहारी स० ८२।२७२

प्रिय से सबंधित वस्तु से प्रेम शृंगारिक मुक्तक काव्य की प्रिय रूढ़ि है। यह सबध भावनाजन्य प्रेम सयोग और वियोग दोनो पक्षों में होता है किंतु वियोग पक्ष में यह प्रेम अत्यधिक बढ़ जाता है। अपभ्रंश से लेकर रीति काव्य तक इस सबध-भावना जन्य प्रेम वृद्धि का विकास मिलता है।

सबंध भावना

एक पानी पिलानेवाली नायिका है, वह अपने दोनों करों को चूमकर ही अपने प्राणों को जिला रही है, उन हाथों को जिनसे मूंज प्रतिबिंबित जल प्रिय को पिलाया था।

रक्खइ सा विसहारिणी बे कर चुम्बिवि जीउ।
पडिबिम्बिअ मुंजालु जलु जेहिं अडोहिउ पीउ॥[1]

भक्तिकाल में प्रिय की स्मृति दिलानेवाली प्रिय से सबधित वस्तुओं का प्रिय लगना अर्थात् सबध-भावना द्वारा प्रेम की वृद्धि बहुत बढ़ गई। 'भ्रमर-गीत-सार' में आई मुरली के प्रति गोपियों का उपालंभ या प्रेम बन बाग, तड़ाग, बादल, पक्षी, गाय बछड़े आदि से प्रेम इसी प्रवृत्ति के विविध रूप हैं।

मुरली तऊ गोपालहि भावति।
सुन री सखी ! जदपि नँदनंदहि नाना भाँति नचावति।
राखति एक पायँ ठाढ़े करि अति अधिकार जनावति॥
आपन पौढ़ि अधर सज्जा पर कर पल्लव सों पद पलुटावति।
भृकुटी कुटिल, कोप नासापुट हम पर कोपि कँपावति॥[2]

रीतिकाल में भी इस सबंध भावनाजन्य प्रेम सबंधी वर्ण्य वस्तु आई है :—

दियौ कान्ह निज कान तें तुम गुलाब को गुच्छ।
गुरु जन में अवतंस करि फिरति लाज करि तुच्छ॥[3]
छला छबीले लाल को नवल नेह लहि नारि।
चूँबति चाहति लाइ उर पहिरति धरति उतारि॥[4]

१—प्राकृत व्याकरण ४।४३६।२
२—सूरसागर-१२७३
३—स० स०, मतिराम स० १६६।६४०
४—स० स०, बिहारी स० ७०।१२३

दियौ जु पिय लखि चखन में खेलत फाग खियाल।
बाढ़त हू अति पीर सुन काढ़त बनत गुलाल ॥[1]

अपभ्रंश विषधारिणी के प्रिय का अनिश्चित सा वियोग और उसमें जो निसर्ग सौकुमार्य है वह रीतिकाल में पारिवारिक वातावरण में घिर कर भी नहीं उभर सका है। वस्तुतः रीतिकाल में काव्य का परिसर जितना संकुचित हुआ उतना शायद ही कभी हुआ हो। वहाँ के श्री कृष्ण मथुरा यदि कदाचित् गए भी होंगे तो वहाँ उन्हें ले जाकर कवि का मन न लगा। वह तो उन्हें कहीं ज्येष्ठा को विरह में डालने के लिये कनिष्ठा के पास ले जाएगा या फिर इस सौत को जलाने के लिए उस सौत के यहाँ। उसमें ही उसकी वेदना अकल्पनीय ढंग से असह्य हो उठती है। अपभ्रंश युग की मनोवृत्ति जब परिवेशगत अनिवार्यता के कारण विशेष युद्धप्रिय हो गई थी तब सच्चा वियोग अधिक संभव था। आगे चल कर भक्तिकाल में गभीर वियोग व्यंजना का सर्वोत्कृष्ट रूप भ्रमर गीत के रूप में सामने आया इसमें सूरदास का भ्रमरगीत सर्वश्रेष्ठ है पर रीतिकाव्य में तो इस लक्ष्यहीन विलासी सामंत समाज में उस महान विरह साधना की सभावना ही उठ गई और उसके परिणामस्वरूप उस भाव की रचनाएँ भी।

दूतिका और संदेश

[३] वियोग की स्थिति में नायिकाएँ दूतियों से प्रिय के पास संदेश भेजती हैं। पीछे इनका विचार हो चुका है—दूसरे संदर्भ में। वहीं पर यह सकेत किया जा चुका है कि प्राकृत व्याकरण में दूतिका का संकेत करने वाला एक दोहा मिलता है। अपभ्रंश में अब्दुर्रहमान कृत संदेशरासक नामक एक प्रबंध मुक्तक काव्य मिलता है जो वस्तुतः अद्‌भुत संदेश काव्य है। उसमें नायिका पथिक से संदेशा देते हुए कहती है कि जिसके प्रवास करते हुए मैं प्रवसित नहीं हुई, जिसके वियोग में मैं मरी नहीं उस प्रिय को संदेश देते हुए मुझे लज्जा हो रही है। लेकिन हे पथिक यदि लज्जित होकर रह जाऊँ तो हृदय भी धारण नहीं करते बनता। तुम कृपा करके एक गाथा पढ़ना और हाथ पकड़ कर प्रिय को मना लेना।

१—स० स०, बिहारी स० ८२।२८०

जसु पवसंत ण पवसिया मुइअ विओइ न जासु।
लज्जिजइ संदेसडउ, दिंती पहिय पियासु॥[1]
लज्जवि पथिय जइ रहउँ हियउ न धरणइ जाइ।
गाह पढिज्जसु इक्क पिय करलेविणु मन्नाइ॥[2]

सदेश कहने का एक ढग होता है अपभ्रंश की नायिका यह जानती थी। इसी प्रकार ढोला को संदेश कहने के लिये मारवणी भी ढाढियों को विधिवता रही है कि सदेशों से ही मन की दशा जानी जा सकती है पर यदि कोई कहना जाने—जिस प्रकार प्रेयसी आँसुओं से आँखें भर कर कहती है यदि उस प्रकार कहे।

सदेसा ही लखि लहइ, जउ कहि जाणइ कोइ।
ज्यूं धण आखइ नयण भरि, ज्यउँ जइ आखइ सोइ॥[3]

अपभ्रश की नायिका सदेश में कहती है कि विरह की सेनाओं ने शरीर पर अनदेखे ही प्रहार कर दिया है जिससे देह तो टूट गई है पर तुमसे समानित देखकर हृदय घायल नहीं हुआ (संदेश रासक)। ढोला की मारवणी भी कहती है कि हे ढाढी यदि प्रियतम मिलें तो कहना कि पिंजर में प्राण अब नहीं हैं केवल उसकी लौ तुम्हारी ओर झुकझुक कर जल रही है। प्रेम का आश्रय स्थान दोनों जगह सुरक्षित और सक्रिय है।

संदेशरासक की नायिका कहती है कि हे प्रिय! जिन अगों के साथ तुमने विलास किया था उन्हीं को अब विरह जला रहा है। तुम्हारे जैसे पौरुष के निलय के रहते हुए मैं यह भारी पराभव कैसे स्वीकार करूँ।

गरुअउ परिहव किं न सहउ, पइ पोरिस निलएण।
जिहि अंगहि तू विलसियउ ते दद्धा विरहेण॥[4]

ढोला की मारवणी भी युवती हो गई है पर प्रिय से अभी मिली नहीं। वह सदेश देती है कि हे ढाढी यदि राजन मिलें तो कहना कि यौवन की हस्तिनी को मद चढ गया है अकुश लेकर उसे वश में करो।

१—सदेशरासक २८।७०
२—सदेशरासक २६।७१
३—ढोला मारू रा दूहा।
४—सदेशरासक ३०।७७

ढाढी जे राज्यंद मिलइ यूं दाखविया जाइ।
जोवण हस्ती मद चढ़्येउ अंकुस लइ घर आइ॥[१]

दोनों में विरह से पराभूत यौवन और इस पराभव को दूर करने वाले प्रिय को बुलाने का संकेत है।

संदेश रासक की ही नायिका कहती है कि हे यामिनी! तुम्हारी जो वचनीयता (निंदावाक्य) है वह त्रिभुवन भर में नहीं अँटती। दुख में तो तू चौगुनी हो जाती है पर सुख में क्षीण।

जामिणि जं वयणिज्ज तुअ, तं तिहुयण णहु माइ।
दुक्खिहि होइ चउग्गिणी झिज्जइ सुह संगाइ॥[२]

रीतिकवि कहता है—

चलत चलत जौं लै चलैं, सब सुख संग लगाइ।
ग्रीषम वासर शिशिर निसि, प्यौ मों पास बसाइ॥[3]
प्रथम अरध छोटी लगी, पुनि अति लगी विसाल।
बामन कैसी देह निसि भई बाल कौं लाल[४]॥

रात्रि की दीर्घता तीनों दोहों में व्यंजित है।

वियोग का नायिका पर प्रभाव

वियोगजन्य अभिलाषा, चिंता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्छा आदि विविध दशाओं में पड़कर नायिका की दशा बुरी हो जाती है। काव्यशास्त्र और साहित्य दोनों में इन दशाओं का खुलकर चित्रण हुआ है। अपभ्रंश-युग में विरह-प्रभावित शरीर की दुर्बलताएँ ऊहाओं द्वारा व्यक्त की जाने लगी थीं—इसका संकेत किया जा चुका है।

अभिलाषा के अंतर्गत संदेश रासक के वे सब छंद आ जाएँगे जो नायिका ने प्रिय की आकांक्षा में कहे हैं इसी प्रकार 'ढोला मारू रा दूहा' में

१—ढोला मारू रा दूहा।
२—संदेशरासक ६४।१५६
३—स० स०, विक्रम स० ७४।१७२
४—स० स० मतिराम स०, १६८।६६४

भी। विद्यावति, सूर और सभी रीतिकालीन कवियों ने इस अवस्था का ध्यान रखा है। यह दूसरी बात है कि जब सदेशरासक, ढोलामारू, विद्यापति पदावली में जीवंत अनुभूतियाँ निखर आयी हैं तो रीतिकाल में कृत्रिम और आरोपित काव्य। चिंता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मूर्छा में अपभ्रश मुक्तक साहित्य में गुण-कथन पर विशेष बल दिया गया है वैसे चिंता, स्मरण और व्याधि का भी वर्णन हुआ है। जड़ता इत्यादि का वर्णन वहाँ क्वचित्-कदाचित् ही मिले। भक्तिकाल में प्रायः सभी अवस्थाएँ प्राप्त होने लगती हैं क्योंकि यहाँ आकर लोक-काव्यधारा और शास्त्रीय काव्य-धारा दोनों का सगम हो जाता है। रीतिकाल में आयास-पूर्वक दसों दशाओं का वर्णन हुआ है जिसमें व्याधि को विशेष महत्व देकर ऊहाओं की भरमार की गई है वैसे जड़ता (और मरण भी) उनके यहाँ कठिन नहीं है।

कुछ अवस्थाओं का चित्रण करने वाले कुछ साम्यमूलक दोहे नीचे दिए जा रहे हैं:—

(क) पिउ हउं थक्किय सयलु दिणु तुहु विरहग्गि किलत।
थोडइ जलि जिम मच्छलिय तल्लोविल्ल करंति ॥[1]

हे प्रिय! तुम्हारे विरह में दिन भर कष्ट पाती हुई मैं उसी प्रकार थक गयी जिस प्रकार थोड़े जल में छटपटाती हुई मछली। रीतिकवि के अनुसार—

ललन चलन सुनि महि गिरी, मुख कफरी लखि वीर।
तरफराति है राति ते मनु सफरी विन नीर ॥[2]

(ख) चूडउ चुन्नी होइ सइ मुद्धि कवोलि निहत्तु।
सासोनिलण झलक्कियउ वाह सलिल संसितु ॥[3]

मुग्धा के कपोल पर श्वासों की आग से सतप्त और वाष्पसलिल से सयुक्त होकर चूड़ियाँ चुन्नी हो जायँगी। मतिराम के अनुसार—

१—कुमारपाल प्रतिबोध।
२—स० स० विक्रम स० ३६१।६२५
३—कुमारपाल प्रतिबोध।

कहा रहे निहचिन्त ह्वै लखौ लाल चलि आपु।
प्रलय-काल-सम स्वाँस है प्रलय अनल-सम तापु ॥[1]

(ग) वलयावलि निवडण भएण धण उद्धभुअ जाइ।
वल्लह विरह महादहहो थाह गवेसइ नाइ ॥[2]

वलयावलि के गिरने के भय से धन्या भुजा उठाकर जा रही है, मानो विरह के महाद्रह की थाह खोज रही हो।

उल्लंघे सिर हथ्थडा, चाहंदी रस लुब्ध।
विरह महाघण उमट्यउ, थाह निहालइ मुद्ध ॥[3]

सिर को हथेली पर रक्खे हुए, प्रेमरस में निमग्न हुई मुग्धा मारवणी, जो विरहरूपी प्रलयकालीन मेघ उमड़ आया है उसकी थाह खोजती है।

दोनों के भाव प्रायः समान हैं। कृष्ण भक्त कवि सूरदास ने भी उद्धव का प्रतिवाद करती हुई गोपियों से कुछ ऐसी ही वात कहलाई हैं।

उर तें निकसि करत क्यों न सीतल जो पै कान्ह यहाँ है।
पा लागौं ऐसेहि रहन दे अवधि आस जल थाहै ॥[4]

यह कोई शास्त्रीय रूढ़ि नहीं है। किंतु विरह के काल का विरहिणियों द्वारा बार बार स्मरण एक स्वाभाविक बात है। साधारण जीवन में भी वे स्त्रियाँ जिनके प्रिय परदेश में चले जाया करते हैं उनके दिए हुए समय का याद करती हैं। वे कालगणना करती है। अवधि का समापन न होने से दुर्बल क्षीण और टूटी टूटी-सी लगती हैं। हिंदी के संपूर्ण मध्यकालीन मुक्तकों में यह प्रवृत्ति अपनाई गई है। आरंभिक अपभ्रंश मुक्तकों, भक्तिकाल, रीतिकाल सब में इस अवधि का विविध भाव से उल्लेख हुआ है। प्राकृत व्याकरण, विद्यापति, सूर, रीति काव्य सब में इन भावों की व्यंजना हुई है। कुछ उदाहरण नीचे संकलित हैं—

अवधि तत्त्व

१—स० स० मतिराम स० १५९।५४८
२—प्राकृत व्याकरण ४।४४४।२
३—ढोलामारूरा दूहा।
४—भ्रमरगीत सार ४६।११०

(क) जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइये पवसन्तेण ।
ताण गणंत्तिए अंगुलियउ जज्जरिआउ नहेण ॥[1]

प्रिय ने प्रवास करते समय मुझे जो दिन दिए थे उनको गिनते हुए अंगुलियाँ नखों से जर्जरित हो गई हैं।

सखि मोर पिया ।
अजहुँ न आएल कुलिस हिया ।
नरवर खोवावोलु दिवस गिनि गिनि,
दीठि ओंघाओँलु पिय पथ देखि ।[2]

उपक्रम तत्व

प्रिय के न आने पर नायिकाएँ प्रायः उपक्रम करती हैं। या तो पत्र भेजती हैं या स्वयं जाने की सोचती हैं या दूती, संदेशवाहक किसी अन्य माध्यम को खोजती हैं। विरह में संपूर्ण मध्यस्थ तत्व इसी उपक्रम की वृत्ति के ही कारण आता है। यह भी कोई शास्त्र निर्धारित रूढ़ि नहीं है बल्कि काव्य परंपरा में वस्तु के आग्रह के कारण पल्लवित स्वभाविक रूढ़ि है। हिंदी के सपूर्ण मध्यकालीन मुक्तकों में यह तत्व वर्णित हुआ है।

जाइज्जइ तहिँ देसडउ लब्भइ पियहो पमाणु ।
जइ अवाइ तो आणियउ अहवा त जि निवाणु ॥[3]

हे मन उस देश में जाओ जहाँ प्रिय का पता लगे, यदि आवे तो ले आओ, नहीं तो वहीं तेरा निर्वाण हो।

जइ तूं ढोला नावियउ, कइ फागुण कइ चेत्रि ।
तउ में घोड़ा वाधिस्याँ काती कुड़ियाँ खेत्रि ॥[4]

हे ढोला यदि तुम फागुन या चैत्र में नही आए तो हम ही कार्तिक में फसल कट जाने पर जीन कसेंगी।

मास असाढ़ उनत नव मेघ, पिया विसलेख रहओं निरथेघ ।
कौन पुरुप सखि कोन सो देस करव मोय तहाँ जोगिन भेस ॥

१—प्राकृत व्याकरण ४।३३३।१
२—विद्यापति पदावली ।
३—प्राकृत व्याकरण ४।४१६।२
४—ढोलामारूरा दूहा १४६।४५

तीनों रचनाओं में प्रोषितपतिकाएँ प्रिय की खोज में स्वयं जाने वाली हैं। अपभ्रंश की ग्रामीण नायिका अपना गंभीर निश्चय प्रकट करती है, मारवणी घोड़े पर जायगी और विद्यापति की नायिका योगिनी वेष में। पर जाएँगी सब। यह उपक्रम के विकल्प का अंतिम रूप है।

शृंगार रस में प्रकृति का ग्रहण प्रायः उद्दीपन तत्व के रूप में होता है। विशेषतः शृंगारिक मुक्तकों में तो उसका उद्दीपन बनकर ही आना संभव है।

प्रकृति तत्व

आलंबन रूप से प्रकृति चित्रण शृंगारिक मुक्तक साहित्य का लक्ष्य कभी नहीं हुआ। हिंदी के रीतिकाल में ही नहीं अपभ्रंश काव्य, भक्ति काव्य और प्राप्त लोकगीतात्मक विरह काव्यों में भी इसका प्रमाण देखा जा सकता है। इस उद्दीपन के हेतु संयोग और वियोग दोनों में काम करते हैं। संयोग में यदि ये विलास लीला में सहायक होते हैं तो वियोग में शरीर को कंटकित और पीड़ित करने में।

कोइलिया-कलरव चंदणु, चंदुज्जोअ विलासु।
वल्लह संगनि अमिय रसु, विरहिय जसिउ हुआसु॥[१]

कोकिला का कलरव, चंदन की शीतलता, चंद्र ज्योत्सना का विलास वल्लभ के संग में अमृत रस उत्पन्न करते हैं, परंतु विरहियों को आशाहीन करके जलाते हैं।

जो पपीहा, चंद्रमा, वसंत, वर्षा आदि वस्तुएँ और ऋतुएँ संयोग पक्ष में मन की तृप्ति की ओर उन्मुख कामनाओं को विकसित करती हैं वही प्राकृतिक उपादान वियोग में तड़पाने और जलाने लगते हैं।

अपभ्रंश साहित्य में शृंगार रस के अंतर्गत प्रकृति वर्णन बहुत अधिक हुआ है, परंतु अधिकांश प्रबंध काव्यों में ही। नखशिख वर्णन और ऋतु वर्णन की रूढ़ियाँ अपभ्रंश के चरित काव्यों में खूब विकसित हुई हैं। 'स्वयंभू' का पउमचरिउ, पुष्पदंत के महापुराण, जसहरचरिउ, णायकुमार चरिउ, अब्दुर्रहमान के सदेश रासक, सोमप्रभ सूरि के कुमारपाल प्रतिबोध,

---

२—छंदोनुशासन पृ० २६१।

जिनपद्मसूरि के थूलिभद्दफागु, विनयचन्द्रसूरि के नेमिनाथचउपइ आदि ग्रंथों में अत्यंत उत्कृष्ट रूप में नायिकाओं के विरह और मिलन का चित्रण, प्रकृति को दृष्टि में रखकर किया गया है। इनमें से कुछ प्रकृति वर्णन तो अत्यंत उत्कृष्ट हुए हैं। जैसे थूलिभद्दफागु में पावस का यह नाद सौंदर्ययुक्त वर्णन—

झिरमिर झिरमिर झिरमिर ए मेहा वरिसंति।
खलहल खलहल खलहल ए वादला वहति॥
झब झब झब झब ये वीजुलिय झबक्कइ।
थरहर थरहर थरहर ए विरहिणि मणु कंपइ॥
महुर गंभीर सरेसा मेह जिमि जिम गाजते।
पंचबाण निय-कुसुम-बाण तिम तिम सांजते॥
जिमि जिमि केतकि महमहति परिमल विहसावइ।
तिम तिम कामिय चरण लग्गि निय रमणि मनावइ॥
सीयल कोमल सुरहि वाय जिम-जिम वायते
माण मड्फूफर माणणिय तिम तिम नाचन्ते॥
जिम जिम झरिय मेह गयणगणिमिलिआ
तिम तिम कामीतण नयन नीरहिं झलहलिया॥[1]

प्रबंधों में भी प्रकृति का आलबन रूप में चित्रण बहुत कम मिलता है। उद्दीपन रूप में भी दो प्रकार की पद्धतियाँ अपनाई गई हैं। षड्ऋतु वर्णन संस्कृत साहित्य से लिया गया है और बारहमासा लोक साहित्य से।[2] षड्ऋतु वर्णन प्राय. सभी चरित काव्यों में मिलता है। बारहमासा में आश्विन से आरंभ करके आषाढ़ तक एक एक मास की विशिष्ट प्रकृति का विरहिणी की अवस्था पर प्रभाव दिखलाया जाता है। हिंदी साहित्य में स्पष्ट रूप से षड्ऋतु-वर्णन की प्रणाली शिथिल पड़ने लगी और बारहमासा वर्णन जोर पकड़ने लगा। हिंदी में यह बारहमासा वर्णन दोनों काव्यप्रणालियों (प्रबंध और मुक्तक) में गृहीत हुआ। हिंदी में सर्वप्रथम बारहमासा मैथिल कवि विद्या-

---

१—थूलिभद्दफागु, पृ० ३८ ३९

२—डा० श्रीकृष्णलाल, बारहमासा, जर्नल आफ दि बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी, खंड २।

पति का मिलता है जिन्होंने विरहोद्दीपनरूपा प्रकृति को आषाढ़ से आरंभ करके ज्येष्ठ में समाप्त किया है अंत में इन्होंने लिखा है।

रूपनरायन पूरथु आस।
भनइ विद्यापति बारहमास॥[1]

इस बारहमासे में सबसे अधिक विचारणीय है इसकी स्वाभाविक स्थान विशेष की प्रकृति की पहचान। प्रबंधों में पद्मावत का नागमती विरह वर्णन बारहमासा वर्णन का एक सुंदर उदाहरण है। मुक्तक के क्षेत्र में विद्यापति के बाद रीतिकालीन कवियों ने बारहमासे का वर्णन करने का प्रयत्न किया। कहा जाता है कि रीतिकाल के पूर्व कबीर और तुलसी ने ज्ञान को आश्रय करके 'बारामासी' रचनाएँ कीं। जो भी हो बारहमासा ज्ञान और वैराग्य वहन का भी साधन बनकर साहित्य में अपना ऐतिहासिक विकास सूचित करने को सुरक्षित है। इसके बाद केशवदास ने अपनी 'कविप्रिया' में षड्ऋतुवर्णन और बारहमासा वर्णन दोनों का चित्रण किया। सेनापति ने अपने 'कवित्त रत्नाकर' में इन दोनों शैलियों का समन्वय कर दिया है। उन्होंने एक ऋतु का अलग और उसके दो मासों का अलग अलग वर्णन किया है। इन सबमें लक्ष्य करने की बात यह है कि षड्ऋतु वर्णन में सर्वत्र परंपरारूढ़ वस्तुओं का ही उल्लेख हुआ है तो बारहमासों में यथार्थ नूतन वस्तुओं का। रीतिकाल के अन्यान्य मुक्तक सतसइयों में भी इस पद्धति को अपनाया गया पर क्रमपूर्ण निर्वाह केवल विक्रम सतसई को छोड़कर कहीं नहीं मिलता।

निष्कर्ष यह है कि मुक्तक रूप में ऋतुवर्णन अपभ्रंश के हेमचंद्रविरचित छंदोनुशासन तथा दो एक और ग्रंथों को छोड़कर अधिक नहीं मिलता। हिंदी प्रबंध काव्यों में इन षड्ऋतुओं की परंपरा उत्तरोत्तर क्षीण होती चली गई। अपभ्रंशमुक्तक काव्यों में बारहमासा वर्णन की दूसरी प्रणाली नहीं मिलती। अतएव हिंदी मुक्तक काव्यों में प्राप्त बारहमासा वर्णन प्रणाली अधिक संभव है अपभ्रंश चरित काव्यों से ली गई हो। इस प्रसंग में विनयचंद्र सूरि कृत 'नेमिनाथ चउपई' का उल्लेख किया जा सकता है जो है तो चरित काव्य पर जिसमें बारहमासा वर्णन का उपयोग हुआ है। प्राप्त साहित्य में यह संभवतः प्रथम बारहमासा वर्णन है।

१—विद्यापति पदावली, पृ० २७३।

हिंदी रीतिकाल में अधिकांश मुक्तकों की ही रचना हुई। इसलिये काव्यशास्त्र पडित कवियों ने प्रबधों में आई हुई सारी अन्य मुक्तकोपयोगी काव्यरूढ़ियों को भी मुक्तक-काव्य रचना में ही अंतर्भुक्त कर लिया होगा, यह विशेष संभव है। लेकिन इस बात की संभावना कम नहीं है कि अपभ्रंश मुक्तकों में भी ऋतुवर्णन करनेवाले मुक्तक लिखे गए हों, पर वे अभी तक लुप्त हों। अंतिम रूप से निश्चय तो सपूर्ण सामग्री के प्राप्त होने पर ही हो सकेगा।

\+ \+ \+

रीतिकालीन हिंदी मुक्तक काव्य की रीति-मुक्त स्वछंद काव्य धारा के मूल स्रोत

इस सपूर्ण विवेचन में विशेष रूप से उस धारा पर ध्यान रखा गया है जो अपभ्रंश काव्य से निरवच्छिन्न रूप से विकसित होती हुई चली आ रही थी। यह धारा मूलतः भारतीय रही।[1] इस धारा के मूलतः उपजीव्य प्राकृत की गाथा सप्तशती, सस्कृत के अमरुशतक, आर्या सप्तशती, प्राकृत व्याकरण के दोहे आदि ही थे। यद्यपि रीतिकाल में आकर यह धारा जो कभी लोक तत्वों से सपृक्त थी अभिजात तत्वों से संयुक्त हो गई और इस प्रकार रीतिबद्ध कही जाने लगी। लेकिन रीतिकाल में जितना महत्व रीतिबद्ध धारा का है उतना ही रीतिमुक्त धारा का भी। घनानंद के काव्य निर्माण के कारण रीतिमुक्त स्वछद काव्यधारा हिंदी काव्येतिहास की अत्यंत महत्व-पूर्ण धारा हो गई। वैसे रसखान, आलम, शेख, बोधा आदि का काव्य सृजन भी कम महत्वपूर्ण नहीं।

रीतिमुक्त स्वच्छद काव्यधारा के मूल स्रोत नितांत अभारतीय ही नहीं हैं। अवश्य ही उसकी वेदना विवृति और प्रेम की पीर का अनुभव क्रमशः

---

[1] १—'हमारे साहित्य में रीतिकाल की जो रूढियाँ हैं वे किसी और देश की नहीं; उनका विकास इसी देश के साहित्य के भीतर सस्कृत में हुआ है। सस्कृत काव्य और उसी के अनुकरण पर रचित प्राकृत-अपभ्रंश काव्य भी हमारा ही पुराना काव्य है + +। एक ही देश और एक ही जाति में आविर्भूत होने के कारण दोनों में कोई मौलिक प्रार्थक्य नहीं है।' यहाँ रीतिकाल से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य रीतिबद्ध काव्य से ही है।

हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० ६०३

फारसी काव्यरूढ़ि और सूफी काव्य चेतना से अनुप्राणित है फिर भी उसका संपूर्ण स्वरूप अधिकांश में भारतीय है।

यदि हम कथित स्वच्छंद काव्यधारा के संपूर्ण काव्यनिर्माण का सूक्ष्म ढंग से अनुशीलन करें तो पता चलेगा कि उसका भी उपजीव्य कृष्ण प्रेम ही है। यह कृष्ण की प्रेम साधना इन स्वच्छंद कवियों को भक्तिकालीन कृष्ण भक्तों की भक्ति साधना से ही मिली। अवश्य ही इनके काव्य का मूल स्वर अखंड विरहानुभव, प्रिय की कठोरता का अनुकथन, वेदना विवृति फारसी और सूफी काव्य सृजन से प्रभावित है किंतु इन्होंने सूफियों की तरह प्रेमव्यंजना के लिये निर्गुण और निराकार ब्रह्म का आश्रय न लेकर सगुण श्रीकृष्ण का आश्रय लिया। श्रीकृष्ण के प्रेम का मार्ग चुनने का एक कारण यह भी था कि वे इन स्वच्छंद कवियों की भाववृत्ति के अधिक निकट थे। न केवल उनका ब्रज में गोपिकाओं के सान्निध्य में व्यतीत जीवन बल्कि उनका सूरदास आदि के द्वारा वर्णित जीवन भी अत्यंत स्वच्छंद और प्रेमाप्लुत था। स्वच्छंद कवियों ने कृष्णभक्ति को मनोनुकूल पाकर अपना लिया। किंतु उन्होंने उस भक्तिसाधना में से प्रेमसाधना का ही ग्रहण किया। क्योंकि वे प्रकृत्या प्रभावुक प्रेमी थे। इसका एक सबसे बड़ा कारण यह था कि यह सभी अपने व्यक्तिगत जीवन में किसी न किसी ऐसी प्रेमिका से प्रेम करते थे जो अंततः इनकी नहीं हुई पर जिसकी स्मृति को ये कृष्ण प्रेम में डुबाकर भी नहीं भुला सके। घनानंद के विषय में सुजान नामक वेश्या के प्रति प्रेम प्रसिद्ध है। अपने संपूर्ण काव्य सृजन में घनआनंद सुजान, जान, जानराय नाम को नहीं भुला सके उसे कृष्ण नाम से मिला दिया। भक्तिकालीन सूर आदि ने कृष्ण भक्ति से ही आरंभ किया और उनकी साधना का अवसान भी इसी में हुआ किंतु घनआनंद आदि ने लौकिक प्रेम से आरंभ किया और उसकी चेतना अपनी आध्यात्मिक प्रेम साधना में भी नहीं हटा सके। कृष्ण भक्तों की भक्ति भावना परिमित और सांप्रदायिकता स्वीकार करके चलती थी किंतु घनआनंद की प्रेम भावना अपरिमित व्यापक औदार्य और सूफियों की तरह प्रेमानुभव स्वीकार करके आगे बढ़ती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कृष्ण प्रेम को स्वच्छंद कवियों ने अपनी प्रेमव्यंजना के लिये साधन

भक्तिकालीन कृष्ण-भक्ति का प्रभाव

प्रेम तत्व की उपलब्धि असंभव है। हम देखेंगे कि सूफी प्रेम पद्धति की यह सारी विशेषताएँ रीतिमुक्त स्वच्छद काव्य में गृहीत हुई हैं।

प्रेम सिद्धि के लिये वियोग की जैसी अनिवार्यता सूफी कवि ने बतलाई है, प्रेम मधु की दु:ख पुष्प के भीतर ही जो अवस्थिति उसने मानी है वह रीतिमुक्त काव्य में भी अव्याहत भाव से गृहीत हुई है। इसी को रीतिमुक्त कवि कहता है—'यह कैसो सँजोग न जानि परै जु वियोग न क्यौंहू बिछोहत है।' प्रेम की पीर को इन्होंने ज्यों का त्यों स्वीकृत किया है—

समुझै कविता घनआनद की हिय आँखिन प्रेम की पीर तकी ॥

—घनानंद कवित्त

जिस प्रकार सूफीकाव्य का प्रतिपाद्य विषय प्रेम की पीर है उसी प्रकार रीतिमुक्त कवि का प्रतिपाद्य विषय भी प्रेम की पीर है। दोनों में जो बड़ा अंतर उपस्थित हो जाता है वह यह कि जब कि सूफी कवि अपनी साप्रदायिक भावना के अनुसार निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करता है तो रीतिमुक्त कवि सगुण श्रीकृष्ण को।

सूफी काव्य ने रीतिमुक्त कवि को एक रूप में और प्रभावित किया। उसने रीतिमुक्त काव्य को कहीं कहीं रहस्यात्मक अर्थ भी दे दिया। यह रहस्यात्मक अर्थ रीतिमुक्त काव्य में उस सीमा तक नहीं है जिस सीमा तक सूफी काव्य में। इसका भी कारण यही है कि सूफी काव्य ने निर्गुण को ग्रहण किया और रीतिमुक्त काव्य ने सगुण को। रीतिमुक्त काव्य में जो यह थोड़ी रहस्यात्मकता प्राप्त भी होती है उसका कारण उस काव्य की गहनता और अत्यधिक अंतर्मुखता ही है।

फारसी काव्य पद्धति का प्रभाव

जैसा कि कहा जा चुका है रीतिमुक्त कवियों को वेदना विवृत्ति फारसी काव्य पद्धति से मिली। प्रेम को पराकाष्ठा पर पहुँचाने के लिये फारसी काव्य में एकागी या विषय प्रेम की अवतारणा होती थी। फारसी काव्य प्रिय को नितात उदासीन दिखाता है और प्रेम करनेवाले को उसके पीछे मरण तक को स्वीकार करनेवाला। प्रिय की कठोरता और प्रेमिक की प्रियोन्मुख विह्वलता की व्यजना फारसी काव्य का मुख्य स्वर है। आज भी उर्दू कविता उस स्वर की स्मृति दिलाती है। किंतु भारतीय काव्य पद्धति यह नहीं है। प्राचीन भारतीय सस्कृत काव्यों

और नाटकों में विशुद्ध रूप से सम प्रेम की प्रतिष्ठा हुई है। सम प्रेम में उभय पक्षों में प्रेमोद्भव और दोनों के द्वारा प्रेम का निर्वाह होता है। आदि कवि वाल्मीकि ने रामायण में राम और सीता का, कालिदास ने शकुंतला में दुष्यंत और शकुंतला का, बाण कवि ने अपनी कादंबरी में कपिंजल और कादंबरी का, श्री हर्ष ने अपने 'नैषधचरित' में नल और दमयंती का प्रेम समप्रेम विधान के अनुरूप ही रखा है। प्राकृत व्याकरण के राधा कृष्ण संबंधी दोनों अपभ्रंश दोहों में भी समप्रेम का ही विधान है। हम इसी अध्याय में पीछे दिखा आए हैं कि विद्यापति में राधाकृष्ण का प्रेम भी सम है। जितनी राधा तत्परता और बेचैनी दिखाती हैं उतनी ही श्रीकृष्ण भी। इसके बाद सूरदास में विषम प्रेम का आरंभ होता दिखलाई पड़ता है। रामभक्ति शाखा में अवश्य ही तुलसीदास ने राम और सीता का प्रेम सम दिखलाया किंतु कृष्णभक्ति शाखा में प्रेम उत्तरोत्तर विषमता मूलक तत्वों से युक्त होता गया। सूरदास में तो कृष्ण राधा के प्रति कुछ उत्तरदायी और उनके वियोग में कुछ बेचैन दिखलाई पड़ते हैं यद्यपि उनका बहुनायकत्व वहाँ पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया है। इस योजना के कारण सूरदास ने विषमता को कुछ बचा लिया है। राधाकृष्ण को लेकर होनेवाली परवर्ती काव्य रचना में राधा अर्थात् नायिका का विचार प्रबल होता गया और पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार 'नायक का पक्ष दबने लगा।'[1] रीतिकालीन रचनाओं में यह वैषम्य योजना बढ़ती गई। सारा प्रेमचक्र नायिकाओं के ही चारो ओर घूमने लगा। नायक कुछ तटस्थ सा, कुछ निर्वीर्य सा, कुछ हृदयहीन सा, कुछ व्यभिचारी सा दबा घुटा पृष्ठभूमि में रहने लगा। रीतिकाव्य में संयोग पक्ष को ही विशेष महत्व मिला और वियोग में 'शास्त्र स्थिति संपादन' तथा कल्पना की उड़ान ही अभीष्ट रह गई इसलिये उसमें बहिर्वृत्ति की प्रधानता हो गई। फारसी काव्य के विषम प्रेम पद्धति में भी एक प्रकार की आंतरिकता परिलक्षित होती है लेकिन रीतिबद्ध काव्य युग परिवेश के प्रभाव के कारण इस आंतरिकता का अंशमात्र ही पा सका। यह आंतरिकता और वैषम्य मूलक प्रेम की यह कसक और तड़प सीधे स्वच्छंद कवियों को प्राप्त हुई। रीतिबद्ध कवियों में विषमतामूलक प्रेम बौद्धिक स्तर पर योजित था इसलिये वह आनुभूतिक नहीं था,

---

१—बिहारी—पृ० ३८।

स्वछंद कवियों में यह हार्दिक स्तर पर (चाह के रंग में भीजो हियो रहे) योजित था इसलिये यह आनुभूतिक महत्व पा गया।

एक बात ऊपर उठाई गयी है कि सूर आदि में भी विषमता मूलक प्रेम तत्वों का संकेत मिलने लगता है। स्वाभाविक प्रश्न है कि यह भी क्या सूफी प्रभाव है अथवा अन्य कोई भारतीय प्रभाव ही है? हम देखते हैं कि श्रीमद्भागवत में प्रेम में वैषम्य की विवृति मिल जाती है किंतु यही विवृति महाभारत में नही मिलती। निश्चय ही 'भागवत' पर सूफी प्रभाव नहीं पड़ सकता अतएव इसका उत्तर हमें भक्ति के दार्शनिक ऊहापोह में ही मिलेगा। भक्त की प्रेमलीनता और भगवान के प्रति विरह की कल्पना में ही प्रेमलक्षणा भक्ति का विस्तार हुआ। 'ब्रह्म की ओर आत्मा के आकर्षित होने के आदर्श के कारण'[1] ही यह वैषम्य योजना संभव हुई। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का यह विश्लेषण सर्वथा सत्य है कि 'प्रेम का वैषम्य और भक्ति की विषमता में अंतर है। प्रेम में प्रिय पक्ष में निष्ठुरता, कठोरता, क्रूरता आदि का आरोप होता है पर भक्ति में नहीं।'[2] इस प्रकार निष्कर्ष यह कि रीतिमुक्त स्वच्छंद कविता में वैषम्य मूलक प्रेम कृष्णभक्ति से न आकर के फारसी काव्य से आया है। मिश्रजी का यह कथन समीचीन है कि 'लौकिक पक्ष में इनका विरह निवेदन फारसी काव्य की वेदना की विवृति से प्रभावित है और अलौकिक पक्ष में सूफियों की प्रेम पीर से।'[3]

तुलसी की चातक प्रीति और रीतिमुक्त प्रेम साधना

तुलसीदास ने अपनी सेव्य सेवक भावमूलक रामभक्ति का आदर्श चातक प्रीति के समानातर प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने चातक के इष्ट बादल को अनेक रूपों में काव्यबद्ध किया है। उसे कहीं भगवान की तरह करुणालु, उदार, कृपानिधि रूप में प्रदर्शित किया है तो कहीं उसकी कठोरता की व्यजना भी की है।

उपल बरपि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ, तजि, कबहुँ दूसरी ओर॥

१—बिहारी—पृ० ३६।
२—वही—पृ० ३६।
३—वही—पृ० ४४।

रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग॥
(दोहावली)

कठोरता की व्यंजना प्रेमी हृदय की 'उच्चता और दृढ़ता' के ज्ञापन के लिये किया गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि क्या स्वच्छंद कवि तुलसीदास की चातक प्रीति के कम से कम उस अंश से प्रभावित हुए जिसमें उन्होंने बादल की कठोरता व्यंजित की है? इसका उत्तर यह है कि मूल प्रभाव तो स्वच्छंद कवियों ने फारसी काव्यधारा से ही ग्रहण किया किंतु संभव है कि आंशिक प्रभाव उन्होंने इस प्रवृत्ति से भी ग्रहण की हो। यहाँ एक बात की ओर संकेत करना उचित होगा कि हम तुलसीदास की चातक प्रीति को विशेष रूप से ले रहे हैं वैसे हमारा मतलब चातक को लेकर लिखे गए समूचे प्रेम व्यंजक साहित्य से है। यहाँ यह भी दुहरा देना आवश्यक है कि रीतिमुक्त कवि केवल फारसी काव्य साधना से ही नहीं प्रभावित था वह प्रवृत्यानुकूल भारतीय काव्य साधना के विभिन्न धाराओं से भी प्रभावित था। बल्कि यह धाराएँ तो उसके रक्त में ही थीं।

रीतिमुक्त कवि के काव्य और रीतिबद्ध कवि के काव्य में काफी अंतर था किंतु कुछ ऊपरी समानताएँ भी थीं। सबसे पहली समानता तो यह थी कि दोनों का प्रस्थान भेद लगभग एक ही था—दोनों प्रेममार्गी थे और दोनों ही भक्तिमार्गी नहीं थे वैसे दोनों के उपजीव्य राधा कृष्ण थे। यद्यपि दोनों में प्रस्थान बिंदु की एकता थी किंतु काव्य सृजन के स्वरूप और स्वभाव में एकदम अंतर था। रीतिबद्ध काव्य नितांत बहिर्वृत्ति मूलक, शरीरपरक और शास्त्रबद्ध था तथा रीतिमुक्त काव्य संपूर्णतः अंतर्वृत्ति मूलक, मानस परक और शास्त्रमुक्त था। हम इन अंतरों पर किंचित् विस्तार से आगे विचार करेंगे। दोनों धाराओं में दूसरी समानता छंद की थी। दोनों शाखाओं में दोहा कवित्त सवैया गृहीत हुए। रीतिमुक्त कवि ने जिस प्रकार पदगीतकार कृष्णभक्तों से प्रभाव ग्रहण किया उनकी स्वच्छंद आंतरिकता ली उसी प्रकार उन्होंने भक्तों का पद काव्यरूप नहीं अपनाया। यह इस बात का भी प्रमाण है कि वे प्रेम कवि ही थे भक्ति कवि नहीं।

रीतिबद्ध काव्य और रीतिमुक्त काव्य

दोनों में अनेक विभिन्नताएँ थीं।

[१] रीतिबद्ध कवियों का प्रेमवर्णन बाह्यपक्ष प्रधान था। वे नायिकाओं की भेदावली, नखशिख, संभोगप्रकार, संभोगचिह्न, संकेतस्थल, ईर्ष्याकलह, लघुमध्यमगुरुमान आदि के ही वर्णन में अपने कविकर्म की इतिश्री मान लेते थे। प्रकृतिवर्णन की एकाध रेखा यदि कहीं आ भी गई है तो उद्दीपनचित्रण के ही रूप में। यही उनकी सारी वर्ण्य सामग्री थी। स्पष्ट है कि इसमें एक तो नारी शरीर की शोभा (मन की रमणीयता नहीं) दूसरे नारी शरीर से संबंध की उक्तियाँ ही मुख्य हैं। यही बाह्यपक्ष प्रधानता (आब्जेक्टिविटी) थी। दूसरा तथ्य यह है कि उपरिलिखित संपूर्ण वस्तु शास्त्रकथित है। शास्त्र से मुक्त होकर आंतरिक उद्वेलन के अनेक स्तरों को प्रत्यक्ष करनेवाला कवि रीतिकाव्य में नहीं हुआ।

दूसरी ओर रीतिमुक्त कवि का प्रेमवर्णन अंतर्पक्षप्रधान था। वे रीति के सभी बंधनों से मुक्त थे। उनके काव्य की प्रेरक शक्ति थी उनकी अंतर्वृत्ति। इसी कारण उनकी कविता में अंतर्मुखता (सब्जेक्टिविटी) प्रधान हुई और इसीलिये वे शास्त्रबद्ध (क्लासिकल) की अपेक्षा स्वच्छंद (रोमैंटिक) अधिक हुए। उन्होंने प्रेम का मानसपरक रूप उपस्थित किया। इनकी सारी कविता आंतरिकता से भरी हुई है।

[२] रीतिबद्ध कवियों की कविता आयाससिद्ध कविता थी इसीलिए वह बौद्धिक स्तर पर योजित होती थी। वे सावधान कलाकार (कांशस आर्टिस्ट) की कोटि में आते हैं। इसीलिये उनके द्वारा वर्णित प्रेम जागतिक चातुर्य और वक्रता से पूर्ण है जब कि रीतिमुक्त कवि का काव्य इस प्रकार के बुद्धि व्यायाम से दूर है। उनकी कविता उनकी आंतरिक वेदना की अभिव्यक्ति होती थी। वे कविता बनाते नहीं थे बल्कि कविता स्वयं बनकर उनके व्यक्तित्व को निर्दिष्ट कर देती थी—

तीछन ईछन बान बखान सो पैनी दसान लै सान चढ़ावत।
प्राननि प्यारे भरे अति पानिप मायल घायल चोप चढ़ावत॥
हैं घनआनंद छावत भावत जान सजीवन ओर तें आवत।
लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत॥

[३] रीतिबद्ध कवियों ने जिस प्रकार साहित्य में शास्त्र को कसकर पकड़ा उसी प्रकार सामाजिक मर्यादा को। यद्यपि राधाकृष्ण के बहाने उन्होंने

जितने क्षयिष्णु, ऐहिक और अस्वस्थ शृंगार को प्रश्रय दिया उतना और किसी ने नहीं। यही कारण है कि रीतिबद्ध काव्य में संकेतस्थलों की भरमार है, राधाकृष्ण की दुहाई देकर विपरीत रति और अनेक प्रकार के कोकशास्त्रीय विधानों को छूट है, अनेक प्रकार की गोपन विधियाँ है, दूतियों और सखियों की दौड़ धूप है, नायक और नायिकाओं की इशारेबाजी है। रीतिमुक्त कवि के लिये यह सारी लुकाछिपी अनावश्यक थी। वह सामाजिक मर्यादा का न तो गुलाम था न तो उसने उसकी कभी परवाह की। वह अपनी उमंग का अवश्य गुलाम था और उसी के निर्देश पर वह रचनाप्रवाह में बहता था।

[४] ऊहात्मक प्रयोगों में भी दोनों प्रकार के कवियों में पर्याप्त अंतर था। इन प्रयोगो की आचार्य शुक्ल ने दो कोटियाँ निर्धारित की है।

१—संवेदना रूप में ऊहा-प्रयोग

२—परिमाण निर्देश रूप में ऊहा प्रयोग[1]

जायसी काव्य में आचार्य शुक्ल के अनुसार अधिकांश ऊहा-प्रयोग संवेदनारूप में हुआ है। उन्हीं के अनुसार विहारी आदि रीति कवियों में यह प्रायः ही परिमाण निर्देश के रूप में हुआ है। स्वच्छंद रीतिमुक्त काव्य के अत्युक्ति मूलक कथनों और ऊहाप्रयोगों की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि यहाँ भी ऊहाप्रयोग संवेदना और स्वानुभूति निरूपक के रूप में ही है परिमाण निर्देशक के रूप में नहीं। हम दो उदाहरण लेकर बात को स्पष्ट कर सकते हैं—

पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहत आनन ओप उजास॥

—विहारी

यहाँ स्पष्ट ही मुख-प्रकाश को चंद्रमा की समकक्षता देकर ही नहीं संतुष्ट हुआ गया है बल्कि उसकी मात्रा का अनुमान करने के लिये पत्रा तक आकर संपूर्ण काव्योक्ति को उपहासास्पद कोटि तक पहुँचाया गया है। घनानद से भी एक अत्युक्ति मूलक और ऊहात्मक कथन लिया जा रहा है—

विकल विषाद भरे ताही की तरफ तकि
दामिनि हूँ लहकि बहकि यौं जर्यौ करै।

१—जायसी ग्रंथावली—सं० आचार्य रामचदशुक्ल, भूमिका पृ० ३७।

जीवन-आधार-पन-पूरित पुकारनि सों
आरत पपीहा नित कूकनि कर्‌यौ करै ।।
अथिर उदेग गति देखि कै अनँदघन
पौन विडर्‌यौ सो बनबीथिन रर्‌यौ करै ।
बूँदे न परतिं मेरे जान जानप्यारी ! तेरे
बिरही कों हेरि मेघ आँसुनि झर्‌यौ करै ।

केवल एक वार इस कवित्त का पाठ करने से पाठक के मन में काव्योत्कर्ष और व्यापक संवेदना का स्रोत फूट पड़ता है। व्यापक प्रकृति अनेक प्रकार से वियोगी के प्रति सहानुभूति प्रकट कर रही है। साधारण शास्त्र विचार की दृष्टि से ये अत्युक्तियाँ और ऊहाएँ हो सकती हैं पर काव्योत्कर्ष विचार की दृष्टि से यह संवेदनाप्रसार और वेदनाविवृत्ति की अद्‌भुत कविता है।

वास्तविकता यह है कि संपूर्ण रीतिबद्ध कवि अपने काव्यसृजन में अनुदात्त हो गया है क्योंकि उसने अनुदात्त प्रेम को ही अपनी काव्यवस्तु स्वीकार किया था किंतु सपूर्ण रीतिमुक्त कवि ने अपने काव्य सृजन में उदात्त प्रेम को प्रतिष्ठित किया था। एक के अनुदात्त और दूसरे के उदात्त होने का यही रहस्य है।

[५] एक और अतर पहले ही लक्षित किया गया है कि रीतिबद्ध कवि राधाकृष्ण प्रेम का उपयोग ढाल के रूप में करता था और इन नामों की आड़ में वह अपनी और अपने आश्रयदाताओं की विलास-वासना को तृप्त करता था। यह भी कहा गया है कि रीतिमुक्त कवि ने कृष्ण को अपनी लौकिक तड़प और हृद्‌गत वेदना को निवेदित करने के लिये माध्यम माना था अवश्य ही यह कभी कभी केंद्र भी हो जाते थे क्योंकि विषयानंद ही ब्रह्मानद की परिणति पाता है—

आनद अनुभव होत नहिं बिना प्रेम जग जान।
कै वह विषयानंद कै ब्रह्मानद बखान ।।
—रसखानि

घनानद तो अपने जागतिक प्रेम को उसी व्यापक प्रेम का अंशमात्र—समझते थे—

प्रेम को महोदधि अपा हेरि कै
विचार बापुरो हहरि वार ही तें फिरि आयौ है।
ताही एकरस ह्वै बिबस अवगाहैं दोऊ
नेही हरि-राधा जिन्हैं देखि सरसायौ है।
ताकी कोऊ तरल तरंग संग छूट्यो कन
पूरि लोक लोकनि उमगि उफनायो है।
सोई घनआनँद सुजान लागि हेत होत
ऐसें मथि मन पै सरूप ठहरायौ है॥

इस प्रकार दोनों धाराओं के कवियों में राधा कृष्ण के ग्रहण को लेकर भी बड़ा अंतर था।

रीतिमुक्त काव्य के मूलस्रोत, रीतिबद्ध और रीतिमुक्त काव्य के साम्या-साम्य का विचार करते हुए रीतिमुक्त स्वच्छंद काव्य का स्वरूप भी अनावृत होता गया है। यहाँ पर तात्विक और संक्षिप्त रूप

रीतिमुक्त स्वछंद काव्य का स्वरूप

में उसके स्वरूप के आधारभूत तथ्यों पर प्रकाश डालना उद्देश्य है। रीतिमुक्त काव्य के श्रेष्ठतम कवि घनानंद के काव्य मीमांसक ब्रजनाथ ने कुछ छंद लिखे हैं जिनमें इस काव्य की आधारभूत विशेषताओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है:—

नेही महा, ब्रजभाषा प्रवीन औ सुंदरतानि के भेद को जानै।
योग वियोग की रीति में कोविद, भावना भेद स्वरूप को ठानै।
चाह के रंग में भीज्यो हियो बिछुरे मिले प्रीतम साँति न मानै।
भाषा प्रवीन सुछंद सदा रहै सो घन जू के कवित्त बखानै॥

इस सवैये में निम्न तत्वों का संकेत हुआ है—

कवि या आस्वादयिता—

(१) महान् प्रेमी (नेहीमहा) हो—

उसे संयोग और वियोग की अनेक प्रेमदशाओं का अनुभावक होना चाहिए (जोग वियोग की रीति में कोविद)। साथ ही उसके हृदय में मिलन और विरह दोनों स्थितियों में प्रेमगत आकुलता बनी

रहनी चाहिए (चाह के रंग में भीज्यौ हियौ बिछुरें मिलें प्रीतम साति न मानै)।

(२) भाषा प्रवीण रहे (भाषा प्रबीन)—

सामान्य रूप से उसे शब्द की विविध शक्तियों और सूक्ष्म भगिमाओं का ज्ञान होना चाहिए, विविध भावों के अनुरूप विविध उपयुक्त शब्दों के सचयन का विवेक होना चाहिए और विशेषतः ब्रजभाषा की मार्मिकता का ज्ञाता होना चाहिए (ब्रजभाषा प्रबीन)।

(३) काव्यगत सौंदर्यबोध की अनेक भगिमाओं का विधायक हो (सुंदरतानि के भेद)।

अलंकार, गुण, वक्रोक्ति, रीति, शब्दशक्ति, ध्वनि, चित्रण-कला सब की बारीकियों से परिचय हो। ब्रजलोक में प्रचलित लोकोक्तियों के सौंदर्य का जानकार हो। एक शब्द में काव्यकला का पारखी हो।

(४) भाव-भेदों और भावस्तरों का मार्मिक द्रष्टा हो (भावना भेद स्वरूप)—

श्रृंगार की स्वछंद परिणति के अतर्गत आने वाले सभी भावों के आयामात्मक विस्तार और गांभीर्यगत अनेक स्तरों के अनुभव की योग्यता रखता हो।

(५) प्रकृत्या स्वछद रहे (सुछद सदा रहे)—

वह रीति के बधन का पक्षपाती न होकर स्वच्छंद काव्यसृजन, सहज भावाभिव्यंजन का पक्षधर हो। उसे स्वभावत. रोमैंटिक होना चाहिए। उसे उस सावधान कलाकार (काशस आर्टिस्ट) की तरह कविता नहीं लिखना चाहिए जो 'लागि कवित्त' बनाता है बल्कि उस प्रातिभ कलाकार की तरह काव्य रचना करना चाहिए जो कहता है 'मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत'।

इस प्रकार यह पाँच विशेषताएँ अवश्य ही स्वच्छद श्रृंगारिक काव्य धारा के स्वरूप का निर्धारण कर देती हैं।

जैसा कि स्वच्छद काव्यधारा के मूल स्रोतों का अध्ययन करते हुए बताया

स्वच्छद काव्यधारा का विकास

जा चुका है स्वच्छंद काव्यधारा मोटे तौर पर भक्तिकालीन कृष्णभक्ति काव्य-धारा के सूफियों की प्रेम की पीर से प्रभावित होने पर प्रवाहित हुई। वस्तुतः फारसी काव्यधारा का यह शुभ पक्ष ही स्वच्छंद कवियों के पल्ले पड़ा अशुभ पक्ष अर्थात् उसकी लौकिक रति की नग्नता और अतिरेक तो रीतिबद्ध कवियों के भाग में। इस प्रकार की स्वच्छंद वृत्ति का साक्षात्कार सबसे पहले रसखान में होता है। यद्यपि रसखान मूलत. भक्त कवि थे किंतु उनमें प्रेम की स्वच्छद वृत्ति के भी दर्शन होते हैं। उनकी आकांक्षा थी :—

> मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
> ओढ़ि पीतांवर लै लकुटी बन गोधन ग्वालिन संग फिरौंगी॥
> भावतो सोई मेरो रसखान सो तेरे कहे सब स्वांग करौंगी।
> या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥

संवत् १७५० के आसपास आलम ने रीतिमुक्त होकर बड़ी सुंदर स्वच्छंद प्रेमपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत किया। उन्हे परिपाटी से कोई विशेष मतलब नहीं था। मतलब था तो प्रेम की पीर से आदोलित होनेवाले अपने हृदय से। शुक्ल जी के अनुसार 'प्रेम की पीर' या 'इश्क का दर्द' इनके एक एक वाक्य में भरा पाया जाता ह।[1] शृंगार की मादक उक्तियों से इनका काव्य भरा पड़ा है। जैसा कि सकेत किया जा चुका है रीतिमुक्त स्वच्छद कवियों पर फारसी प्रेम की पीर का प्रभाव पड़ा, उनकी काव्य रूढ़ियों का असर पड़ा किंतु सभी स्वच्छंद कवि उनसे समान रूप से नहीं प्रभावित हुए। जब कि आलम और बोधा उसे भारतीयता के आवरण में ढँक नहीं सके तो घन आनंद और ठाकुर उसे भारतीयता के आवरण में इस प्रकार छिपा ले गए कि पता भी नहीं चलता। इस प्रकार आलम की कविता में 'फारसी की शैली के रस बाधक'[2] भाव भी यत्रतत्र प्राप्त होते है आलम के काव्य की विदग्धता का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

१—हिंदी साहित्य का इतिहास, दसवाँ सकरण, आचार्य रामचद्र शुक्ल पृ० ३३०।

२—हिंदी साहित्य का इतिहास, दसवाँ संस्करण, आचार्य रामचंद्रशुक्ल पृ० ३३०।

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल काकरी बैठि चुन्यौ करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करैं॥
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं॥

आचार्य शुक्ल के अनुसार 'प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना रसखान और घनानद की कोटि में होनी चाहिए।'[1]

संवत् १७७५ से स० १७९६ के बीच घनानद ने इस रीतिमुक्त स्वच्छंद काव्यधारा को अत्यधिक बल प्रदान किया। इनका जीवन बड़ा ही दुःखमय था। रहते थे दिल्ली के मुहम्मदशाह के मीर मुंशी के रूप में। सुजान नामक वेश्या से प्रेम करते थे। अनुश्रुति है कि इन्होंने मुहम्मद शाह की प्रार्थना पर गान न करके सुजान की प्रार्थना पर गाया। पीठ बादशाह की ओर थी मुख सुजान की ओर। बादशाह ने नगर निष्कासन की आज्ञा दी। घनानद ने सुजान से कहा 'साथ चलो'। आग्रह अस्वीकृत हुआ। अकेले वृंदावन आकर भगवद् भजन करने लगे। इनका अंत भी बड़ा ही दुखांत है। नादिरशाह के निर्मम सैनिकों ने घनानद से धन माँगा—'ज़र ज़र ज़र'। घनानद ने उलटा करके रज की तीन मुट्ठी फेंक दी। हत्या व्यवसायियों ने घनानद का हाथ काट लिया। कहा जाता है कि घनानद ने अंत समय में रक्त से यह कवित्त लिखा—

बहुत दिनान की अवधि आसपास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मन भावन को
गहि गहि राखति है दै दै सनमान को॥
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै
अब ना घिरत घनआनंद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करके पयान प्रान
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥

आचार्य शुक्ल के अनुसार 'प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबादानी का ऐसा दावा रखनेवाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं

१—हिंदी साहित्य का इतिहास, दशम संस्करण, ले० आचार्य रामचंद्र शुक्ल पृ० ३३०।

हुआ।[1] इस प्रकार घनानंद अद्वितीय कवि थे। इन्होंने अपनी रचनाओं में सर्वत्र सुजान को संबोधित किया है जिसे शृंगार रस की वर्णनपरिधि में नायक के लिये और भक्तिभाव की भूमि पर कृष्ण भगवान के लिये स्वीकृत मानना चाहिए। इनकी कविता जैसा कि संकेत किया जा चुका है अंतर्वृत्ति निरूपक है। इन्होंने मुख्यत. वियोग शृंगार को ही लिया। प्रेम की गूढ़ अंतर्दशाओं की व्यंजना में इन्होंने शब्द शक्तियों पर असाधारण अधिकार दिखाया। विरोध वैचित्र्य, लाक्षणिक प्रयोग वैचित्र्य के अतिरिक्त घनानंद ने कहीं भी बाहरी उछलकूद का वर्णन नहीं किया है उन्होंने सर्वत्र आंतरिक भावों को ही दृष्टि में रखा है।

घनानंद का भाषा पर 'अचूक अधिकार' था। 'भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भाव-भंगी के साथ साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गतिविधि का अभ्यास हुआ और वह पहले से कहीं अधिक बलवती दिखलाई पड़ी।[2] घनानंद ने भाषा की व्यंजकता में अपनी प्रतिभा के बल पर वृद्धि की। घनानंद की कला की एक झलक निम्नलिखित कवित्त से कुछ मिलेगी—

> आनाकानी आरसी निहारिवो करौगे कौलौं,
> कहा मो चकित दसा त्यों न दीठि डोलि है ?
> मौन हूँ सो देखिहौ कितेक पन पालिहौ जू,
> कूक भरी मूकता बुलाय आप बोलिहै॥
> जान घन आनंद यों मोहिं तुम्हैं पैज परी
> जानियैगो टेक टरे कौन धौं मलोलिहै।
> रूई दिए रहौगे कहाँ लौं बहरायबे को ?
> कबहूँ तो मेरियै पुकार कान खोलिहै॥

१—हिंदी साहित्य का इतिहास, दशम संस्करण, ले० आचार्य रामचंद्र शुक्ल पृ० ३३७।

२—हिंदी साहित्य का इतिहास, दशम संस्करण, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ३३६।

पन्ना दरबार के कवि बोधा (काव्यकाल १८३०-१८६० स० तक) ने भी घनानद की परपरा को आगे बढ़ाया। बोधा ने भी किसी रीति ग्रथ का प्रणयन न करके स्वच्छंद प्रेम कविता को ही लिखा प्रेम की पीर की अभिव्यजना इन्होंने बड़े ही कौशल के साथ किया। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है इनके ऊपर फारसी काव्य की प्रेम की पीर के अतिरिक्त 'नेजे' 'कटारी' 'कुरबान' आदि का भी अशुभ प्रभाव मिलता है किंतु वह बहुत थोड़ा है। प्रेम मार्ग का निरूपण करते हुए इन्होंने लिखा है—

> अति खीन मृनाल के तारहु तें, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
> सुई-वेह कै द्वार सकै न तहाँ, परतीति को टाँड़ो लदावनो है॥
> कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ तें चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
> यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि को धार पै धावनो है॥

घनानंद की 'मौन मधि पुकार' की तरह ये भी कहते थे 'सहते ही बनै कहते न बनै मन ही मन पीर पिरैबो करै।'

रीति मुक्त स्वच्छद कवियों में जिन्होंने फारसी काव्यरूढ़ियों को भारतीयता के आवरण में लिया उनमें ठाकुर कवि का भी नाम लिया जा चुका है। ठाकुर कवि (कविता काल स० १८५० से १८८० तक) की कविता में सच्ची अनुभूतियों को बड़ी ही मार्मिक भाषा में व्यक्त किया गया है। ठाकुर की भाषा की मार्मिकता का सबसे बड़ा साधन बुंदेलखडी और कुछ सर्वप्रचलित लोकोक्तियाँ हैं। ठाकुर कोरे प्रेम कवि ही नहीं थे बल्कि ये नीति तथा लोकव्यापार के अन्य अनेक अगों के बड़े ही सूक्ष्म द्रष्टा थे। प्रत्यक्ष अनुभव सत्यों को ही काव्य का प्राण मानने के कारण ही यह लोक में प्रचलित उत्सवों और त्योहारों को भी तन्मयता से अपने काव्य की वस्तु बना सके। फाग, वसत, होली, हिंडोरा आदि उत्सवों पर इन्होंने बड़ा सुंदर उक्ति-विधान किया है। ठाकुर कवि का विश्वास है कि—

> वा निरमोहिन रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
> बारहि बार विलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वै है॥
> ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
> आवत है नित मेरे लिए इतनो तौ विशेष कै जानति ह्वै है॥

ठाकुर ने इस प्रकार की अनेकानेक प्रेमभावापन्न रचनाएँ की हैं।

रीतिमुक्त स्वच्छंद काव्य धारा के यह सबसे अंतिम दृढ़ स्तंभ थे। इसके बाद आधुनिक काल के आरंभ में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अवश्य ही रीतिकाल की रीतिमुक्त स्वच्छंद काव्यधारा के कुछ स्वरों को विशेष बल दिया। आधुनिक काव्यधारा की छायावादी और रहस्यवादी शाखा ने कम से कम स्वच्छंद काव्यधारा की स्वच्छंदता और लाक्षणिकता को अवश्य अपना लिया।

———

कला पक्ष का विकास

कलापक्ष के विकास में इतिहास की शक्तियाँ और समसामयिक परिवेश बहुत बड़ा महत्व रखते हैं। समसामयिक परिवेश कवि के कर्तव्य निश्चय में अनजाने बहुत बड़ा भाग लेता है। जब सामाजिक जीवन में किसी प्रकार की क्रांति चाहे वह राजनीतिक क्रांति हो, चाहे वह सामाजिक क्रांति हो चाहे वह आर्थिक क्रांति हो; प्रविष्ट होती है तो उसका सर्वाधिक आघात मनुष्य की भावतंत्रियों पर पड़ता है और विशेष प्रकार का काव्यस्वर भावावेगों के आधीन होकर निकलता है। लेकिन जब इतिहास संक्रांति की अवस्था को पार कर जाता है तब सामाजिक मनोदशा स्थिर होकर कलासाधना और सौंदर्यसाधना की ओर मुड़ती है। यह सौंदर्यसाधना भी दो प्रकार की ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप दो प्रकार की हो जाती है। जब सौंदर्य साधना करनेवाली जाति की आत्ममर्यादा के प्रति जागरूकता बनी रहती है तब जो सौंदर्यसाधना होती है वह विलासिता को उत्तेजन न देकर समग्र जीवनदृष्टि को विकसित करती है। उदाहरण के लिये गुप्तकालीन काव्य को लिया जा सकता है। कालिदास की कविता इस तथ्य की सबसे दृढ़ घोषणा है। दूसरी ऐतिहासिक स्थिति वह होती है जिसमें कवि शांतिपूर्ण राज्याश्रय में रहता तो है किंतु जिसमें आत्ममर्यादा के प्रति जागरूकता की भावना समाप्त-प्राय हो जाती है। ऐसी अवस्था में जिसप्रकार राजन्यवर्ग सौंदर्यसाधना के नाम पर नारी शरीर की रूपशोभा को ही महत्त्व की वस्तु मानता है उसी प्रकार कवि भी काव्य शरीर की शोभा को ही सर्वाधिक ग्राह्य समझने लगता है। परिणामतः जब पहली स्थिति में सौंदर्यसाधना समग्र जीवन साधना और सांस्कृतिक उन्नयन की ओर मुड़ती है तब दूसरी स्थिति में खंड जीवनसाधना और सांस्कृतिक ह्रास की ओर मुड़ती है।

हमारे आलोच्यकाल के साहित्य की सर्जना संक्रांतिकाल में ही आरंभ होती है। भारतीय मध्ययुग के आरंभ में संपूर्ण उत्तर भारत में केंद्रीय शक्तियाँ विघटित हो गई थीं। छोटी छोटी शक्तियाँ केंद्रीय बनने की आकांक्षा

कला पक्ष का विकास

कलापक्ष के विकास में इतिहास की शक्तियाँ और समसामयिक परिवेश बहुत बड़ा महत्व रखते हैं। समसामयिक परिवेश कवि के कर्तव्य निश्चय में अनजाने बहुत बड़ा भाग लेता है। जब सामाजिक जीवन में किसी प्रकार की क्रांति चाहे वह राजनीतिक क्रांति हो, चाहे वह सामाजिक क्रांति हो चाहे वह आर्थिक क्रांति हो; प्रविष्ट होती है तो उसका सर्वाधिक आघात मनुष्य की भावतंत्रियों पर पड़ता है और विशेष प्रकार का काव्यस्वर भावावेगों के आधीन होकर निकलता है। लेकिन जब इतिहास संक्रांति की अवस्था को पार कर जाता है तब सामाजिक मनोदशा स्थिर होकर कलासाधना और सौंदर्यसाधना की ओर मुड़ती है। यह सौंदर्यसाधना भी दो प्रकार की ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप दो प्रकार की हो जाती है। जब सौंदर्य साधना करनेवाली जाति की आत्ममर्यादा के प्रति जागरूकता बनी रहती है तब जो सौंदर्यसाधना होती है वह विलासिता को उत्तेजन न देकर समग्र जीवनदृष्टि को विकसित करती है। उदाहरण के लिये गुप्तकालीन काव्य को लिया जा सकता है। कालिदास की कविता इस तथ्य की सबसे दृढ़ घोषणा है। दूसरी ऐतिहासिक स्थिति वह होती है जिसमें कवि शांतिपूर्ण राज्याश्रय में रहता तो है किंतु जिसमें आत्ममर्यादा के प्रति जागरूकता की भावना समाप्त-प्राय हो जाती है। ऐसी अवस्था में जिसप्रकार राजन्यवर्ग सौंदर्यसाधना के नाम पर नारी शरीर की रूपशोभा को ही महत्त्व की वस्तु मानता है उसी प्रकार कवि भी काव्य शरीर की शोभा को ही सर्वाधिक ग्राह्य समझने लगता है। परिणामतः जब पहली स्थिति में सौंदर्यसाधना समग्र जीवन साधना और सांस्कृतिक उन्नयन की ओर मुड़ती है तब दूसरी स्थिति में खंड जीवनसाधना और सांस्कृतिक ह्रास की ओर मुड़ती है।

हमारे आलोच्यकाल के साहित्य की सर्जना संक्रांतिकाल में ही आरंभ होती है। भारतीय मध्ययुग के आरंभ में संपूर्ण उत्तर भारत में केंद्रीय शक्तियाँ विघटित हो गई थीं। छोटी छोटी शक्तियाँ केंद्रीय बनने की आकांक्षा

में परस्पर युद्ध किया करती थीं। धार्मिक मूल्य भी सामाजिक जीवन में इतनी जगह अवश्य रिक्त कर चुके थे जिसमें पुन बौद्ध जैन और नाथ मतावलम्बियों को अवकाश मिल सके। मुसलमानों का आक्रमण पश्चिमोत्तर सीमांतों से बराबर हो रहा था। यह सारे प्रहार भारतवर्ष के विकासोन्मुख सामतवाद की नींव पर हो अवश्य रहे थे किंतु इससे सौंदर्य साधना का वह स्वरूप जो गुप्तकाल में मिलता है एकदम ह्रास को नहीं प्राप्त हुआ था। इतना अवश्य हुआ कि सस्कृत काव्य राजन्य वर्ग में सिमटता जा रहा था और लोकभाषाओं यथा प्राकृत और अपभ्रंश को महत्व प्राप्त होता जा रहा था। इन लोकभाषा काव्यों में सस्कृत के परवर्ती काव्यों के विपरीत एक विचित्र ढग की स्वच्छदता और स्वास्थ्य दृष्टिगोचर होता है। अवश्य ही इन काव्यों में भी शास्त्र की वे रूढ़ियाँ अप्राप्य नहीं हैं जो सस्कृत साहित्य के मुख्य कलात्मक साधन हैं फिर भी इनमें परवर्ती सस्कृत काव्यों की अतिशय आलंकारिकता नहीं है। मुख्य रूप से इन्होंने काव्य वस्तु पर अपना ध्यान केंद्रित किया है।

हेमचद्र के प्राकृत व्याकरण में उद्धृत अपभ्रश दोहों से लेकर सूरदास तक जितने मुक्तक हमें प्राप्त होते हैं वे प्राय. सभी मुख्यत. काव्यवस्तु की मनोरमता के वर्णन के लिये लिखे गए हैं। उनमें उपमाओं, रूपकों, उत्प्रेक्षाओं, आदि उपमेय और उपमान के स्थानविपर्यय से उपस्थित होने वाले वैचित्र्य की कमी नहीं, उनमें शब्दों की विविध प्रकार की चमत्कृति से उत्पन्न होने वाले शब्दालकारों की भी कमी नहीं है किंतु उनका मुख्य प्रयोजन काव्य वस्तु की सहज रमणीयता है। यदि हेमचद्र के प्राकृत व्याकरण के अपभ्रश दोहों के रचयिता का उद्देश्य लौकिक स्त्री पुरुष के प्रेम के मार्मिक स्थलों का वर्णन हे तो विद्यापति के पदों का लक्ष्य सहज किशोरी राधिका और सहज नवयुवक श्रीकृष्ण के स्निग्ध प्रेम का अभिव्यंजन है। सूरदास के भी पदों का लक्ष्य कभी लक्षणों के आधार पर लक्ष्य रचना करना नहीं है बल्कि उनका भी अभिप्रेत लीलापुरुष श्रीकृष्ण और किशोरी गोपिकाओं के रतिव्यापार का वर्णन ही हे। इस प्रकार स्पष्ट है कि इनका भी मुख्य ध्यान काव्यवस्तु पर रहा है काव्य कौशल पर नहीं। काव्य वस्तु इनका लक्ष्य रही है कौशल इनका अनायास प्राप्त साधन। किंतु रीतिकाल में चलकर यह स्थिति नहीं रही।

जैसा कि कहा जा चुका है केशवदास से ही रीतिकालीन दरबारी काव्य रचना का सूत्रपात हो चुका था। ऊपर यह बात भी कही जा चुकी है कि आत्ममर्यादा की अवस्था का ध्यान खो देने के कारण जिस प्रकार राजन्यवर्ग सौंदर्य साधना के नाम पर विलासमग्न होता है और नारी शरीर को महत्व देता है उसी प्रकार दरबारी कवि भी काव्य शरीर पर अधिकाधिक ध्यान देता है। केशवदास का परवर्ती रीतिकालीन काव्य इस तथ्य का सबसे बड़ा उदाहरण है। रीतिकालीन काव्य का बहुत बड़ा भाग वह है जो लक्षणों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है, थोड़ा भाग वह है जो स्वतन्त्र ढंग से लिखा गया है किंतु लक्षणों में उसकी निष्ठा बनी हुई है और बहुत थोड़ा भाग वह है जो स्वच्छंद प्रेमवृत्तिक काव्य है। केशवदास, चिंतामणि, भूषण, भिखारीदास, देव आदि रीतिकाल की रीतिबद्ध धारा के काव्यलेखक हैं। बिहारी, मतिराम आदि ऐसे कवि हैं जिन्हें हम रीतिसिद्ध कह सकते हैं जिन्होंने रीति में अपनी निष्ठा बनाए रखकर काव्य रचना की। तीसरी धारा के कवि घनानंद, आलम, बोधा और ठाकुर आदि हैं।

× × ×

शृंगारिक मुक्तकों के मुख्य कलात्मक साधन रसदृष्टि से अनुभाव होते हैं। इसका पूर्णत. परिपाक मुक्तकों में नहीं हो पाता। उसका कारण यह है कि मुक्तकों यथा दोहा, कवित्त, सवैया, आदि में रस के सभी अंगों—विभाव पक्ष, अनुभाव पक्ष, संचारी भाव, आदि का एक साथ समग्र रूप से वर्णन होना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। विशेष रूप से दोहा, सोरठा, रोला आदि अत्यंत छोटे छंदों के सीमित परिसर में रस के सभी अवयवों का एकत्र विधान असंभव है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि हिंदी के मुक्तक साहित्य में आधे से अधिक दोहों की सृष्टि हुई है। अपभ्रंश में भी दोहों की इतनी सृष्टि हुई कि उसे दूहा विद्या ही कहा जाने लगा। हिंदी में करीब करीब सारा डिंगल का मुक्तक साहित्य भी दोहों में ही निर्मित हुआ। हिंदी के भक्तिकाल में अवश्य पदों का प्राचुर्य रहा किंतु दोहावलियाँ भी रची गईं। रीतिकाल में तो दोहे की सतसइयों, हजारों की धूम मच गई। इस प्रकार अपभ्रंश और हिंदी मुक्तक साहित्य के इस प्रधान मुक्तक छद तथा अन्य निरपेक्ष मुक्तक छंदों में भी स्थानसकोच के कारण रस के सभी अवयवों की पूर्ण प्रतिष्ठा और सम्यक रूप से रस परिपाक कठिन है।

अतएव कवि अनुभावों के अंतर्गत आश्रय या आलवन की चेष्टाओं को मूर्त करता है कभी कभी उद्दीपनस्वरूपा प्रकृति की दो एक रेखाओं को पृष्ठभूमि रूप में स्वीकार करता है ।

इस तथ्य को हम दो उदाहरणों द्वारा लक्षित करें—

> खज्जइ नउ कसरक्केहिं पिज्जइ नउ घुटेहिं ।
> एम्वइ होइ सुहच्छडी पिएँ दिट्ठे नयणेहिं ॥[1]

प्रिय दर्शन के बाद सुख दशा की उपलब्धि स्वाभाविक है । सीधे इतना कहने से काव्यरस की उत्पत्ति कठिन है क्योंकि काव्य कथनमात्र न होकर कलात्मक कथन है । इसलिये कवि अपने भावविशेष की अनुभूति पाठक को कराने के लिये (साधारणीकरण) बिंबविधान या रूपविधान करता है जिसे मूर्त विधान भी कहते हैं । अनुभावों के अतर्गत आश्रय और आलबन की चेष्टाओं का कथन वस्तुतः इसी बिंबविधान का ही एक अग है । अपभ्र श कवि ने यहाँ नायिका अर्थात् आश्रय की चेष्टाओं का वर्णन अत्यंत सजीव स्थल के चयन के साथ किया है इस प्रकार वह सुख दशा स्वय मूर्त हो जाती है । इस सुख दशा के अनुभव से पाठक अवश्य ही किसी रसधारा में मग्न नहीं होता किंतु रसधारा के दो एक तीखे छींटों का स्पर्शानुभव तो करता ही है । मुक्तक काव्य से वस्तुत हम संवेदना के छोटे तीरों का चुभन या फिर रोमांचित कर देनेवाला शीतल जलबिंदु का स्पर्श या फिर वासती वायु का एक विभोरकारी झोंका चाहते हैं इससे अधिक कुछ नहीं । यह कार्य करने के लिये मुक्तक काव्य अनुभाव विधान का सहारा मुख्य रूप से लेता है—यह कहा जा चुका है । विहारी की कविता से एक उदाहरण लें—

> कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत खिलत लजियात ।
> भरे भौन में करत हैं नैननि ही सों बात ॥

यहाँ जिन अनुभावों का चित्रण किया गया है वे द्व्याश्रय चेष्टाओं के अतर्गत आते हैं 'कहत नटत' आदि नायक और नायिका दोनों ओर लग

१—कचर कचर खाया नहीं जाता, घूँट घूँट पिया नहीं जाता ऐसी ही सुख की स्थिति होती है प्रिय के नयनों से दीख जाने पर ।

प्राकृत व्याकरण ४।४२३।२

सकते हैं। यहाँ भावशबलता और किलकिंचित हाव का पूरा पूरा लक्षण मिलता है।

पदों की सीमा में कभी कभी रस के अन्य अवयवों की भी योजना संभव हो जाती है। पद ही नहीं कवित्त और सवैया में भी कभी कभी स्थान प्रसार के कारण विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों—सबकी उपस्थिति सभव हो पाती है। लेकिन यह उपस्थित विरल ही होती है। आलबन और आश्रय की स्थिति स्थायी भाव रति का संकेत तो स्पष्ट रहता है, अनुभावों की स्थिति भी अक्सर दीख पड़ती है किंतु संचारी भावों का संकेत और उद्दीपन विभाव का वर्णन कठिनता से एक साथ मिलता है। यदि कही उद्दीपनों का वर्णन मिल गया तो अनुभावों और संचारियों की स्थिति गड़बड़ हो जाती है। सूरसागर के पदों की यदि एक ओर से परीक्षा की जाय तो पता चलेगा कि एकत्र सभी रसांगों की उपस्थिति और रसनिष्पत्ति विरलता से मिलती है। इसीलिये मुक्तकों में पूर्ण रस निष्पत्ति की अपेक्षा प्रायः 'रसाभास' अधिक मिलता है। रीतिकाल के दोहों में जहाँ कही अतिशयोक्ति, ऊहा या किसी अभारतीय फारसी रूढ़ियों का प्रयोग होता है वहाँ 'रसभग' स्वाभाविक हो जाता है। इतना ही नहीं रीतिकाल में जहाँ अधिकतर रचनाएँ, अलंकारों के चमत्कारप्रदर्शन के लिये होने लगी वहाँ रस का साधारण स्पर्श भी नहीं अनुभूत होता। इसी तरह पदों के क्षेत्र में जहाँ कूट और प्रहेलिका की कला का प्रदर्शन होने लगता है वहाँ रसमात्र से कविता दूर हो जाती है क्योंकि बौद्धिक चमत्कार कविता नहीं है।

जैसा कि इस अध्याय के आरंभ में ही दिखाया जा चुका है ऊहाओं दूरारूढ़ कल्पनाओं के बीज रीतिकालीन कविता से अकस्मात् नहीं मिलने लगते बल्कि इनका बीज हमें प्राकृत, संस्कृत की सप्तशतियों शतकों और हेमचद्र कृत शब्दानुशासन के अपभ्रश दोहों में ही मिलने लगता है। अवश्य हा रीतिकाल में इन दूरारूढ़ कल्पनाओं तथा उदाहरणों का प्रयोग बहुत अधिक हो गया। इस अधिकता के पीछे निश्चित रूप से दरबारों में समादृत फारसी काव्य के इश्कनामें और उनसे सबंधित काव्यरूढ़ियाँ थीं।

ऊपर कहा जा चुका है कि काव्य संवेदनाओं का सीधा कथनमात्र नहीं

है वल्कि कलात्मक कथन हैं। कला माध्यम बनकर कवि के भाव को पाठक तक पहुँचाती है। अप्रस्तुत विधान का इसमें बड़ा महत्व है। अप्रस्तुत चित्रों और बिंबों से हम प्रस्तुत वस्तु को उपमित करते हैं और इस प्रकार वर्ण्य वस्तु को प्रभास्वर चित्र बनाकर उपस्थित करते हैं। इस प्रकार अप्रस्तुत विधान यदि अनुपात में हो, अत्यत घिसे हुए अप्रस्तुतों से अलग ताजे अप्रस्तुतों से सबद्ध हो तो वर्ण्य वस्तु को अर्थगर्भ और रंजक बना सकता है; कम से कम रसानुभूति में बहुत दूर तक सहायता पहुँचा सकता है।

अप्रस्तुत विधान

प्राचीन भारतवर्ष में श्रव्य काव्यों में अलंकार को बड़ा महत्व प्राप्त हुआ और दृश्य काव्यों में रस को। आचार्य भरत मुनि ने रस की भित्ति संपूर्ण दृश्य काव्य को करीब ईसा की पहली दूसरी शती के आसपास ही दी। आठ नौ सौ वर्षों के बाद रस का महत्व श्रव्य काव्य के क्षेत्र में स्वीकृत हुआ अन्यथा इससे पूर्व अलकार का ही महत्व माना जाता था। 'अलकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्याना मतम्' (अलकार सर्वस्व) के भीतर इसी तथ्य की घोषणा है। आगे चलकर आचार्यों ने यहाँ तक कहा कि काव्य अलकार के ही कारण गृहीत होता हैं।[1] उन्होंने अलकार को वाह्य आभूषण न मानकर उसे काव्य सौंदर्य ही माना।[2] यद्यपि आनंद वर्द्धन, अभिनव, मम्मट आदि के द्वारा अलकार और वक्रोक्ति का वह महत्व नीचे गिरा फिर भी परवर्ती आचार्य जयदेव ने अलकार के सवध में अपना अद्भुत हठ प्रकट किया। उनके अनुसार जो लोग काव्य की स्थिति शब्दार्थमात्र में भी मान लेते हैं उनका ऐसा करना उसी प्रकार का है जिस प्रकार अग्नि को उष्णता रहित कहना। इस प्रकार अलकार का नित्य महत्व माननेवाला हमारे यहाँ एक सप्रदाय ही था। अलकार के दो भेद होते हैं। शब्दालकार उन अलकारों को कहते हैं जो शाब्दिक चमत्कार से पैदा होते हैं—ये अलकार बाहरी कहे जाते हैं। दूसरे होते हैं अर्थालकार—ये अर्थगत वैचित्र्य के कारण पैदा होते हैं—इस-लिए ये भीतरी माने जाते है। महर्षि वेदव्यास ने कहा है कि अर्थालकार से

१—'काव्य ग्राह्यमलकारात।—काव्यालकार सूत्रवृत्ति

२—सौंदर्यमलंकार,।—काव्यालकार सूत्रवृत्ति

रहित होकर सरस्वती (काव्य) विधवा हो जाती है।[1] बाद में चलकर जो मत अलंकार के सबंध में प्रतिष्ठित हुआ वह यह कि सौंदर्य को बढ़ाने वाले और रस भाव आदि के सहायक जो शब्द और अर्थ के स्थिर धर्म हैं वे ही मनुष्य शरीर के अलकारों की तरह काव्यालंकार कहलाते हैं।[2] यह मत स्पष्ट रूप से अलंकार को साधन मानता है और रसभाव को साध्य।

आलोच्य काल के आठ सौ वर्षों में अलंकार के प्रति मुक्तक कवियों के भिन्न भिन्न दृष्टिकोण रहे। अपभ्रंश कवि मुख्यतः लोककविता से प्रभावित काव्यस्रष्टा था अतएव उसके सम्मुख 'अलंकार के लिए अलंकार' का दृष्टिकोण आ ही नहीं सकता था। जैसा कि आरंभ में कहा जा चुका है उसके समक्ष वर्ण्य वस्तु या भाव ही मुख्य था कला गौण। इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी कविता में अलंकार पाए ही नहीं जाते। उनकी कविता में भी अलंकार पाए जाते हैं पर वे कहीं भी उद्देश्य बनकर नहीं आए है। वे स्वयमागत हैं आयाससिद्ध नहीं। वस्तुतः जबतक कोई कविता लोक को अपना प्रेरणास्रोत बनाए रहती है तबतक वह वस्तु को प्रधान्य देनेवाली लक्ष्य उक्तियों की ही सृष्टि करती है किंतु जब कोई कविता राजदरबार, शास्त्र और पंडित समाज को अपना प्रेरणा स्रोत बनाती है तब निश्चित रूप से काव्य के सहज प्रभाव के मार्ग में लक्षण ग्रंथ अवरोध उपस्थित करते हैं।

अपभ्रंश कविता में जो अर्थालंकार आए भी हैं वे अधिकांश में सादृश्य और साधर्म्य मूलक अप्रस्तुतों के आधार पर बने हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीत, विभावना अतिशयोक्ति आदि वे अलंकार जो हमारी अभिव्यक्ति के प्रसंग में सहज ही निकल आते हैं इन कविताओं में अक्सर दिखलाई पड़ते हैं। ऐसे अलंकार जो यत्नसाध्य होते हैं वे इनकी कविता में शायद ही कहीं मिलें। प्राकृत व्याकरण के अपभ्रंश दोहों को उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है। यहाँ प्रवृत्तियों को लक्ष्य करना उद्देश्य है पुस्तक को उदाहरणों से बोझिल बनाना लक्ष्य नहीं।

१—अर्थालंकार रहिता विधवेव सरस्वती।—अग्निपुराण

२—शब्दार्थयोरस्थिराये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥

साहित्य दर्पण, दशम परिच्छेद ॥१॥

एक बात अवश्य कहना होगा कि अपभ्रंश दोहों के इन अलंकारों में भी अधिकतर रूढ़ उपमानों को ही लिया गया है। ये उपमान मुख्यतः रूप वर्णन के क्षेत्र में आते हैं। इनका आनयन पति के शौर्य प्रदर्शन को उपमित करने के लिए भी हुआ है। कहीं कहीं ऐसे भी उपमान हैं जो अपनी नूतनता और उपयुक्तता में अद्वितीय हैं—

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगे पइसीसु॥[1]
विप्पिअ आरउ जइ वि पिउ तो वि तं आणहि अज्जु।
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो तें अग्गि कज्जु॥[2]

भक्तिकाल में आकर अलंकारों का बाहुल्य अवश्य दृष्टिगोचर होता है क्योंकि कविता शास्त्र के अधिक निकट आई। लेकिन अलंकार कविता के लक्ष्य एकदम नहीं बने। जितने अलकार आए वे स्वय भावों की धारा में बहते हुए। सूर की कविता में अलंकारों का अद्भुत ठाट मिलता है। जब वे श्रीकृष्ण की रूप शोभा का वर्णन आरंभ करते हैं तो एकएक अग पर अनेकानेक उपमाएँ देते चले जाते हैं। ऐसी उपमाएँ जिन्हें खोजना नहीं पड़ता, ऐसे रूपक जिन्हें गढ़ना नहीं पड़ता। वे जैसे अधे कवि के वशवर्ती होकर उसकी आज्ञा की प्रतीक्षा किया करते हैं। कोई एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

तन मन नारि ढारतिं वारि।
स्याम सोभा सिंधु जान्यो, अग अंग निहारि॥
पचि रही मन ज्ञान करि करि लहति नाहिंन तीर।
स्याम तन जलराशि पूरन, महा गुन गभीर॥
पीत पट फहरानि मानो, लहरि उठति अपार।
निरखि छवि थकि तीर बैठीं कहूँ वार न पार॥

१—यदि किसी प्रकार प्रिय को पा लूँगी तो अकृत (अपूर्व) कौतुक करूँगी। पानी नए शराव (पुरवा) में जैसे प्रविष्ट हो जाता है। मैं भी उसीप्रकार सर्वांग से प्रविष्ट हो जाऊँगी। प्राकृत व्याकरण ४।३९६।४

२—प्रिय यद्यपि अप्रियकारक है तो भी आज उसे ला। आग से यद्यपि घर जल जाता है तो भी उस आग से काम पड़ता ही है।

प्राकृत व्याकरण ४।३४३।२

चलत अंग त्रिभंग करिकै भौंह भाव चलाइ।
मनौ बिच बिच भँवर डोलत चित परत भरमाइ॥
स्रवन कुंडल मकर मानौ, नैन मीन बिसाल।
सलिल झलकनि-रूप आभा, देखि री नँदलाल॥
बाहु दंड भुजग मानौ, जलधि मध्य बिहार।
मुक्तमाला मनो सुरसरि, द्वै चली द्वै धार॥
अँग अँग भूषन बिराजत, कनक मुकुट प्रभास।
उदधि मथि मनु प्रगट कीन्हौ श्री, सुधा परगास॥
चकित भई तिय निरखि सोभा देह गति बिसराइ।
सूर प्रभु, छवि रासि नागर, जानि जाननिराइ॥[1]

भक्तिकाल के भीतर अष्टछाप के अन्य सभी कवियों, तुलसीदास की गीतावली, दोहावली, विनयपत्रिका, कवितावली सर्वत्र वर्ण्य ही प्रधान है अलंकृति गौण। जो कुछ अलंकृति है वह स्वयमागत। बल्कि अन्य कवियों में तो स्वभावोक्ति का अधिक आग्रह भी दीख पड़ता है। असल में इस काल में भावुकता का ही वेग इतना प्रबल दिखलाई पड़ता है कि अलंकार के अतिरिक्त अन्य उपाय की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

रीतिकाल में आकर अलंकारों का माहात्म्य बहुत बढ़ जाता है। अधिकांश कवियों में 'अलंकार अलंकार के लिए' का दृष्टिकोण ही प्रतिष्ठित हो जाता है। रीतिकाल के आरंभिक आचार्य केशवदास अलंकारवादी थे। उनके अनुसार—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न, बिराजई कविता बनिता मित्त॥

कविता के लिए रीतिकाल में भूषण युक्त होना आवश्यक हो गया। भारतीय साहित्य के इतिहास में यह एक आश्चर्यजनक काल है जब शास्त्रकार और कवि, लक्षणकार और लक्ष्यकार एक ही व्यक्ति हुआ। संस्कृत साहित्य में दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति हुआ करते थे। आचार्य और कवि का एकत्र दर्शन संस्कृत साहित्य में पंडितराज जगन्नाथ आदि दो एक को छोड़कर अत्यंत

१—सूरसागर, द्वितीय खंड, नागरीप्रचारिणी सभा काशी, संवत् २००७ वि०, पृ० ८८३–८४।

धर्माश्रित मुक्तक

की अवस्था में करुणा और प्रज्ञा समरस हो जाते हैं। प्रज्ञा से क्लेश नष्ट होते हैं और करुणा से साधक निर्वाण भूमि में प्रवेश नहीं करता। वस्तुतः करुणा एव प्रज्ञा के इस अभेद से साधक का जीवन उस करुणा पुंडरीक का हो जाता है जो जगत पक से उत्पन्न होता है पर उससे तनिक भी स्पृष्ट नहीं होता। संक्षेप में परपरया सिद्धों एव सतों के जीवन की मूल प्रेरणा यही थी और यही उन्हें अन्य साधकों से पृथक करती है।

पारमिता नय और मत्रनय दोनों का उद्देश्य बुद्धत्व लाभ है इसीलिए इनकी चर्याएँ भी समान है। साप्रदायिकों के विश्वास के अनुसार भगवान बुद्ध ने तृतीय धर्मचक्र प्रवर्तन के द्वारा मत्रनय को प्रवर्तित किया। इसके मुख्य व्याख्याता आचार्य आर्य असंग थे। मत्रनय के तीन भेद हैं वज्रयान काल चक्रयान और सहजयान। मत्रनय का साहित्य सस्कृत प्राकृत अपभ्रश तीनों भाषाओं में निबद्ध है। यहाँ तक कि शावरादि म्लेच्छ भाषाओं में भी मत्रयान के सिद्धांतों का व्याख्यान है। ऐतिहासिक विद्वान तारानाथ का विश्वास है कि तत्रों के प्रथम प्रकाशन के बाद दीर्घकाल तक गुरुशिष्य परपरा के क्रम से यह साधन प्रचलित था। इसके बाद सिद्ध और वज्राचार्यों ने इसे प्रकाशित किया। ये सिद्ध, रस सिद्ध, माहेश्वर सिद्ध, नाथ सिद्ध, आदि विभिन्न श्रेणियों में विभक्त हैं। सिद्धों की सख्या केवल चौरासी ही नहीं प्रत्युत इससे बहुत अधिक है। कुछ सिद्धों की पदावलियाँ प्राचीन भाषा में लिखित मिलती हैं। इनमें से बहुत से लोग वज्रयान या कालचक्रयान मानते हैं। सहजयान माननेवाले भी कुछ थे। ये सभी प्राय. अद्वैतवादी थे। तान्त्रिक उपासना वस्तुत शक्ति की उपासना है। ऐतिहासिक पद्धितों के अनुसार बौद्ध साहित्य में ही सर्वप्रथम शक्ति उपासना का मूल लक्षित होता है। अतएव असंग से भी पूर्व शक्ति की उपासना धारा सुदृढ़ हो चुकी थी।[1] शक्ति की इसी उपासना और तान्त्रिक साधना प्रणालियों में से भक्ति के अनेक तत्व प्रादुर्भूत होते गये। उधर भागवतों की ओर से अलग ही भक्ति का

पारमितानय और मत्रनय में भक्ति और उपासना का विकास

१—आचार्य नरेंद्रदेव कृत 'बौद्धधर्म दर्शन' नामक ग्रथ की म० म० प० गोपीनाथ कविराज द्वारा लिखित भूमिका से उद्धृत, पृ० २८।

विकास होता आ रहा था इन्हीं दोनों के मिश्रण से भक्ति का विकास संभव हुआ।

लगभग आठवीं नवीं शताब्दियों में उत्तर भारत से लेकर महाराष्ट्र और उड़ीसा तक जो सहजयानी बौद्ध, जैन श्रावक, नाथपंथी योगी और इनसे ही विकसित हिंदी के संत कवि थे वे सभी भक्ति और योग की इन्हीं विकसित होती हुई रूढ़ियों से समान रूप से प्रभावित हुए।

अब यहाँ सहजयान मत, जैनमत, नाथ संप्रदाय और संतमत की अपभ्रंश और हिंदी में रचित मुक्तक रचनाओं का इस दृष्टि से विवेचन करना लक्ष्य है जिससे इन चारो मत दर्शनों के आधारभूत तत्वों की समशीलता और विभिन्नता लक्षित हो जाय। दूसरे शब्दों में इस निबंध के द्वारा यह प्रयत्न करना अभीष्ट है कि इन चारों धर्म साधनाओं में से होकर गुजरने वाली धार्मिक चिंता धारा के बदलते हुए विविध रूपों की जानकारी हो जाय।

परमतत्व का ज्ञान

गौतम बुद्ध और तीर्थंकर महावीर का ईश्वर में विश्वास न था परंतु एक हजार वर्षों के भीतर उनके मतावलंबियों ने बोधिसत्वों और नित्य निरंजन के रूप में एक ऐसे तत्व को स्वीकार कर लिया जिसकी समानता चाहे ईश्वरवादियों के ईश्वर से न हो किंतु वेदांतियों के ब्रह्म या आत्मा से अवश्य है। उसकी प्राप्ति के लिये उनके अपने विधान थे। समाधि, शब्दयोग, भक्ति इत्यादि तत्व इन सभी मतों में समाविष्ट थे। किंतु इनमें कुछ अपनी अपनी विशेषताएँ भी अवश्य थीं। परवर्ती बौद्ध महायान धर्म में यदि वामाचार और तांत्रिक साधनोपायों का प्रवेश हो गया था तो जैन धर्म साधना में अतिशय विशुद्ध कर्मकांड पूर्ण श्रावकाचार का। दोनों मत ईसा की सातवी शताब्दी तक आकर एक ऐसा रूप ले चुके थे जिसकी बहुत कुछ समानता परवर्ती पौराणिक मतों से है। इस समय तक आकर बौद्ध सिद्धों, जैन मुनियों और नाथपंथी योगियों में बहुत सी समानताएँ लक्षित होने लगती हैं। परमतत्व या परम साध्य प्रत्येक संप्रदाय में क्या रूप रखता है यह यहाँ विवेच्य है।

सहजयानियों ने परमतत्व को विशेषतया मन की एक सर्वसामर्थ्य युक्त अवस्था माना है। इस अवस्था का नाम है 'परमसहासुख'। इसी को वे

शून्य सौर सहज अवस्था भी कहते हैं। वह परमतत्व जो सअल णिरंतर बुद्ध के रूप में सृष्टि व्यापक है वह अनिर्वचनीय है। सरह कहते हैं कि न तो गुरु उसका निर्वचन कर सकता न शिष्य उसे समझ सकता। सहजामृत रस संपूर्ण संसार में व्याप्त है कौन किससे कहे।

णउ त वाअहि गुरु कहइ, णउ त बुज्झइ सीस।
सहजामिअ रस सअल जगु, कासु कहिज्जै कीस।[1]

वह संसार भर में व्यापक है वह जिस प्रकार बाहर है उसी प्रकार अंतःस्थित भी। इस प्रकार चौदह भुवनों में निरतर स्थित है।

जिम बाहर तिम अभ्यतरु। चउवह भुवणे ठिअउ णिरतरु ॥[2]

वह सम्पूर्ण दृश्यमान और परिकल्पित तत्वों से परे है। वहाँ मन और पवन का न तो संचार है न रवि शशि का प्रवेश है। उसका न तो आदि है न तो अत है और न तो मध्य है। उसका न तो उद्भव होता है न तो निर्वाण और इसी को वह परम महासुख की अवस्था कहते हैं।

जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।
तहि वढ़ चित्त विसाम करु, सरहें कहिअ उएस॥
—दो० को० २५

आइ ण अत ण मज्झ णउ, णउ भव णउ णिव्वाण।
ऐहु सो परममहासुह, णउ भव णउ णिव्बाण।
दो० को० २७

यह परम तत्व सकल और निरंतर होने पर भी साधक के शरीर में साधना और अनुभव से संवेद्य है।

असरिर काहँ सरीरहि लुक्को। जो तहिं जाणइ सो तहि मुक्को।
दो० को० ८९

वह स्वसवेद्य के अतिरिक्त अशरीर होकर शरीर में स्थित है। इसीलिये उस अमूर्त की उपलब्धि स्वसवेद्य है। उसे जो जान लेता है वह मुक्त हो

१—The journal of the Depaitment of Letters, Calcutta University Vol. XXVIII.

२—दोहा कोष।

जाता है। इस अनिर्वचनीय, सकल, निरंतर, अशरीरी तत्व को ही निर्वाणरूप और उसकी अनुभूति को ही 'परममहासुखावस्था' कहा गया है। सिद्ध काण्हपा के अनुसार यह सहजरूप संपूर्ण कालुष्य से विरहित, पाप पुण्य के भवजाल से मुक्त, स्फुट कथन के अयोग्य है।

> णिरांग सम सहज रुअ सअल कलुस विरहिए।
> पाप पुण्य-रहिए कुच्छ णाहि काण्ह फुट कहिए॥[1]

वह सहज रूप परमतत्व न तो शून्य है न अशून्य।

'वहिणणिक्कालिआ सुण्णा सुणूण वेणि मज्झे,

रे वढ़ किम्पिण जाणहू'॥[2]

सिद्ध काण्हपा ने जिस निर्वाण का वर्णन किया है वह भी उसी परमतत्व का समशील है। निश्चल, निर्विकल्प, निर्विकार, उदय और अस्त से स्वतंत्र सारयुक्त ऐसा वह निर्वाण कहा जाता है जहाँ पहुँच कर मानस भी तद्गत अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

> णिच्चल णिव्विअप्प णिव्विआर उअअ अत्थमण रहिअ सुसार।
> अइसो सो णिव्वाण भणिज्जइ, जहि मण माणस किम्पि णकिज्जइ॥[3]

जैन मुनियों के परम तत्व निरूपण में भी ऐसा कोई विशेष तत्व नहीं लक्षित होता जो बौद्ध सिद्धों के परम तत्व निरूपण से भिन्न हो। उस परमात्म के स्वभाव निरूपण में व्यापक उदारता का परिचय देते हुए मुनि जोइंदु कहते हैं कि वही शिव शंकर है, वही विष्णु है, वही रुद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्म (ब्रह्मा) है, वही अनंत है और वही सिद्ध है।

> सो सिव-संकरु विण्हु सो, सो रुद्दवि सो बुद्धु।
> सो जिणु, ईसरु, बंभु सो सो अणंत सो सिद्धु॥[4]

१—J. D. L. Cal. Vol. XXVIII. P, 24.
२—Ibid.

उस इष्टदेव को मुनि रामसिंह ने अपनी स्पष्ट स्वीकृति दी है और अनेक प्रकार के भेदों का निषेध किया है। वे कहते हैं षड्दर्शन के धधे में पड़ कर मन की भ्रांति नहीं टूटी। एक देव के छः भेद किए। इसलिये मोक्ष नहीं मिला।[1] जैन मत में उस 'एक देव' को नित्य निरंजन और परम ज्ञानमय माना गया है। निरजन शब्द का व्यवहार जैन मुनियों ने प्रचुर मात्रा में किया है। इस निरजन का अर्थ है अजन (कलुष) रहित। इस शब्द का अनेक परवर्ती धर्मसाधनाओं में बड़ा समादर हुआ है। नाथ पथ, सत सम्प्रदाय में तो इसका योग हुआ ही, निरंजनियों का एक पृथक संप्रदाय भी चल पड़ा। इस निरंजन एकदेव का लक्षण-निरूपण करते हुए मुनि जोइंदु कहते हैं कि वह शांत शिव नित्य निरजन ज्ञानमय और परम आनद से पूर्ण स्वभाव वाला है। उसकी अर्चना भाव के द्वारा ही हो सकती है। उसके न तो वर्ण है, न गध, न रस, न शब्द, न स्पर्श, न जन्म, न मरण।

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ, परमाणद सहाउ।
जो एहउ सो सतु सिउ, तासु मुणिज्जहि भाउ।

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु, जासु ण सद्दु ण फांसु।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि, णाउ णिरजणु तासु॥[2]

निरंजन शब्द का परवर्ती वेदबाह्य धर्म साधनाओं में अधिक महत्त्व बढ़ गया है। जैनियों में इतने बल और विस्तृत अर्थ के साथ सभवत. सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग होता है इसलिये वहीं से इसकी व्याख्या भी लेनी चाहिए। मुनि जोइंदु के अनुसार जो क्रोध, मोह, मद, माया, मान, स्थान, ध्यान से स्वतत्र है वही निरंजन।

जासु ण कोहु ण मोहु मउ, जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय, सोजि णिरजणु जाणु॥[3]

इसके अतिरिक्त निरंजन भावस्वरूप भी है जो पाप पुण्य, हर्ष विषाद से मुक्त, परम निर्दोष है।

१—पाहुड़ दोहा का १६वाँ दोहा, रामसिंह।
२—परमात्म प्रकाश। १।१७।
३—वही, १।२०।

अत्थि ण पुण्णु, ण पाउ जसु, अत्थि ण हरिसु विसाउ।
अत्थि ण एक्कुवि दोसु जसु, सोजि णिरंजणु भाउ॥[1]

यही नहीं निरंजन एक नाम भी है जो वर्ण, गंध, रस, शब्द, स्पर्श और द्विधा गतियों जन्म मृत्यु आदि से परे है।

निरंजन का जो तत्व-निरूपण जैन मत में हुआ है वह आगे चलकर संत मत और निरंजन पंथ में एक पौराणिक रूप पा गया। निरंजन की अंतिम परिणति देवता रूप में हुई। इस रूप-विकास का यथा प्रसंग विवेचन किया जायेगा।

यद्यपि वह परमात्मा तत्व विश्व में व्यापक है और विश्व उसमें व्यापक है[2] तथापि वह मनुष्य के शरीर मंदिर में भी ज्ञान के प्रस्फुरण के रूप में अनुभूत होता है।[3] सिद्धों के स्वर में स्वर मिलाकर मुनि जोइंदु कहते हैं कि वह उत्पत्ति, मरण, बंधन, मोक्ष सबसे स्वतंत्र है। सिद्धों के समान ही जैनों में 'शून्य पद' और 'समरस भाव' का लगभग उसी अर्थ में प्रयोग हुआ है। जोइंदु कहते हैं कि मैं उस योगी पर बलि जाता हूँ जो शून्य पद का ध्यान करते हैं। इस समरस भाव में स्थित व्यक्ति को पाप पुण्य स्पर्श भी नहीं करते।[4]

जं सुण्णउँ पउँ झांयणइ तसु बलि जोइय जाहं।
समरसि भाउ परेण सहु पुण्णुवि पाउ ण जाहं॥[5]

जैनों ने संतों में प्रचलित 'उब्बस बसिआ'[6] शब्द का भी प्रयोग किया

१—वही, १।२१।

२—जसु अब्भतरि जगु वसइ जग अब्भंतरि सोजि।

—प० प्र० १।४१।

३—देहा देवलि जो वसइ देउ अणाइ-अणंतु।
केवल णाण-फुरंत तणु, सो परमप्पु णिभंतु॥

—प० प्र० १।३३।

४—णवि उपज्जइ णवि मरइ, बंधु ण मोक्खु करेइ।

—प० प्र० १।६८।

५—प० प्र० २।१५६।

६—उब्बस वसिया जो करइ, वसिया करइ जु सुण्णं।

—प० प्र० २।१६०।

है। उनके अनुसार जो उड्डस को वसित करता है और शून्य में स्थित होता है उसकी मैं बलि जाता हूँ। स्वरों का यह अद्भुत साम्य देखने योग्य है।

नाथ सम्प्रदाय में शिव को आदिनाथ माना जाता है। यह शिव पौराणिक मत की तरह सगुण साकार न होकर निर्गुण निराकार हैं। यही कारण है कि मूर्तिद्रोही मुसलमानों ने भी नाथ संप्रदाय को अपनाया। ज्ञातव्य है कि दो तीन शताब्दी पश्चात् इसी प्रकार नामदेव ने विट्ठल और कबीर ने राम शब्द को पकड़कर निर्गुण निराकर का प्रचार किया। नाथ सम्प्रदाय में यह शिव तत्व जैनियों के परमात्म तत्व से बहुत भिन्न नहीं है अपितु उसी परंपरा में है। सिद्धों में से ही निकलकर शुद्धाचार और शैव दर्शन के साथ हठयोग को मिलाकर नाथ सम्प्रदाय को खड़ा करने वाले गोरख नाथ के अनुसार 'दृश्य के भीतर हमेशा अदृश्य का सधान करना चाहिए।[1] उन्होंने कहा है कि 'आकाश तत्व को सदा शिव समझने वाले के आभ्यंतर में निर्वाण पद सहज ही उपस्थित रहता है। उसकी पहचान गुरुसाहाय्य से ही होती है और इस पहचान से सपन्न व्यक्ति आवागमन से मुक्त हो जाता है।

आकास तत्त सदा-सिव जाण। तसि अभिअतरि पद निरवाण।
प्यडे परचानैं गुरुमुषि जोइ। बाहुडि आवागवनु न होइ॥[2]

उसकी सर्व व्यापकता को स्मरण करते हुए गोरखनाथ कहते हैं कि, 'बाहरि न भीतरि नेड़ा न दूरि'।[3] वह परमतत्व रूपी 'नाथ' सपूर्ण सृष्टि में निरतर है पर उसके नैरन्तर्य की अनुभूति साधनागम्य है।

छत्र पवन निरंतर रहै छीजै काया पिंजरा रहै।
मन पवन चचल निज गहिया बोलै नाथ निरतर रहिया॥[4]

जिस निरजन शब्द को जैन मुनि ने परिभाषित करते हुए उसकी गुणात्मक सत्ता स्थिर की है उसे नाथ मत इस रूप में स्मरण करता है :—

१—गोरखबानी पृ० १६२
२—वही, पृ० १६२
३—वही, पृ० ५३
४—वही, पृ० १६०

उदय अस्त, राति न दिन, सरबे सचराचर, भाव न भिन्न।
सोई निरंजन डाल न मूल, सर्वव्यापक सुषम न अस्थूल ॥[1]

इसे उन्होंने शून्य मानकर माता पिता का पद भी दिया है—

सुंनि ज माई सुंनि ज बाप, सुंनि निरंजन आपै आप ॥[2]

इस प्रकार नाथ संप्रदाय में निरंजन शब्द शून्य के लिये और शून्य शब्द ब्रह्मरंध्रस्थ स्थिति के लिये आता है।

संत साहित्य में यह परंपराएँ ज्यों की त्यों चली आई हैं। सिद्धों, जैनियों और नाथों में जिस परमतत्व की चर्चा हो चुकी है वह एक ही परम शक्तिशाली तत्व है, वह सर्वत्र शून्यावस्था में प्राप्य है, और वह सृष्टि व्यापक होकर भी अंतःस्थित है। सिद्धों के यहाँ वह प्रायः अनाम है और एक मानसिक भूमिका—सहज शून्य या परमसहासुख के रूप में मान्य है। जैनों में भी वह नित्य निरंजन, ज्ञानमय और अनाम है। परमतत्व को नाथों में शिव नाम तो मिला है लेकिन उस शिव की संपूर्ण विशेषताएं कथित परंपरा से प्राप्त हैं। वस्तुतः सातवीं शताब्दी के लगभग अधिकांश वेदबाह्य धर्मों में पारस्परिक अंतरावलंबन के कारण पारस्परिक समशीलता दृष्टिगत होती है। योगाचार तो सिद्ध जैन मतों में प्रविष्ट था ही भक्ति का भी परोक्षतः विकास हो रहा था। इस तात्विक अंतरावलंबन के साथ साथ भक्ति का वही स्त्रोत संत साहित्य में भी प्राप्त होता है जो महायान मत में विकसित होकर सहजयानी सिद्धों को प्राप्त हुआ था। किंतु यह अंतःस्रोत था। इन्हीं दिनों में वैदिक धारा में भी भक्ति चरम विकास प्राप्त कर चुकी थी उससे संतमत का प्रत्यक्षतः प्रभावित होना स्वाभाविक था। निर्गुण के साथ भक्ति के अविरोध का तात्विक रहस्य यही है कि महायान ने शून्यता और करुणा का अभेद सिद्ध कर दिया था।

कहै कबीर एक राम जपहु रे हिंदू तुरुक न कोई।[3]

उसकी सर्वव्यापकता का स्मरण इस रूप में हुआ है—

१—गोरखबानी पृ० २६

२—वही, पृ० ७३।

३—कबीर ग्रंथावली पृ० १०६।

घीव दूध में रमि रह्या व्यापक सब ही ठौर ॥[1]

खालिक खलक में खलक में खालिक सब घट रह्या समाई ।[2]

कबीर ने निरंजन शब्द का दोनों अर्थों में प्रयोग किया। पहला प्रयोग तो जैनियों की तरह है:—

गोव्यदे तू निरंजन तू निरंजन तू निरजन राया।
तेरे रूप नाहीं, रेख नाहीं, मुद्रा नाहीं माया।
तेरी गति तूं ही जाने तेरी तो सरना ॥[3]

जीवतत्व का स्वरूप

जीव तत्व आलोच्य चारों धर्मसाधनाओं में अत्यत महत्वशाली स्वीकार किया गया है। बौद्ध आचार्य आत्मा को तो नहीं मानते फिर भी शरीर और पिंड को उन्होंने पर्याप्त महत्व दिया है। जैनियों ने आत्मतत्व का विशद निरूपण किया है। नाथ संप्रदाय और संत मत में आत्मा की सबल सत्ता स्वीकार की ही गई है। जो अनात्मवादी हैं वे भी उस परमतत्व को पिंडांतर्गत ही मानते हैं लेकिन जो आत्मवादी हैं वे तो उसे ईश्वरांश ही मानते हैं।

सहजयानी सिद्धों के अनुसार जो बाहर है वही शरीर के भीतर भी है। वह चौदह भुवनों में निरंतर वास करता है। जो अशरीर है वह शरीर में वास करता है—इस तथ्य को जो ठीक से समझता है वह मुक्त हो जाता है।

जिम बाहिर तिम अब्भंतरु। चौदह भुवणे ठिअउ णिरंतरु।
असरिंर काइ सरीरहि लुक्को। जो तहि जाणइ सो तहि मुक्को ॥[4]

एक प्रकार से उस परमतत्व और जीवतत्व में द्वैत के स्थान पर अद्वैत है।

१—दादू बानी, भाग १, पृ० ३२।
२—कबीर ग्रंथावली, पृ० १०४।
३—वही, पृ० १६२।
४—दोहा कोष, ८६।

इन सिद्धाचार्यों ने परम तत्व और जीवतत्व का जो निकट संबंध स्थापित किया वह परवर्ती तीनों साधनाओं में प्राप्त होता है। अवश्य ही नाथमतावलंबी और संत-मतवाले अद्वैतवादी औपनिषदिक दर्शन से भी किसी न किसी रूप में प्रभावित थे।

जैनाचार्यों ने इस आत्मतत्व का विशद निरूपण किया है। मुनि जोइन्दु के अनुसार आत्मा गौर, श्याम आदि विभिन्न वर्णों से रहित है। इसमें तनुत्व स्थूलत्व का आरोप मूढ़ लोग करते हैं। आत्मा जाति, लिंग, धातु, मूर्खता, पांडित्य, ईश्वरत्व, अनीश्वरत्व, तारुण्य वार्द्धक्य सबसे स्वतंत्र और निर्लिप्त है, वह तो एक कर्मविशेष, एक चेतन भाव, निजी मन की एक अतिशय निर्मल अवस्था है।

हंउ गोरउ हंउ सामलउ हंजि विभिण्णउ वण्णु।
हंउ तणु अंगउं थूलु हउं एहउं मूढ़उ मण्णु॥ प० प्र० १।८०

हउं वर बंभणु वइसि हउं हउं खत्तिउ हंउ सेसु।
पुरिस णउंसउ इत्थि हउं, मण्णइ मूढ़ुं विसेसु॥ प० प्र० १।८१

अप्पा गोरउ किण्हु णवि, अप्पा र त्तण होइ।
अप्पा सुहुमु वि थूलु णवि, णाणिउ जाणे जोइ॥ प० प्र० १।८६

अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि, णवि ईसरु णवि णीसु।
तरुणउ वूढ़उ बालु णवि जाणिउ कम्म विसेसु॥ प० प्र० १।९१

पुण्णु वि पाउ वि कालु णवि धम्माधम्मु वि काउ।
एक्कुवि अप्पा होइणवि मेल्लवि चेयण भाउ॥ प० प्र० १।९२

जैनाचार्य परमात्म तत्व को भी ज्ञान का पूर्णत्व प्राप्त रूप ही मानते हैं। वह अनादि और अनत देहमंदिर में निवास करता है। वह शरीर में सूक्ष्म रूप से ज्ञान का स्फुरण मात्र है। वह न तो पाषाण मंदिर है, न शिला में है न रंग में है न रेखा में है।

देहा देवलि जो वसइ, देउ अणाइ अणंतु।
केवल णाण फुरंत तणु सो परमप्प णिभंतु॥
देउ न देउले णवि सिलएं णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजण णाणमउ, सिउ संठिउ उव चित्त॥

उसकी प्राप्ति के लिये आत्म ज्ञान की आवश्यकता है। योगियों को संबोधित करके कहते हुए जोइन्दु कहते हैं कि हे योगी अपने को जानकर तुम संसार को जान जावोगे। आत्मानुभावन आवश्यक है।

जोइ अप्पे जाणिएण, जगु जाणियउ हवेइ।
अप्पइ केरइ भावडइ •बिंबिउ जेण बसेइ॥

हे योगी वस्तु का स्वभाव यह है कि आत्मा आत्मा को ही प्रकाशित करती है जिस प्रकार आकाश को अरुण की किरण।

अप्पु पयासइ अप्पु परु, जिम अंबरि रवि राउ।
जोइमं एत्थु म भति करि एहउ वत्थु सहाउ॥

नाथ संप्रदाय में जीव का स्थान वही माना गया है। आत्मा विशुद्ध रूप से निरजन का अश है। मनुष्य के शरीर के धर्मो और विकारों से जीव को उस परमतत्व की अनुभूति नहीं होती। गोरखनाथ कहते हैं।

जीव सीव संगे बासा वधि न षाइबा रुध्र मासा।
इस घाट ना करिबा गोतं, कथंत गोरखनाथ गरेत॥

सतसाहित्य में भी इस विचार का अपने ढग से विनियोग हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर परमात्म तत्व पूर्ण रूप से विद्यमान स्वीकार किया गया है। रहस्य केवल यह है कि वह इस सत्य से अपरिचित है। इस बात का परिचय सभी सदेहों से ऊपर उठने पर हो सकता है—'दूर किया सदेह सब जीव ब्रह्म नहिं भिन्न' (सुदरदास)। अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाने के कारण अपने को ब्रह्मेतर समझता है। आत्मतत्व को भूलकर पचतत्वों की ओर दृष्टिपात करता है, उसी में अपने जीवन की सार्थकता मानता है—'सूधी ओर न देखई देखै दर्पन पृष्ट।' जब साधक सपूर्ण सदेहों से ऊपर उठ जाता है तो उसकी अनुभूति इस प्रकार की हो जाती है।

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराइ।
बूंद समानी समुद में, सो कत हेन्या जाइ॥
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराइ।
समुद समाना बूंद में, सो कत हेन्या जाइ॥

—कबीर ग्रं०; २०।३।३२

सदा लीन आनंद में सहज रूप सब ठौर।
दादू देखे एक कौ दूजा नाहीं और॥

दादू बानी; पृ० ४२-४३

साहब मिलि साहब भए कछू रही न तमाई।
कहैं मलूक तिस घर गए जहं पवन न जाई॥

—मलूकदास; संत बानी संग्रह; भाग २ पृ० १०४

परमतत्व और जीव तत्व के भेदक तत्व

तथागत का धर्म मूलतः निवृत्तिमूलक था। आरंभ में भिक्षु और भिक्षुणिओं का अविवाहित रहना अनिवार्य था। उनके लिये संसार दुःखमय था। इस प्रकार की कठोर निवृत्तिमूलकता बहुत दिनों तक नहीं चल सकी और हीनयान में अंतर्यमित हो गई किंतु महायान मतवालों ने शुद्ध वासना को त्याज्य नहीं माना। लेकिन नितांत वाममार्गी हो जाना कमलकुलिश के नाम पर भ्रष्टाचार में फँसना उन्हें भी अप्रिय था। सरह ने वज्रयानियों से इसी बात को लेकर सहजयान मत का प्रस्थानभेद सूचित किया। यों भी सहजयानी सिद्ध पर्याप्त मात्रा में अशुद्ध वासनाओं से बचने के लिये सावधान रहते हैं। इस मायामय शब्द रस-रूप-गंध से संमिलित प्रबल आकर्षणयुक्त सृष्टि के प्रति वे सब आतंकित हैं। इस प्रसरित मायाजाल में मोहग्रस्त जीव विमूढ़ हरिण के समान फँस गया है। मोहविनाश और बुद्धत्व प्राप्ति के लिये गुरु की परम आवश्यकता है—

जइ तुम्ह भुसुक अहेरी जाइब मरहसि पंच जना।
णलिणी वन पइसन्ते होहेसि एक्कु मणा॥
माआ जाल पंसारी बांधेलि माआ हरिणी।
सद्गुरु बोहें बूझि रे कासु (काहिणी)॥[1]

सिद्ध लुईपा कहते हैं कि काया एक वृक्ष है जिसकी पाँच डालें हैं। चंचल चित्त में काल प्रविष्ट हो गया है। मन को दृढ़ करके महासुख की भावना कर इसमें गुरु की सहायता हितकर होगी।

काआ तरुवर पंचविडाल। चंचल चीए पइट्ठा काल।
दिढ़ करिअ महसुह परिमाण। लुई भणइ गुरु पुच्छिअ जाण॥[2]

१—चर्यापद, २३।
२—चर्यापद, १।

जीव को आरंभ से ही इस संसार में जो विश्वास पैदा हो जाता है वह वस्तुतः एक भ्रांतिपूर्ण प्रतिभास है। जिस प्रकार सर्प में लोग रज्जु का भ्रम करते हैं और अततः उसी के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार इस मिथ्या और दुःखपूर्ण ससार को सत्य और सुखपूर्ण समझते हैं। भुसुकपाद कहते हैं कि अरे ओ योगी तुम इसको हाथ में मत लेना। इन तथ्यों को यदि तुम हृदयंगम कर लोगे तो तुम्हारी अशुद्ध वासनाएँ समाप्त हो जाएँगी। यह सारा ससार मृगमरीचिका और गंधर्वों की नगरी के समान है।

आइएं अनुअनाएं जग रे मनिएं सो पडिहाइ
रज्जु सप्प देखि जो चमकिउ, साचे जिमि लेइ खाहउ॥
अकत जोइआ रे मा कर हाथ लोण्हा
अइस सहावें सहज बूझसि वासना तोरा।
मरुमरीचि गंधव्व-नअरी दापण पडिविंबु जइसा॥

—चर्यापद

जैनियों का धर्म भी आरंभ से ही कठोर निवृत्तिमूलक था। यह उनका सौभाग्य है कि अत तक उनके धर्म का एक सतुलित रूप ही सुरक्षित रह गया। उन्हें डोंबी, रजकी आदि तक नहीं पहुँचना पड़ा। ऐसी स्थिति में उनका इस मायामय विश्व से छुटकारा पाने का उपदेश सहज स्वाभाविक है। मुनि जोइंदु के अनुसार इस दुनिया का सबसे बड़ा आकर्षण हिरणाक्षी रमणी जिसके हृदय में हो वह उस पारलौकि आकर्षण ब्रह्म विचार से वंचित रह जाएगा।

जसु हरिणच्छी हियवडएँ तसु णवि बंभु वियारि।
एक्कहि केम समंति वढ़, वे खंडा पडि यारि॥

प० प्र० १।१२१

रूप, शब्द, स्पर्श, गध, रस इनके द्वारा भी जीवतत्व विनाश को ही प्राप्त होता है। मुनि जोइंदु के अनुसार रूप से पतंग, शब्द से मृग, स्पर्श से गज, गध से भ्रमर, रस से मत्स्य नष्ट हो जाते हैं फिर क्यों वे इनसे प्रेम करते हैं अर्थात् उन्हें इनसे प्रेम नहीं करना चाहिए।

रूवि पयंगा सद्दि मय, गय फासहि णासति।
अलि उल गंधहिं मच्छ रसि, किंयि अणुराइ करंति॥

प० प्र० २।११२

इसी विश्वास के कारण वे कहते हैं कि पचेंद्रियों रूपी पंचनायकों को वश में करो जिससे अन्य भी वशवर्ती हो जाय। तरुवर के मूल के विनष्ट हो जाने पर अवश्य ही पर्ण सूख जाते हैं।

पंचहि णायकु वसि करहु जेण होति वसि अण्ण।
मूल विणट्ठइ तरुवरहं अवसइ सुक्कइ पण्ण॥

प० प्र० २।१४१

नाथ संप्रदाय का योगी संसार के प्रति सर्वथा उपेक्षाशील है। यह पंचेंद्रियों और पंचतन्मात्राओं आदि के प्रति सर्वथा कठोर है। इनके अनुसार परिवारी योगसाधन नहीं कर सकता, इसके लिये उसे परिवार छोड़ना ही पड़ेगा। इन हठयोगियों की विशेषता यह है कि ये संसार की मृग मरीचिका के प्रति अन्य साधकों की तरह आतंकित नहीं होते क्योंकि इन्हें अपनी दृढ़ साधनाओं में अत्यधिक विश्वास है। यही कारण है कि इनका स्वर विशेष वर्जनशील न होकर योगसाधना के प्रति विशेप आग्रहशील (पाजिटिव) है। साधना सिद्ध योगी में गोरखनाथ का पूर्ण विश्वास है। वह स्खलित होगा इसका अदेशा इन्हें नही। यदि वह कहीं किसी भी क्षण स्खलित हो जाय तो योगी ही नहीं। इनके अनुसार समाधिसिद्ध अनहद नाद का श्रोता ब्रह्मतत्व को बूझनेवाला योगी उस माया की फाँस से बच सकता है जिसमें संपूर्ण त्रैलोक्य, त्रिकुटी रवि एवं शशि भी फँसे हुए हैं।

तूंबी में तिरलोक समाया त्रिवेणी रवि चंदा।
बूझो रे ब्रह्म गियानी अनहद नाद अभंगा॥

गो० बानी, पृ० २५७

कहा जाता है कि गोरखनाथ मत्स्येंद्रनाथ के शिष्य थे। चौरासी सिद्धों की सूची में मीनपा (मत्स्येंद्रनाथ) और गोरक्षपा (गोरखनाथ) दोनों का नाम आता है। अपनी देशी रचनाओं में भी गोरखनाथ ने आदर के साथ अपने गुरु का नाम लिया है। अनुश्रुति है कि यह मत्स्येंद्रनाथ सहजयानी साधना मार्ग पर चलते चलते पथभ्रष्ट हो गए थे और गोरखनाथ ने इन्हें सुधारा। 'गोरखमछिंद्र गुष्टि' नामक एक रचना भी गोरखनाथ के नाम

मिलती है। इसमें गुरु को तार्किक ढग से शिष्य ने सांसारिक आकर्षणों की व्यर्थता और कठोर साधना मार्ग का निर्देश किया है।

संत मत-सतों में जैनियों, नाथों की वह परंपरा ज्यों की त्यों चली आई। इन्होंने भी माया को भयावह और मार्गरोधक माना तथा उससे बराबर सावधान रहने का उपदेश दिया। अद्वैत वेदात का कबीर इत्यादि पर प्रभाव होने के कारण वे जड़ और चेतन सपूर्ण सृष्टि को ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप समझते हैं इसके परे अव्यक्त, पूर्ण ब्रह्म का स्थान। उन्होंने माया का शक्तिशाली अस्तित्व स्वीकार किया है जो जीव आत्मा को परमात्मा से विच्छिन्न करने का कार्य करती है।

> तू माया रघुनाथ की खेलण चली अहेड़े।
> चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे कोई न छोड्या नेड़े।
> मुनिवर पीर दिगबर मारे जतन करता जोगी।
> जगल महि के जंगम मारे तू रे फिरे बलवती।
> वेद पढता ब्राह्मण मारा सेवा करता स्वामी।
> अरथ करता मिसर पछाड्या तूं र फिरै मैमती।
> सावित कै तूं हरता करता हरिभगतन की चेरी।
> दास कबीर राम कै सरनै ज्यू लागी त्यूं तोरी॥ क० ग्रं०, पद १८७

कबीरदास ने बताया है कि इस माया का प्रभाव बड़ा ही मधुर होता है जो असावधान और अज्ञानी है वह उसका शिकार हो जाता है।

> मीठी मीठी माया तजी न जाई।
> अग्यानी पुरिष को मोलि मोलि खाई।

उनके अनुसार माया ही विषय वासनाओं को जन्म देती है—

> इक डाइन मेरे मन बसै। नित उठि मेरे जिय को डसै।
> या डाइन के लरिका पाँच रे। निसि दिन मोहिं नचावै नाच रे॥

कबीर के पास भी यह माया बहन आई थी। उन्होंने होशियारी से जवाब दिया माया बहन! तू यहाँ से चली जा, कबीर फँसने वाला जीव नहीं है। तुझे तो पाट पटबर चाहिए और बेचारे कबीर कमीनी जाति का जुलाहा है। माया क्यों छोड़ने लगी। उसने जवाब दिया, भाई मैं तो अपना काम करती ही जाऊँगी अपने साहब को मुझे लेखा तो देना ही पड़ेगा।

'कबीर बोले' माया रानी पत्थर नहीं भीज सकता। कबीर नहीं डिगेगा। जिस मच्छ की तू मच्छी है वह मेरा रखवाला है। जरा भी तेरी ओर नजर डालूँ तो वह नाराज हो जाय। तू और जगह जा।[1]

सहजयानी सिद्धों, जैन साधुओं, नाथपंथी योगियों और संतों सबकी साधना परंपरा की जो सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है वह यह कि ये सब परमतत्व से सीधा संबंध स्थापित करना चाहते हैं। उनके पथप्रदर्शक के रूप में एक मध्यवर्ती गुरु मात्र है। पोथी पत्रा, मंदिर मस्जिद, व्रत तीर्थ कुछ भी नहीं, साधक और उसका परम तत्व सहज मार्ग के द्वारा उसकी प्राप्ति। इन्हें कहीं दूर भटकने की आवश्यकता नहीं देह ही इनका सब कुछ है। काया ही तीर्थ है। सरोरुहपाद कहते हैं:—

उद्देश्य

एहिं से सुरसरि जमुणा, एत्थ से गंगा साअरु।
एत्थु पआग वणारसि, एत्थु से चंद दिवाअरु॥
खेत्तु पीठ उपपीठ, एत्थु महं भमइ परिट्ठिओ।
देहा सरिसअ तित्थ, मइं सुह अण्ण ण दिट्ठओं॥
सण्ड पुंअणि दल कमल गन्ध केसर वरणालें।
छड्डहु वेणिम ण करहु सोसंण लागहु बढ़ आले॥
काय तित्थ खअ जाइ, प्रच्छह कुल हीणओ।
ब्रह्म विट्ठु तेलोअ सअल जाहिं णिलीणओ॥

—४७ से ५०-दोहाकोश[2]

जैन कवि जोइन्दु ने भी कहा है:—

देहा देवलि जो वसइ देउ अणाइ अणंतु।
केवल णाण फुरंत तणु, सो परमप्पु णिभंतु॥

प० प्र० ११३३

देहिं वसंतुवि णवि छिवइ, णियमें देहुवि जोजि।
देहे छिप्पइ जोवि णवि, मुणि परमप्पउ सोजि॥

—प० प्र० ११३४

नाथ संप्रदाय में भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है:—

१—क० ग्रं०, पद २७०, पृ० १८०

२—J. D. L. Calcutta University Vol, XXVIII.

गुरु के उपदेश में अमृतरस रहता है उसका जिसने दौड़कर नहीं पान किया वह बहुत से शास्त्रार्थों के मरुस्थल में भटक कर प्यासा ही मर जाएगा।

गुरु की योग्यता पर लिखते हुए सिद्ध सरोरुह कहते हैं कि जबतक अपने पास ज्ञान न हो तबतक शिष्य नहीं करना चाहिए। यदि किसी अज्ञानी ने ढोंग से सचमुच शिष्य कर ही लिया और कोई अज्ञानी वस्तुत शिष्य बन ही गया तो दोनों उसी प्रकार गर्तपतित होंगे जिसप्रकार अन्धे को कुएँ से निकालने वाला अंधा भी कुएँ में गिर जाता है—

जाव ण आप जाणिज्जइ, ताव ण सिस्स करेइ।
अन्धा अन्ध कढाव तिम, वेण्ण वि कूव पडेइ॥ ८॥ दोहा कोष

जैन मुनियों ने भी गुरु को पर्याप्त महत्व दिया है। मुनि रामसिंह कहते हैं कि जो न लिखा जाता है न पूछा जाता है न कहा जाता है। बिना चित्त के स्थिर हुए कहोगे भी किससे? ऐसा चित्त गुरु के उपदेश से स्थिर हो जाता है इसलिये उस गुरु के उपदेश को धारण करने को छोड़कर और किनके उपदेश को धारण किया जाय। जिसने भेदों को तोड़कर एक कर दिया अर्थात् परमात्म-तत्व से जीवतत्व को मिला दिया वही गुरु है और मैं उसका शिष्य हूँ अन्य की अभिलाषा मुझे नहीं है। आगे पीछे दसो दिशाओं में जहाँ जोहता हूँ वहाँ वही है उसी ने मेरी भ्राति को काटा है।

जं लिहिउ ण पुच्छिउ कहव जाइ।
कहियउ कासु विणउ चित्ति ठाइ।
अह गुरु उवएसे चित्त ठाइ
त तेम धरंतिहि कहिं मि ठाइ॥१६६॥
वे भजेविणु एक्कु किउ, मणह ण चारिय विल्लि।
तहि गुरुपहि हउं सिस्सिणी, वण्णहि करयि णलल्लि॥१७४॥
अग्गइं पच्छइं दहदिहइ, जहिं जोवउ तहिं सोइ
ता महुफिटिय्य भतडी अवसणु पुच्छइ कोइ॥१७५॥ पाहुड दोहा

नाथपंथ में भी गुरु का पर्याप्त माहात्म्य है। चूकि हमें गोरखनाथ की ही रचनाएँ प्राप्त हैं और गोरखनाथ उस युग के महासाधक और प्रभावशाली धार्मिक नेता थे इसलिये उन्होंने गुरु के स्थान पर ज्ञान को ही अधिक महत्व दिया है। ऐसा भी है कि उनके अपने गुरु ही स्वय मार्गभ्रष्ट हो गए थे और शिष्य को (गोरखनाथ को) उन्हे समझाना पड़ा। इसलिये भी गोरखनाथ ने

गुरु की योग्यता की कसौटी असाधारण रखी। उनका कथन है कि ज्ञान के समान गुरु नहीं मिला, चित्त के समान चेला नहीं मिला, मन के समान मित्र न मिला इसलिये गोरखनाथ अकेले फिरते हैं।

ज्ञान सरीखा गुरू न मिलिया, चित्त सरीखा चेला
मना सरीखा मेलू न मिलिया, तातैं गोरख फिरै अकेला।

—गोरखवानी।

अपने लिये ही नहीं गोरखनाथ अन्य योगियों को भी गुरु का निर्देश उतने ही समय तक के लिये करते हैं, जबतक शिष्य अकेले साधना करने लायक नहीं हो जाते।

गोरखनाथ ने गुरु की योग्यता पर विशेष बल दिया है। स्वयं अपने पर गोरख ने लिखा है कि जहाँ गोरख है वहाँ ग्यान है। वहाँ गरीबी, द्वंद्व विवाद नाम की कोई वस्तु नहीं। गोरख वही हो सकता है जो निस्पृह और निष्काम हों (गोरखवानी पृ० ६२) लेकिन ऐसा नहीं कि उन्होंने शिष्य की योग्यता का निर्धारण न किया हो। वे योगेश्वर की यही कसौटी बतलाते हैं कि वह शब्द विचार करके विचरण करे। जितने के लायक पात्र (शिष्य) हो उतना ही (ज्ञान) उसमें भरे। चाँप करके (बलात) उसमें (पात्र में) भरने से पात्र फूट जाता है और यदि बाहर रह जाय (ज्ञान) तो नष्ट हो जाता है। बात यह है कि वस्तु तो अधिक है पर पात्र छोटा है, गुरु करे तो क्या करे ?

जोगेसर की इहै परछ्या, सबद विचार्‌या सेलै
जितना लाइक वासण होवे ते तो तापे मेल्है ॥ गो० वा०, पृ० ७८
चापि भरैं तौ वासण फूटै वारैं रहै तो छीजैं।
वसत घणेरी वासण वोछा कहौ गुरू क्या कीजै ॥ गो० वा० पृ० ७८

पर गोरखनाथ द्वारा दीक्षित योगेश्वर अत्यंत उदार और समझदार हैं। वह प्रत्येक व्यक्ति को अधिकारी मानता है क्योंकि उसके पास धैर्य है सहज रीति का परिचय है और है शिष्य से प्रीति करने की क्षमता। गोरखनाथ का योगेश्वर, अवधू को संबोधित करके कहता है कि अवधू! सहज ही शिष्य की माया को लेना है सहज ही ज्ञान देना है और इस क्रिया में प्रीति और लगन का योग है। सहज सहज (धीरे धीरे) चलने से, ज्ञान प्रवेश कराने से पात्र स्वयं बड़ा हो जाएगा और उसमें सब समा जाएगा।

अवधू सहजै लैणा सहजै दैणा सहजै प्रीति रहा ल्योलाई।
सहजै सहजै चलैगा रे अवधू तौ बासण करैगा समाई॥
—गो० बा०, पृ० ७९

गीता के महावाक्य 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' का इन शब्दों में उपदेश भी गोरखनाथ ने दिया है।

सीसा नवावत सतगुरु मिलिया जागत रैण बिहाणी॥ गोरखबानी॥

सब मिलाकर नाथपंथियों में गुरु की योग्यता पर विधिवत् विचार किया गया है और उसे परमोदार ज्ञानस्वरूप माना गया है, दूसरी ओर शिष्य की योग्यता अर्थात् श्रद्धा पर विशेष बल दिया गया है।

परवर्ती संतों की लगभग पाँच सौ वर्ष की काव्यपरंपरा और साधना परंपरा में सतगुरु का अत्यत विशिष्ट महत्व स्वीकार किया गया है। कबीर के अनुसार गुरु उस उपास्य गोविंद की कृपा का फल है:—

जब गोविंद कृपा करि, तब गुरु मिलिया आइ॥ १३ पृ० २, क० ग्र०

कबीरदास लोक और बेद के साथ दिग्भ्रमित होकर जा रहे थे आगे से सतगुरु मिले और उन्होंने उनके हाथ में प्रकाश दीप पकड़ा दिया।

पीछे लागा जाइ था लोक बेद के साथि
आगे थैं सतगुरु मिल्या दीया दीपक हाथि॥ क० ग्रं० २।११

इसके पश्चात् कबीरदास सिद्धों के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं —

सतगुरु मारया बाण भरि, धरि करि सूधी मूठ।
अगि उघाड़ैं लागिया गई दवा सू फूटि॥वही २।८॥

गुरु का असीम महत्व है। बल्कि भाव और अलक्ष्य रूप में जो गोविंद है वही आकार रूप में गुरु है "गुरु गोविंद तौ एक है दूजा यहु आकार"। इतना ही नहीं हरि के रूठने से तो ठौर भी मिल जाएगा परतु गुरु के रुठने से ठौर भी नहीं मिलेगा इसलिये गुरु और कोई नहीं, वही है।

कबीर ते नर अंध हैं कहते गुरु को और।
हरि रूठे गुरु ठौर है गुरु रूठे नहिं ठौर॥४॥

क० ग्र० पृ० २

लेकिन सत समुदाय गुरु की योग्यता के विषय में भी सावधान है। गुर वह हो सकता है जो उन सगयों को चुन चुन कर खा जाय जो सारे

संसार को ग्रस्त किए हैं। गीता में भी कहा गया है 'संशयात्मा विनश्यति'। इसलिये संशयों से मुक्त होना गुरु के लिये आवश्यक है—

संसै खाया सकल जग, संसा किनहु न खद्ध।
जे बंधे गुरु अप्पिरां, तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध ॥२२॥

क० ग्रं०, पृ० ३

सिद्ध सरोरुहपाद के स्वर में स्वर मिलाकर कबीर कहते हैं कि जिसका गुरु भी अंधा और चेला भी पूर्ण अंधा वहाँ अंधा ही अंधे को ठेलता है और दोनों कुएँ में पड़ते हैं।

जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध।
अंधे अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पडंत ॥

क० ग्रं०, पृ० २

संत संप्रदाय में शिष्य को कम महत्व नहीं दिया गया है। कहा गया है कि पहले शिष्य दान करता है—तन, मन और शीश का। तब गुरु पीछे से दाता बनता है और नाम का बख्शीश देता है।

पहले दाता सिस भया, जिन तन मन अरपा सीस।
पीछे दाता गुरु भए, जिन नाम दिया बकसीस ॥

इनके यहाँ गुरु को कुंभ बनाने वाला कुम्हार कहा गया है।

गुर कुंभार सिष कुंभ है, गढ़ि गढ़ि काढ़े चोट।
अंतर हाथ सहार दै बाहर बाहै चोट ॥

संत बानी संग्रह, पृ० २

चित्तशोधन और योगसाधना

जैसा कि भूमिका भाग में उल्लेख हो चुका है योग साधना की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। उसके मूल ऋग्वेद और अधिकांश उपनिषदों में खोजे गए हैं। संपूर्ण भारतीय दर्शन में यही एक ऐसी सर्वसंमत अविसंवादी तत्वविद्या है जिसका प्रत्येक दर्शन ने आदर किया। बौद्ध धर्म के पाली त्रिपिटकों तथा संस्कृत ग्रंथों में योग प्रक्रिया का विशिष्ट वर्णन है। महावीर स्वयं योगी थे और जैन धर्म में योग का विवेचन पर्याप्त मात्रा में किया गया है। अंगों के अतिरिक्त उमास्वामी ने 'तत्वार्थसूत्र' में और हेमचंद्र ने 'योग शास्त्र' में स्वतंत्र रूप से योग का विचार किया है। तन्त्रों में योग का महत्वशाली स्थान प्रसिद्ध ही है। गोरखनाथ के नाथ

संप्रदाय में योग का इतना आदर है कि उसे योगी संप्रदाय ही कहा जाने लगा। यह अवश्य हुआ कि प्रस्थान भेद होने से योग साधना के विभिन्न संप्रदायों में होने वाले विवेचन में थोड़ा थोड़ा अंतर हो गया लेकिन उनके मूलतत्व प्राय: वही रहे जिनकी स्थापना महर्षि पतंजलि ने विक्रमपूर्व द्वितीय शतक में अपने 'योगसूत्र' में की थी।

हमारे आलोच्य चारो मतों में योगसाधना का प्रचुर साहित्य देशी भाषा में रचित मिलता है।

सहजयानी साधकों में योगसाधना का जो रूप मिलता है उसका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

सहजयानियों की साधना के अंतर्गत प्रज्ञा एवं उपाय को युगनद्ध में परिणत कर बोधिचित्त को उसकी सवृत अवस्था से विवृत दशा में ले जाना भी आवश्यक समझा जाता था और उसकी विवृत दशा ही पारमार्थिक सत्व की स्थिति समझी जाती थी। इसके लिये सहजयानी साधक बोधिचित को पहले निर्माण चक्र (मणिपूर चक्र में हठयोग के द्वारा उपलब्ध करता था और वहाँ से उसे फिर क्रमश. धर्म चक्र (अनाहत चक्र) व सभोगचक्र में (विशुद्ध चक्र) ले जाता हुआ उसे शीर्षस्थ उष्णीश, कमल अर्थात् सहजचक्र वज्रकाय तक पहुँचाकर पूर्णत शात एव निश्चल सहज रूप प्रदान कर देता है। क्योंकि बोधिचित्त उसके अनुसार जब तक निर्माण चक्र में रहेगा तब तक अतिम सुख सभव नहीं। बोधिचित्त का उक्त मार्ग इड़ा (वामनाड़ी) या पिंगला (दक्षिण नाड़ी) से न होकर मध्य अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी से जाता है जो इसी कारण मध्य मार्ग भी कहलाता है। इस योगसाधना द्वारा एक प्रकार की आभ्यतरिक शक्ति जाग्रत होती है जिसे योगिनी और चाडाली नाम दिया जाता है। इसे डोंबी या सहजसुंदरी भी कहा जाता है और जिसके कारण ही महासुख सभव हो पाता है।[1]

इस विवरण में स्पष्ट ही कतिपय नामों का अतर हो गया है। जिसे योगी कुडलिनी कहता है उसे सहजयानी प्रज्ञा कहता है। कुडलिनी और ब्रह्मरध्रस्थ शिव का मिलन योगी भी मानता है ठीक बौद्धों के प्रज्ञोपाय युगनद्ध दशा की तरह। हाँ, इनकी जिस आभ्यातरिक शक्ति डोंबी चाडाली

१—उत्तरी भारत की सत परपरा—प० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४६।

आदि का उल्लेख हुआ है वह अवश्य योगियों में व्यवहृत नहीं है न तो इनमें सहजयानी सिद्धों की इन सूक्ष्म प्रज्ञोपाय मिलन की कल्पनाओं से पैदा स्थूल ऐहिक भ्रष्टाचार। सभी सिद्धों ने सवल दुर्बल ढंग से इस बात को व्यक्त किया है।

सिद्ध सरोरुहपाद के कायातीर्थ के वर्णन के अनुसार इसी शरीर में सुर-सरि अर्थात् सुषुम्ना यमुना अर्थात् पिंगला और गंगासागर अर्थात् इड़ा है। इसी में प्रयाग अर्थात् वाराणसी भी है। इसीमें चंद्र अर्थात् आज्ञाचक्रस्थ चंद्रमा है जिससे अमृत स्राव हुआ करता है। इसीमें मूलाधार चक्रस्थ सूर्य है जो अमृत स्राव को सोख लेता है। इसी में क्षेत्र पीठ उपपीठ सभी हैं। देह के समान तीर्थ होना असंभव है। इसी शरीर में एक ऐसा वन है जिसमें पद्मिनीदलकमल वरनाल युक्त केशर मिलेंगे। ब्रह्मा विष्णु महेश यह तीनों भी इसी में रहते हैं।

अनिमिष लोचन और चित्त निरोध, पवन रोधन और श्री गुरु के बोध से योग साधन संभव है :—

अणिमिस लोअण चित्त णिरोहे पवन णिरूतइ सिरि गुरु बोहें।
पवण वहइ सो णिच्चलुजव्वे, जोई काल करइ फिरे तव्वे॥

पतंजलि के योगसूत्र में ही लिखा है 'चित्तवृत्ति निरोधः योगः'। काया, मन वचन आदि न भंग हो तो सहज स्वभाव की प्राप्ति दुष्कर है। उस परमेश्वर को किससे कहा जाय उसे तो केवल सुरत कुमारी ही जानती है। 'सुरत' शब्द पर ध्यान देना चाहिए।

काअ वाअ मणु जावण भिज्जइ, सहज सहावे तावण रज्जइ॥८३॥
सो परमेसरु कासु कहिज्जइ। सुरअ कुमारी जीभ पढ़िज्जइ॥९८॥

सरहपा ने वज्रयानियों की कमल एवं कुलिशवाली प्रचलित साधना को सुरत विलास का साधन मात्र ठहराया और उसे अंतिम ध्येय नहीं माना इनका कथन था कि कमल (स्त्रीन्द्रिय) तथा कुलिश (पुंसेंद्रिय) के संयोग द्वारा जो साधना की जाती है वह तो निरा सुरतविलास है और उसे संसार में कौन प्रयोग में नहीं लाता और उससे कौन अपनी वासना तृप्ति नहीं करता।

कमल कुलिस वैविमज्कठिउजोसो सुरअ विलास।
कोन रमई णह तिहुअणेहि कस्सण पूरइ आस ॥ ९४ ॥
दो० को०, पृ० ३६

हमें वास्तव में उसके द्वारा निर्मल परम महासुख के आनद का अंशमात्र क्षणानद के रूप में प्राप्त होता है वास्तविक रहस्य तो लक्ष्य और लक्षणों से रहित है।

कुलिस सरोरुह जोएँ जोइउ, णिम्मल परम महासुह वोहिउ।
खणें आणंद भेउ तहिं जाणह, लक्ख लक्खण हीण परिआणह ॥
—दो० को०, पृ० ४९

सहजयानी सिद्धों की धर्मसाधना वस्तुत प्रवृत्तिमूलक है, नाथों या संतों की तरह निवृत्तिमूलक नहीं। उनकी साधना इस प्रकार होनी चाहिए जिससे चित्तरत्न क्षुब्ध न हो।[1] क्योंकि सरोरुहपाद जैसे सुरतविलास का विरोध करने वाले सिद्ध भी निज भार्या के सहित घर में रहते हुए व्यक्ति को बधन से मुक्त होने में सक्षम मानते हैं। उनके अनुसार—

झाणहीण पव्वज्जें रहिअउ। घरहि वसंत भज्जें सहिअउ।
जइभिडि विसअ रमंत ण मुच्चइ। सरहमणइ परिआलकि मुच्चइ ॥ १९ ॥
—वही, पृ० १८

इन सहजयानी सिद्धों के अनुसार सभी साधनाओं का लक्ष्य चित्तशोधन है। चित्तशोधन के द्वारा सहज और शून्य स्थितियों की उपलब्धि होती है। सिद्धसरोरुहपाद के अनुसार चित्त ही सपूर्ण का बीज है, भव और निर्वाण भी उसी से विस्फुरित होते हैं। उसी चिंतामणि स्वरूप चित्त को प्रणाम करो क्योंकि वही इच्छाओं को पूर्ण करने वाला है। चित्त के बद्ध होने से जीव बद्ध होता है और मुक्त होने से मुक्त–इसमें कोई सदेह नहीं है। जिस चित्त से जड़ लोग बधनग्रस्त होते है उसी से प्रबुद्ध लोग मुक्त होते हैं।

चित्तेकेसअलीवंज भवणिव्वाणोवि जस्सविफुरति।
तचिंतामणिरूअ पणमह इच्छा फलदेंति ॥ ४१ ॥

१—तथातथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यतेमन.।
सक्षुब्धे चित्तरत्ने तु नैव सिद्धिः कदाचन।
—"प्रज्ञोपाय-विनिश्चय सिद्धिः (श्लो० ४० पृ० २४)

चित्ते वज्झे वज्झइ मुक्के मुक्कइ णत्थि संदेहा।
वज्झति जेण विजडा लहु परिमुच्चति तेणवि बुहा॥ ४२॥
—दो० को०, पृ० २४

इस चित्त शोधन के लिए चित्त को आच्छादित करने वाली अवांतर वस्तुओं और भावनाओं को हटाना पड़ता है। सिद्ध अनग वज्र ने इस बात को और भी स्पष्ट ढंग से व्यक्त किया है:—

अनल्प संकल्प तमोभिभूतम, प्रभंजनोन्मत्त तडिच्चलंच।
रागादि दुर्वार मलावलिप्तम् चितंहि संसारमुवाच वज्री॥
प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं प्रहीण रागादि मलप्रलेपं।
ग्राह्यं न च ग्राहकमग्रस्वत्वं ददंव निर्वाण वरं जगाद॥

चित्त अनेक संकल्पों के अंधकार से आच्छन्न रहता है और जब वह आँधी के समान उन्मत्त, बिजली के समान चंचल और दुर्वार रागादि मलों के द्वारा अवलिप्त रहता है तब उसी को वज्रयानी 'ससार' की संज्ञा देते हैं। पर वही जब प्रभास्वर होकर सभी कल्पनाओं से विमुक्त और रागादि मलप्रलेपों से रहित हो जाता है और जब उसके विषय में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का प्रश्न नहीं उठता तब उसी श्रेष्ठ वस्तु को निर्वाण की संज्ञा दी जाती है। सिद्धों में व्यवहृत शून्य या खसम या अमन की स्थिति यही स्थिति है। सरोरुहपाद ने कहा है।—

सव्वरूअ ताहि खसम करिज्जइ, खसम सहावे मणवि धरिज्जइ
सोविमणु तहि अमणु करिज्जइ, सहज सहावे सोयरु रज्जइ॥ ७७॥
—दो० को०, पृ० ३२

सिद्ध तेलोपा ने इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि चित्त जिस खसम का रूप धारण कर समसुख अवस्था में प्रविष्ट होता है उस समय ऐन्द्रिक विषयों का अनुभव ही नहीं होता। यह स्थिति आदि और अंत से रहित है और श्रेष्ठ गुरुपाद ने इसे ही अद्वय कहा है।

चित्त खसम जहि समसुह पइट्ठइ इन्दी अ विसअ तहि यत्तण दीसइ॥ ५॥
आइ रहिअ एहु अन्त रहिअ वरगुरुपाअ अदअ कहिअ॥ ६॥—
—तेलोपा दोहा कोष, पृष्ठ ३

इस निरंतर होनेवाली मनःशुद्धि की क्रिया को सिद्ध शांतिपाद ने रूई धुनने के रूपक के द्वारा स्पष्ट किया है। रूई को अंश अंश धुनकर निकालते चलो तबतक जबतक वह निःशेष न हो जाय।

तुला धुणि धुणि अंशूहि अंशू। अंशू धुणि धुणि णिरवर ससू ॥२६॥
—चर्यापद

मन की यह शून्य और निराच्छन्न स्थिति ही परमपद और निर्वाण की स्थिति है।

जैसा कि कहा जा चुका है इस अवस्था की प्राप्ति के लिए सिद्ध लोग यौगिक प्रक्रियाओं का भी आश्रय लेते हैं। सिद्ध काण्हपा ने शरीर के भीतर सहज और महासुख के उत्पत्ति स्थान को इड़ा और पिंगला के मिलन स्थान के निकट ही माना है और पवन की साधना के द्वारा उसे प्राप्य माना है।[1] उनके अनुसार बायीं नासिका की ललना नामक (प्रज्ञा स्वरूप) चंद्र नाड़ी एवं दाहिनी नासिका की रसना नामक (उपाय स्वरूप) सूर्यनाड़ी उस महासुख कमल के दो खंड हैं उसका पौधा गगन के जल में, जहाँ अमिताभ या परम आनदमयप्रकाश एक रूप में वर्तमान है, उत्पन्न होता है। उसका मुख्य नाल जवधूति अथवा मूलशक्ति होती है। इस महासुख कमल के मकरंद का पान योगी या साधक लोग शरीर के भीतर ही कर लेते हैं और उसका आनद सुरतवीर के आनद के समान होता है। वे अन्यत्र कहते हैं कि यदि पवन के निर्गमन द्वार पर दृढ़ ताला लग जाय, और तज्जनित घोर अंधकार में शुद्ध वा निश्चल, मन का दीपक जला दिया जाय और यदि वह जिन रत्न की ओर उच्च गगन से स्पर्श कर जाय, तो संसार का उपभोग करते समय भी हमें निर्वाण की सिद्धि प्राप्त हो जाय।

पवन एवं मन को जहाँ एक साथ निश्चल किया जाता है उस स्थान की कल्पना सिद्धों ने ऊर्ध्वमेरु अथवा मेरुदण्ड की है। यह स्थान सुषुम्ना नाड़ी के शीर्ष पर है। काण्हपा के अनुसार वह पर्वत के समान समविषम है और उसकी कंदरा में सम्पूर्ण जगत नष्ट होकर शून्य में विलीन हो जाता है। (काण्हपा दोहाकोष दोहा २२, पृ० ४४) उसी उच्च पर्वत के शिखर को सिद्धों ने महामुद्रा व मूलशक्ति नैरात्मा का निवास स्थान भी बतलाया है।

१—काण्हपा, दोहाकोष दो० ४–५–६, पृ० ४१।

सिद्ध शबरपा का कहना है कि उस ऊँचे शिखर पर अनेक बड़े बड़े वृक्ष पुष्पित है और उनकी शाखाएँ गगन का चुम्बन करती हुई प्रतीत होती हैं। वहाँ पर अकेली शबरी (नैरात्मा) वन का एकांत विहार करती है। वहीं त्रिधातु की बनी सुन्दर सेज भी बिछी हुई है और साधक वहाँ पहुँचकर उक्त दारिका के साथ प्रेमपूर्वक विलास किया करता है। (चर्यापद, २८।१३३)

तात्पर्य यह कि सिद्धों की योगसाधना, मूलपद्धति और प्रक्रिया की दृष्टि से वही है जो नाथों की लेकिन उसमें अनेक नाम भेद आ गए हैं। इन्हीं नाम भेदों में महामुद्रा डोंबी, चांडाली आदि की नाम-कल्पनाएँ है। इन्हीं नाम कल्पनाओं में उस समूचे वामाचार की परंपरा भी प्रविष्ट हुई है। और इन्हीं वामाचार परंपराओं के द्वारा अनधिकारी सिद्धों में अनेक प्रकार के दूषण भी फैले।

जैनियों में एक स्वर से सर्वत्र आत्मा और आत्मचिंतन को महत्व दिया गया है। 'योगसार' में मुनि जोइन्दु ने आत्मा के तीन प्रकार बतलाये हैं— १—परमात्मा २—अन्तरात्मा ३—बहिरात्मा। उनका कथन है कि हे जीव अन्तरात्मा सहित होकर परमात्मा का ध्यान कर और भ्रांतिरहित होकर बहिरात्मा को त्याग।

ति पयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु।
पर झायहि अंतर सहिउ बाहिरु चयहि णिभंतु ॥ ६ ॥ पृ० २७२

उनके अनुसार बहिरात्मा परमात्मा और अन्तरात्मा के मार्ग में बाधक है। यह बहिरात्मा और कुछ नहीं शरीर और संसार जनित नाना प्रकार के विकारों की समष्टि है। मुनिराम सिंह के अनुसार यह आवश्यक है कि इस जीवन में ही मन मर जाय, पंचेंन्द्रियाँ शमित हो जांय, निर्वाण-पथ और मुक्ति तभी प्राप्त हो सकेगी।

जसु जीवंतह मणु मुवउ पंचेन्दियहिं समाणु।
सो जाणिज्जइ मोक्कलउ लद्धउ पहु णिव्वाणु ॥१२३॥ पाहुडदोहा

मुनिरामसिंह के अनुसार चित का मुंडन ही ससार का खंडन है।

चित्तहं मुडसा जिं कियउ। संसारह खडणुतिं कियउ ॥१३५॥ पा० दो०

मुनिराम सिंह ने शिव और शक्ति इन दोनों तत्वों के अन्योन्याश्रित संबंध के परिज्ञान को साधक के लिए आवश्यक बताया है।

डाला। मृगों को वश में करने के लिए उसके पास न तो कोई सुर है और न हाँक के लिए कोई नाद या घटा आदि का शब्द ही। फिर भी भील ने वाण ताना और इच्छा करते ही (मन ही से) मृग को प्रामाणिक रूप से बेध दिया। वाण ने मृग को बेध दिया। वह मारा गया। जो शर उसने ताना था, वह भी वाण नहीं था अर्थात् विना धनुष के धनुष से, बिना वाण के वाण से, व्याध ने मृग (मन) को मार दिया। (गो० बा० पृ० ११८–१२०) इसी प्रकार इन्होंने अजपा जाप द्वारा चचल मन को स्थिर कर ब्रह्मरध्र में महारस या योगामृत उपलब्ध करने की विधि को भी सुनारी का रूपक दिया है और बतलाया है कि इस प्रकार अपनी श्वासक्रिया की धौंकनी के सहारे ही रस जमा कर उक्त कार्य सपन्न किया जा सकता है (पृ० ९१–९२ पद ६)।

मन की मायापरक वृत्तियों के दमन को प्राय इन्हीं रूपकों के माध्यम से बौद्ध सिद्धों और जैन मुनियों दोनों ने व्यक्त किया है। लेकिन अजपा जाप, अत्यत निग्रह पूर्ण निवृत्तिमूलक योग-साधना, साधनागत कठोरता (विरक्ति का मार्ग हमारा, यहु पथ खरा उदासा। गो० बा० १२५।४४) इत्यादि पर जो बल नाथ सप्रदाय वालों ने दिया वह सिद्धों ने नहीं। जैनियों में तत्वचिंतन का आधिक्य होते हुए भी योगसाधना प्रक्रियाओं का अपभ्रंश भाषा में लिखित उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि जोइंदु की 'योगसार' जैसी रचनाओं से उनका इधर भी आकर्षण स्पष्ट होता है।

गोरखनाथ ने एक स्थल पर लिखा है कि इस प्रकार मन लगाकर जाप जपो कि सोह सोह का उपयोग वाणी के विना भी होने लगे। दृढ़ आसन पर बैठकर ध्यान करो और रातदिन ब्रह्मज्ञान का चिंतन किया करो। यह ब्रह्म ज्ञान आत्मविचार है जिसे उक्त साधना के अनुसार निरंतर चलना चाहिये।

> ऐसा जाप जपौ मन लाई सोह सोहं अजपा गाई ॥ टेक ॥
> आसण दिढ़ करि धरौ धियान, अह निसि सुमिरौ ब्रह्मगियान ॥

इनके सपूर्ण उपदेशों का साराश रूप इस पद में मिल जाता है। दशम द्वार अथवा ब्रह्मरध्र में सदा ध्यान केंद्रित रखो, निराकार पद का सेवन करो, अजपा जाप जपो और आत्मतत्व पर विचार करो। इससे सभी प्रकार की व्याधियाँ दूर हो जायँगी तथा पुण्य पाप से भी सपर्क छूट जायगा।

ऐसा रे उपदेश दापै श्री गोरख राया,
जिन जग चतुर वरन जग लाया ॥ टेक ॥

पढ़ि लै ससवेद । करिले विधि नपेध ।
जाणिले भेदांनभेद । पूरिले आसा उमेद ॥
विषमी संधि मझारी । समया पंचौ वपत सारि ।
रहिवा दसवें दुवारि । सेइवा पद निराकार ।
जपिले अजपा जाप । विचारिलै आपै आप ॥ ४३३ ॥

गो० वा० पृ० १२०

निर्गुण पंथियों ने नाथपंथियों द्वारा पालित योगसाधना प्रणाली को पूर्णतः अपनाया । यह अवश्य था कि कबीर के तत्वदर्शन में वैष्णव साधना पद्धति से भक्ति तत्व के मिल जाने से, सूफियों के प्रेम की पीर से रहस्य तत्व के मिल जाने से और स्वयं कबीर जेसे महान विलक्षण तेजस्वी संत को वैयक्तिक तत्वों के सम्मिश्रण से कबीर मत की संपूर्ण साधना में योग तत्व का रूप कुछ दूसरा हो गया, लेकिन फिर भी नाथपंथ का बहुत बडा ऋण कबीर दास के ऊपर था । संत संप्रदाय में व्यवहृत सबद, सुसवेद (स्वसंवेद्य) सुरति निरति, सार (सारं) टकसार (टकसाल), उनमुनि रहनी, जरना, जमापद निगुरा, अनाहद (अनाहद नाद), अनाहत तूर, हंसा, ताली (तारी) अनभै, भँवर गुफा, झांई, इंगला, पिंगला, बंकनाल, नाद, बिंद, सुनि, परचा आदि अनेक आधारभूत शब्द ज्यों के त्यों नाथपथ से लिए गए हैं ।

कबीरदास ने भी चित्तशुद्धि मनोमारण इत्यादि पर पर्याप्त बल दिया । सिद्धों से मनको मारने की जो प्रणाली चली आ रही थी उसे कबीरदास ने भी अपनाया है ।

प्रक्रिया संबंधी कुछ संत संप्रदाय की रचनाओं को हम यहाँ उद्धृत करेंगे ।

उलटि पवन कहं राखिए कोई मरम विचारे ।
सावे तीर पताल को फिर गगनहिं मारे ॥५४॥ क० ग्रं०, पृ० १३८

अर्थात् लौटने पर प्राणवायु को कहाँ सचित किया जाय इसके रहस्य पर कुछ ही लोगों ने विचार किया होगा । तीर को सर्वप्रथम पाताल की ओर लक्ष करो और तव उसे आकाश की ओर छोड़ो । तीर यहाँ प्रसंगानुसार प्राणवायु ही हो सकता है इसमें संदेह नहीं ।

प्रकट प्रकास ज्ञान गुर गमि थैं ब्रह्म अगिन परजारी।
ससिहर सूर दूर दूरतर, लागी जोग जुग तारी॥
उलटि पवन चक्र षटबेधा, मेरे डंड रस पूरा।
गगन गरजि मन सुन्न समाना, बाजौ अनहद तूरा॥ वही पृ० ९०

अर्थात् गुरु के संकेतों का अनुसरण करने पर मुझे प्रकाश के दर्शन हुए और उसने ब्रह्माग्नि प्रज्वलित कर दी। चंद्र व सूर्य आपस में दूर रहते हुए भी योग में मिल गए। श्वास के उलटने से षटचक्र का भेदन हो गया और मेरुदण्ड और सुषुम्ना अमृत रस से भर गई। मन समाधि में लीन हो गया। गगन गरज रहा है अनाहत भी बज रहा है।

अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंकनालि रस पीजै॥
मूल बाँधि सर गगन समाणा, सुखमन पोतन लागी।
काम क्रोध का भया पलीता तहं जोगणि जागी॥ वही पृ० ११०

अर्थात् हे अवधू अपना निवास गगन मंडल में कीजिए। अमृतरस चू रहा है और शाश्वत आनद उत्पन्न कर रहा है, बंकनाल (सुषुम्ना) उस अमृत रस से भरा जा रहा है। मूल के केंद्र को संकुचित करके तीर सुषुम्ना से होकर गगन अथवा त्रिकुटी तक पहुँच गया। काम एव क्रोध का प्रभाव जाता रहा जब योगिनी (कुडलिनी) जाग गई।

मनवा जाय दरीबे बैठा मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय ससा नहीं, सबद अनाहद बागा॥

वही, पृ० ११०

अर्थात् मन दसों द्वारों को पार कर अमृत रस द्वारा सिक्त होकर बैठ गया। अब मुझे कुछ भी सदेह नहीं रह गया क्योंकि अनाहत नाद बज चुका।

अनुश्रुतियों के अनुसार कबीर साधना शक्ति में गोरख से बड़े थे। लौकिक कथात्मक गीतों में कबीर की चामत्कारिक शक्तियों का वर्णन मिलता है जिनसे प्रायः गोरख को पराजित बताया गया है। लेकिन अन्यत्र उन रचनाओं में जिन्हें अपेक्षया प्रामाणिक स्वीकार किया गया है कबीर का नाम अत्यंत आदर से लिया है गया। इतना ही नहीं वे इस परपरा के अनेक लोगों, गोपीचद, भर्तृहरि आदि का अत्यत श्रद्धा से नाम स्मरण करते हैं। यह भी

निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि गोरख कबीर से कम से कम दो तीन शताब्दी पूर्ववर्ती थे। ऐसी स्थिति में संघर्ष की बात निश्चय ही परवर्ती श्रद्धालु कबीर के भक्तों की कृपा होगी और निश्चित रूप से संतमत में नाथ संप्रदाय का बड़ा भारी योग है।

सहजयानी सिद्धों का नाम ही इसलिए सहजयानी पड़ा कि ये सहज शून्य की प्राप्ति करना चाहते थे। वस्तुतः सहज शब्द एक दृष्टिकोण विशेष को व्यक्त करता है। सहज मार्ग और गंतव्य दोनों है। इस प्रकार 'सहज' का अर्थ हुआ धर्म साधना के सरलतम मार्ग की उपलब्धि। सहज मार्ग का अर्थ है निराडंबर सरल और स्वाभाविक जीवन पद्धति तथा गंतव्य रूप सहज का अर्थ है निर्विकार और परम महासुखावस्था-प्राप्त शून्य स्थिति। इस प्रकार 'सहज' सिद्धों में पद्धति और उद्देश्य दोनों रूपों में गृहीत है। दार्शनिक भाषा में इसे ही सहज की साधनावस्था और साध्यावस्था भी कहेंगे।

सहज तत्व

सहज की साधनावस्था और साध्यावस्था की कल्पना के अनुसार आचरण ने साधक को एक अपूर्व जीवन प्रदान किया जो चतुष्कोटि (भाव विनिर्मुक्ति, अभाव-विनिर्मुक्ति, भावाभावविनिर्मुक्ति और न भावाभाव विनिर्मुक्ति) विनिर्मुक्ति से साधक को युक्त कर देती है।

सरहे णित्ते कड्ढिड राव। सहज सहाव ण भावाभाव ॥ २० ॥

—दो० को०

सिद्ध काण्हपा कहते हैं कि यही गिरिवर है यही महासुख का स्थान है। यदि सहज क्षणों की एक रात्रि प्राप्त हो जाय तो सीधे महासुख प्राप्त करोगे।

एहु सो गिरिवर कहिअ मइ, एहु सो महसुह ठाव।
एक्कु रअणी सहज खण, लब्भइ महसुह जाव ॥ २६ ॥

दो० को०

परवर्ती महायानी एवं तांत्रिक साधना में निशापूजा का विशेष महत्त्व रहा है। निशापूजा का मुख्य प्रयोजन अर्धरात्रि के उस संधिक्षण को पकड़ना है जो सहज और परम महासुख है और जिसका अभिधान क्षण है।

इष्ट के अर्थ में सहज की शक्ति अपरिमित मानी गई है। सिद्ध भुसुकपाद कहते हैं कि सहज एक विशाल वृक्ष है जिससे त्रैलोक्य निष्पन्न होता है। सहज महातरु फरिअइ तिलोए (चर्यापद, ४३)। यह सहज तत्व सहज इसलिये है कि उसमें विकल्पों की तरग नहीं है। विकल्पजन्य कालुष्य (पाप पुण्य) का द्वद्व नहीं है। विशुद्ध समता का योग है। जिसने शून्य और अशून्य दोनों को दृष्टिगत कर लिया है वह तत्व के प्रति न शून्य दृष्टि रखता है न अशून्य दृष्टि प्रत्युत वह उन दोनों के मध्य में अपना स्थान बनाता है। यही सहज स्थान है।

णितरग सम सहज रुअ सअल कलुष बिरहिए।
वहिणिक्कालिआ सुण्णासुण्णा पइट्ठु।
सुण्णा सुण्ण वेणि मज्झे रे बढ़, किम्पि ण दिट्ठ॥

काण्हपा के ही अनुसार जिसने सहज में निज मन राग को निश्चल कर लिया वह तत्क्षण जरा मरण से मुक्त होकर सिद्ध बन जाता है।

सहजे णिच्चल जेणकिअ, समरसें णिअ मण राअ।
सिद्धो सो पुण तक्खणे, णउ जरा मरणह भाअ॥ १९॥

—दोहाकोष

रहस्यवादी रूपक की भाषा में उन्मत और पागल शवर (सबरपाद) गुलगपाड़ा करने का निषेध करते हैं क्योंकि सहज सुन्दरी उनकी घरनी का नाम हो गया है।

उन्मत शवरो पाअल शवरो मा कर गुली गहाड़ा।
तोहारि णिय घरणी नामें सहज सुन्दरी॥ २८॥

—चर्यापद

इसी सहज के अनुसार सिद्धों ने अपना जीवनाचार भी निश्चित किया असल में सिद्धों में जो महामुद्रा की साधना सिद्धात से व्यवहार में आकर पारिवारिक जीवन में वदल गई और कहीं कहीं सयमित रूप में स्वीकृति भी पा गई उसके पीछे एक ही तथ्य है वह यह कि मानव जीवन में काम की जो एक अनिवार्य और अक्सर अपरिहार्य क्षुधा होती है उसका निषेध किसी भी लोकप्रिय व्यापक धर्म का सिद्धात नहीं वन सकता।

दार्शनिक दृष्टि से वौद्ध महायानी ससार और निर्वाण को एक ही मानता है।, इस प्रकार सयमित भोग और व्यापक करुणा उसके निर्वाण

के नियामक तत्व हैं। इन भावों को विविध ढंग से सिद्धों ने व्यक्त किया है।

सिद्ध सरोरुह ने कहा है कि ध्यानहीन और अप्रव्रजित घर में भार्या के साथ रहता हुआ, विषयरत होकर भी अपने मानसिक बंधनों को न काट सका तो कौन नष्ट करेगा।

झाणहीण पव्वज्जे रहि अउ। घरहिं वसंते भज्जे साहिअउ।
जइ भिडि विषअ रमन्त ण मुच्चइ। सरह भणइ परिआण कि मुच्चइ॥
—दोहाकोष, दोहा १९

सिद्ध काण्हपा कहते हैं मंत्र तंत्र मत करो। निज गृहिणी को लेकर केलि करो। हे तरुणि तुम्हारे निरंतर स्नेह के बिना बोधिचित्त की प्राप्ति करना कठिन है। जिसने अपने मन रत्न को अपनी गृहिणी के योग से निश्चल कर लिया वही वज्रनाथ बनने का अधिकारी है।

एक्कु ण किज्जइ मंत ण तंत। णिअ घरणी लइ केलि करन्त॥ २८॥

× × ×

तो विणु तरुणि णिरंतर णेहें। बोहि कि लब्भइ एण बि देहें॥ २९॥
जे किअ णिच्चल मण रअण, णिअ घरणी लइ एत्थ।
सोह वाजिरा णाहु रे मयिं वुत्तो परमत्थ॥ ३१॥ दो० को०॥

इन सिद्धों का साधनामार्ग अपने प्रकृत रूप में अत्यंत उदारवादी और सरल था। सरह कहते हैं कि हमारी साधना का मार्ग अत्यंत ऋजु है, वक्र पथ मत पकड़ो, बोधिचित्त अत्यंत निकट है उनके लिये लंका मत जाओ। तुम्हारे हाथ में कंकण है उसी में आत्मबिंब देखो दर्पण लेने की क्या आवश्यकता है, अपने आपको निज मन में ही समझो।

उजुरे उजु छड़ि मा लेहु बंक, निअड़ि बोहि मा जाहु रे लंक॥
हाथेर कंकण मा लेहु दप्पण। अपणे आपा बूझतु निअ मण॥ ३२॥
—चर्यापद

जैन मत में बाह्याडंबर को मिथ्या तथा आत्मपरिज्ञान की आवश्यकता बताकर एक प्रकार के सहज जीवन का संकेत हो गया है।

अब देखना यह है कि जिस सहज समाधि का कबीर ने इतना गुणगान किया है क्या उसका कोई संकेत नाथ संप्रदाय में भी मिलता है? यह प्रश्न इसलिये भी स्वाभाविक है कि संतों में जो कुछ परंपराप्राप्त है वह नाथपंथियों

के माध्यम से ही आया है। इस विषय में बहुत कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनका सीधा परिचय बौद्धों के दोहाकोषों और चर्यापदों से नहीं रहा होगा।

यदि हम ध्यानपूर्वक गोरखनाथ की साखियों का अध्ययन करें तो हमें उस सहज सरल साधनपथ का निर्देश उनमें भी मिल जायेगा। यह अवश्य है कि न तो इन्होंने सहज को परमपद का स्थान दिया है न तो सहजयानियों की ऋजुता को अपने यहाँ प्रश्रय दिया है अपितु सहज को साधनापद्धति की विशेपता के रूप में लिया और कठोर कायसाधना पर बल दिया है। एक और विशेषता जो गोरखनाथ की योगसाधना में मिलती है वह है उनका निरंतर ब्रह्मविचार में तन्मय होने का उपदेश।

गोरखनाथ ने कहा है सब व्यवहार 'युक्त' होने चाहिए। अचानक फट से बोल नहीं उठना चाहिए। पाँव पटकते हुए नहीं चलना चाहिए। धीरे धीरे पाँव रखना चाहिए। गर्व नहीं करना चाहिए। सहज स्वाभाविक स्थिति में रहना चाहिए।

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पावं।
गरब न करिबा, सहजैं रहिबा, भणत गोरख रावं ॥२७॥ गो०बा० ११

इसका अर्थ यह नहीं है कि हँसना नहीं चाहिए, खेलना नहीं चाहिए, मस्त नहीं रहना चाहिए। जीवन के सहज और शुभ व्यापार निषिद्ध नहीं हैं, निषिद्ध है काम और क्रोध का अनुसरण। हँसो, खेलो, गीत छेड़ो लेकिन अपने चित्त की दृढ़ता को स्खलित मत होने दो।

हसिबा पेलिबा रहिबा रंग। काम क्रोध न करिबा संग॥
हसिबा पेलिबा गाइबा गीत। दिढ़ करि राखिबा आपना चीत॥

नाथ सम्प्रदाय के महान गुरु गोरखनाथ में जो मस्ती है वह सम्पूर्ण मध्यकालीन धर्माश्रित साहित्यसाधना में केवल कबीर में ही मिलती है और अन्य किसी में नहीं। गोरखनाथ कहते हैं हे अवधूत ! मन चंगा (स्वस्थ) रहे तो कठौती में (शरीर, आसपास, सर्वत्र) ही गंगा (अभिप्रेत ब्रह्म) है। बाह्य सृष्टि के आकर्षणों से निर्लिप्त हो जाओ तो सम्पूर्ण जगत् शिष्य हो जाएगा।

अवधू मन चंगा तौ कठौती में ही गंगा। बाध्या मेल्हा तौ जगत्र चेला॥
—१५३, गो० बा०, पृ० ५३

गोरखनाथ ने एक तरह से मध्यममार्ग का ही उपदेश किया है। वे कहते हैं कि अधिक खाने से भी मृत्युभय है और न खाने से भी। इसलिये संयम ही वह साधन है जिससे जीव का निस्तार हो सकता है। मध्य में निरंतर अपनी स्थिति बनाए रखो। मन निश्चल और श्वास स्थिर रहे।

पायें भी मरिये अणपायें भी मरिये, गोरख कहै पूता संजमि ही तरिये।
मधि निरंतर कीजै बास, निहचल मनुवा थिर होइ सास॥
—१४६, गो० बा०, पृ० ५१

स्वसंवेध ज्ञान का इनके यहाँ भी पर्याप्त माहात्म्य है। वही मुख्य ज्ञान स्रोत है। इंद्रिय निग्रह और संयम का ये पदे पदे उपदेश देते हैं।

ऐसा नहीं कि नाथसंप्रदाय में गृहस्थ का आदर न हो, उसका भी आदर है। गृहस्थ का रूपक गोरखनाथ को बहुत पसंद आया है। वे कहते हैं—

घरवारी सो घर की जाणैं। बाहरि जाता भीतरि आणैं॥
सरब निरंतरि काटैं माया। सो घरबारी कहिए निरंजन की काया॥
—४४, गो० बा०, पृ० १६

गिरही सो जो गिरहै काया। अभि अंतरि की त्यागे माया॥
सहज सील का धरै सरीर। सो गिरही गंगा का नीर॥४५॥
—४५, गो० बा०, पृ० १७

अधिकांश संत अशिक्षित थे। स्वयं इन संतों के आरंभिक नेता कबीरदास अशिक्षित और अपढ़ थे। लेकिन हम जानते हैं कि इन संतों में से अधिकांश ने जिस प्रकार की आध्यात्मिक उपलब्धियाँ प्राप्त कीं वैसी अनेक गंभीर पांडित्य वाले विद्वान नहीं पा सके। इस विरोध का कारण क्या है? जो पंडित है, दार्शनिक है, वह वास्तविक तत्वज्ञान का अनुभव न कर सके और जो अशिक्षित है, गवार है, वह उस ब्रह्म में मग्न हो जाय। वस्तुतः इसके पीछे संतों के सहज-दर्शन की दृष्टि है। आज भी पाश्चात्य दार्शनिकों में बर्गसां इत्यादि ने आनुभूतिक ज्ञान (Intutive Knowledge) की बड़ी महिमा गाई है। यह आनुभूतिक ज्ञान ही संतों का सहज ज्ञान है। यह सहज ज्ञान सीधे हृदय से संबद्ध है, अनुभूति ही इसके तत्वान्वेषण का साधन है। यह आंतरिक प्रेरणा और अनुभूति, साधक को बराबर उत्कर्षशील रखती है और वह ब्रह्मानुभूति के मार्ग में स्तर स्तर ऊपर उठता जाता है।

उसे कभी स्खलित होने का डर नहीं होता। इस साधना-पथ में उसे उसके प्रिय ब्रह्म का भी स्पष्ट आकर्षण खींचता रहता है। इस जबर्दस्त आकर्षण से हटकर वह पथ-विच्युत हो जाय यह सभव नहीं।

कबीरदास तो ज्ञान (आनुभूतिक) की हाथी पर राजकुमार की तरह बैठकर निकले थे स्कध पर 'सहज' का दुलीचा था, श्वान के सदृश संसार नीचे से भूकता और झख मारता रह गया कबीरदास अप्रभावित, गौरवान्वित चलते गए।

हस्ती चढ़िया ज्ञान का सहज दुलीचा डारि।
स्वान रूप ससार है पड्या भुसै झख मारि॥

—क० ग्रं०, पृ० ५९

दादू दयाल तो सहज के सरोवर में जो प्रेम की तरगों से तरगापित थ— अपनी आत्मा और स्वामी के सग झूला झूल चुके थे। उन्हें क्या?

दादू सरवर सहज का तामें प्रेम तरंग।
तह मन झूले आत्मा अपने साईं सग॥

बानी ज्ञानसागर, पृ० ४२

दादू के ही शब्दों में सहज वस्तुतः बिना आँखों के, बिना अंग वाले ब्रह्म को देखना, उससे बिना जिह्वा के बातें करना, बिना कान के उसकी बातें सुनना और बिना चित्त के उसका चिंतन करना है।

नैन बिन देखिबा अंग बिन पेखिबा
रसन बिन बोलिबा ब्रह्म सेती
स्रवन बिन सुणिबा चरण बिन चलिबा
चित्त बिन चित्यबा सहज एती।

—बानी, भाग १, पृ० ६६

कबीर को 'सहज' शब्द परपराप्राप्त था—यह इगित किया जा चुका है। बौद्ध सिद्धों में व्यवहृत होने वाला सहज शून्य नैरात्म्य, कैवल्य, महासुख, के अर्थ में प्रयुक्त होता था, योगियों के यहाँ सहज शब्द साधना-पद्धति और साधना के एक स्तर-विशेष, जिसमें योगी आत्माराम हो जाता है—के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। सिद्धों और नाथों के 'सहजावस्था' शब्द में केवल यह

अंतर है कि जब योगी इस अवस्था में आत्मरमण करने लगता है तो सहजयानी आत्म स्थिति को भी भूल जाता है[१]। संतों में 'सहज' एक ऐसा पथमित्र बन गया जो बराबर पथ निर्देश भी करता है। वह साध्य से अधिक साधन हो गया।

कबीर दास के समय 'सहज' 'सहज' का शोर अनेक धर्म-संप्रदायों से उठता रहा होगा। उन्होंने बताया सहज सहज तो सब लोग कहते हैं पर सहज की वास्तविकता को कोई पहचान नहीं पाता। जिन्हें सहज ही पंचेन्द्रियों के अर्थों से मुक्ति प्राप्त हो जाय और सहज ही हरि मिल जायँ वही सहज का मर्मी कहा जा सकता है।

सहज सहज सब कोई कहै सहज न चीन्है कोइ।
पांचौ राखै परसती सहज कहीजै सोइ॥

× × ×

जिन सहजै बिसिया तजी, सहज कहीजै सोइ॥

× × ×

जिन सहजैं हरि जी मिलैं सहज कहीजै सोइ॥
क० ग्रं०, पृ० ४१-४२

इस प्रकार कबीरदास के मत से सहज एक ऐसा आत्मानुभूतिमूलक विस्तृत वातावरण है जिसमें कबीर का साधनारंभ, साधना-मार्ग, साध्य सब अवस्थित हैं। यह वातावरण चूंकि अनुभूतियों के ताने बाने से उत्सृष्ट होता है इसलिये वह जानदार है उत्प्रेरक है और जीवंत साथी है। कबीर-दास के निम्नलिखित पद से इस निर्णय की पुष्टि होती है।

साधो सहज समाधि भली।
गुरुप्रताप जा दिन तैं उपजी दिन दिन अधिक चली।
जहँ जहँ डोलों सोइ परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवों तब करों दण्डवत पूजों और न देवा।

१—कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७२।

कहो सो नाम, सुनो सो सुमिरन, खाँव पियो सो पूजा
गिरह उजाड़ एक सम लेखों भाव न राखों दूजा।
आँख न मूदों, कान न रूधों तनिक कष्ट नहिं धारों।
खुले नैन पहिचानों हसि हसि सुदर रूप निहारों।
सबद निरतर से मन लागा मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटे ऐसी तारी लागी।
कह कबीर यह उनमुनि रहनी सो परगट करि भाई।
दुख सुख कोई परे परम पद तेहि पद रहा समाई ॥। शब्दावली।

इस सहजमार्ग से प्रेरित होकर अपने भौतिक जीवन में ये सत मध्यम-मार्गी रहे। इनमें से अधिकाश गृहस्थ थे और गृहस्थी में ही इन्होंने अपनी धर्म साधना की। न तो ये वन में जाने के पक्ष में थे न तो आसक्त गृहस्थ धर्म में। दादू ने कहा है कि.--

ना हम छाड़ैं ना ग्रहैं, ऐसा ज्ञान विचार।
मद्धि भाव सेवैं सदा, दादू मुकति दुवार ॥ वानी, भाग १, पृ० १७०।

जो इस ससार से भाग जाता है वह कायर है। चरनदास के अनुसार साधक को ससार में उसी प्रकार निर्लिप्त भाव से रहना चाहिए जिस प्रकार जल से निर्लिप्त होकर जल में कमल रहता है।

जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों अबुज सर माहिं
रहै नीर के आसरै, पै जल छूवत नाहिं ॥
[स बा० स०, भाग १, पृ० १४८।

इस प्रकार इनकी साधना के लिये परिवार को छोड़ने की आवश्यकता नहीं। गुरु नानक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

सतगुरु की असी •वड़ाई, पुत्र कलत्र विचे गति पाई।
—ग्रथसाहब, पृ० ३७५

इस प्रकार इनकी साधना अनासक्ति की दृढ़ आधारशिला पर प्रतिष्ठित है। जो असक्ति के उपादानों से दूर रहकर अनासक्त होने का दावा करता है वैसी इनकी अनासक्ति नहीं है बल्कि ये आसक्तियों के बीच ही रहकर अनासक्त रहने वाले कठिन सहजव्रती साधक थे। कबीरदास इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

गावण ही में रोवणा, रोवण ही में राग।
एक बैरागी ग्रह में, इक ग्रही में बैराग ॥ क० ग्रं०, पृ० ५९।

परंतु निर्गुण संतों में परिवारी बनकर रहते हुए भी उपभोग का आदेश नहीं है। पुत्र कलत्र के साथ रहे पर आसक्तियों से क्रमशः छुटकारा पाता रहे और मन को राम के पास निवेदित करता रहे। दादू ने इसी भाव को इस तरह व्यक्त किया है:—

देह रहै संसार में जीवन राम के पास।
दादू कुछ व्यापै नहीं काल झाल दुख त्रास ॥
—सं० बा० सं०, भा० १, पृ० ९२

साधक और समाज

यों तो धर्मसाधनाएँ व्यक्तिगत मुक्ति का ही लक्ष्य सामने रखकर आगे बढ़ती हैं फिर भी भारतीय इतिहास की मध्ययुगीन धर्मसाधनाओं की सबसे बड़ी विशेषता उनके लोकोन्मुख होने में है। संख्या में अगणित ये धर्मसंप्रदाय लोक विश्वास और लोकप्रियता को ही अपनी कसौटी मानते थे। इन धर्मसप्रदायों की शक्ति इनके अनुयायियों की शक्ति में थी। लोकविश्वास को प्राप्त करने के लिये ये साधक जिनमें अधिकांश वेदबाह्य सप्रदाय ही थे इस धर्मप्राण देश की जनता के सामने विचित्र विचित्र चामत्कारिक दृश्य रखते थे। उस काल की धर्मसाधनाओं की इस अनिर्दिष्ट भूमिका में भी तेरहवीं से सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दियों के बीच फैलने वाले लोकधर्म की स्पष्ट रूपरेखा मिलने लगती है।

करुणा मूल वृत्ति

सातवीं से बारहवीं शताब्दियों के बीच फैलनेवाले बौद्ध महायान धर्म की सहजयानी शाखा के सिद्ध समूचे पूर्वोत्तर प्रदेश की जनता से एक प्रभावशाली संपर्क बनाए हुए थे। यह अवश्य था कि इस सपर्क के पीछे जनता की कौतूहल मूलक वृत्तियाँ अधिक कारणभूत थीं उनकी वास्तविक श्रद्धा की वृत्तियाँ कम लेकिन फिर भी अपने शुद्ध अविकृत रूप में इन सहजयानियों का तत्वदर्शन समाजविरोधी नहीं था। सपूर्ण जगत् में दुःख का साक्षात् करके उसपर करुणा कादंबिनी की अजस्र वर्षा करने वाले भगवान बुद्ध का प्रभाव इस सहजयानी शाखा के मूल में अब भी था। सातवीं शताब्दी के सिद्ध

सरोरुहपाद ने वारबार अपनत्व के परित्याग की माग की है। वे कहते हैं जिसने परोपकार नहीं किया, जिसने विपत्तिग्रस्त आर्त व्यक्ति की आवश्यकता को नहीं पूरा किया उसने इस ससार में कौन फल प्राप्त किया। हे दिग्भ्रमित प्राणियों 'स्व' का विसर्जन करो।

पर उआर ण कीअऊ, अत्थि ण दीअऊ दाण
एहुँ ससारे कवणु फलु, वरु छड्डहु अप्पाण ॥ ११२ ॥
—दो० को०

जैसा कि आरभ में ही कहा जा चुका है आलोच्य मतों की मूल वृत्ति 'करुणा' थी। बौद्ध महायान धर्म की तो आधारशिला ही 'करुणा' थी। ऐसे सिद्धों के लिये प्रत्येक प्राणी का कष्ट उनका अपना कष्ट बन जाय यह सहज है। सिद्ध सरोरुहपाद कहते हैं 'पर' और 'स्व' इसमें भ्राति मत करो। बुद्ध तत्व सपूर्ण सृष्टि में निरंतर परिव्याप्त है यह समझ लेना ही चित्त और स्वभाव की शुद्ध और निर्मल परमपद की स्थिति है। यह जो अद्वय चित्त का श्रेष्ठ वृक्ष है उसका विस्तार त्रिभुवन भर में हुआ है इसमें करुणा के फूल और फल पुष्पित और फलित होते हैं।

पर अप्पाण म भन्ति करु, सअल णिरंतर बुद्ध।
एहु सो णिम्मल परमपद, चित्त सहावे सुद्ध ॥ १०६ ॥
अद्अ चित्त तरुअरह गउ तिहुँवणे वित्थार।
करुणा फुल्ली फल धरइ, णउ परत्त उआर ॥ १०७ ॥

जैनियों के यहाँ भी इन भावों को विस्तार मिला है। समूचे मध्यप्रदेश और पश्चिमोत्तर प्रदेश में एक समय उनका विशेष महत्व था। तात्विक दृष्टि से भी वे सपूर्ण सृष्टि में उस परमात्म तत्व को परिव्याप्त मानते हैं और वह परमात्म तत्व और कुछ नहीं उनका आत्मतत्व ही है। इस प्रकार प्रकारातर से वे आत्मतत्व का ही विस्तार सपूर्ण सृष्टि में मानते हैं। मानवोद्धार का एक व्यापक दृष्टिकोण उनके सिद्धात में भी गृहीत है। इस मानवोद्धार से वे वस्तुतः आत्मोद्धार ही करते हैं।

इसी प्रकार पश्चिमोत्तर से लेकर पूर्वोत्तर तक हिमालय के पाददेश में अपनी साधना का प्रचार करने वाले गुरु गोरखनाथ ने भी काफी लोकप्रियता प्राप्त की। यद्यपि उनकी साधना सिद्धाततः और व्यवहारतः अत्यत वैयक्तिक

है फिर भी वे आत्मज्ञानी के लिये एक अत्यंत उपादेय सामाजिक मनोभाव 'दया' की अनिवार्य आवश्यकता बताते हैं। वे कहते हैं कि —

आतम ग्यान, दया विणि, कछु नाहीं, कहा भयौ तन पोणा ॥२४०॥

गो० बा०, पृ० ७५

संत संप्रदाय जो समूचे उत्तरभारत और महाराष्ट्र में फैला हुआ था अपना एक प्रशस्त कार्यक्रम रखता है। घट घट में ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले संतों के लिये आपा और पर सब एक समान था।

आपा पर सब एक समान। तब हम पाया पद निरवान ॥

क० ग्रं०, पृ० १४४

इसीलिये जो इलहाम कबीर को हुआ था उसे सांई की अनुमति से समाज भर में विस्तृत करना अपना परम कर्तव्य समझते थे।

सांई यहै विचारिया, साखी कहैं कबीर।
सागर में सब जीव हैं, जे कोई पकड़े तीर ॥

क० ग्रं०, पृ० ५६

यह सामाजिक उद्देश्य क्या था? क्या कोई ऐसा कार्यक्रम जो भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन उपस्थित कर दे। नहीं, यह वस्तुतः व्यक्ति व्यक्ति करके संपूर्ण समाज की आध्यात्मिक मुक्ति का कार्यक्रम था। आलोच्य चारों मतों में इस स्वानुभूतिमूलक साधना को समर्थन प्राप्त था। इसके मार्ग में आनेवाले हर प्रकार के धार्मिक आडंबर का उच्छेदन इन चारों मतों में आवश्यक माना गया। इस दृष्टि से इनका स्वर विद्रोहपूर्ण था। प्रायः सभी सिद्धों ने इस प्रकार के धार्मिक आडंबरों का प्रत्याख्यान किया है।

रूढ़ियों से मुक्त करने का उद्देश्य

सरह के अनुसार 'ब्राह्मण ब्रह्म के मुख से पैदा हुए थे लेकिन जब हुए थे तब हुए थे। इस समय तो वे भी वैसे ही पैदा होते हैं जैसे दूसरे लोग। तो फिर ब्राह्मणत्व कहाँ रहा? यदि कहो कि संस्कार से ब्राह्मणत्व होता है तो चाण्डाल को भी संस्कार देकर क्यों नहीं ब्राह्मण हो जाने देते। अगर कहो कि ये लोग हाथ में कुस जल लेकर घर बैठे हवन करते हैं। ऐसी स्थिति में घी

डाल देने से यदि मुक्ति होती है तो क्यों नहीं सबको डालने देते ? होम करने से मुक्ति होती हो या नहीं, धुआँ लगने से आँखों को कष्ट जरूर होता है ।'

ब्रह्मणहिं म जाणन्त हिं भेउ । एवइ पढ़िअउ ए चउ वेऊ ॥ १ ॥
महि पाणि कुस लई पढ़न्त । घरहीं बइसी अग्गि हुणन्त ॥

कज्जे विरहइ हुअवह होमें । अक्खि डहाविअ कडुए धूम्मे ॥ २ ॥
(दो० को०)

इसी प्रकार नग्न साधुओं को लक्ष्य करके सरोरुहपाद कहते हैं कि ये लोग कपट माया फैलाकर लोगों को ठगा करते हैं । तत्व तो ये जानते ही नहीं । मलिन वेश धारण किए फिरते हैं और शरीर को व्यर्थ ही कष्ट देते हैं । नंगे घूमते हैं और केश उखड़वा देते हैं । यदि ऐसे नग्न दिगंबर को मुक्ति मिल सकती हो तो स्यार कुत्तों की मुक्ति पहले होनी चाहिए । यदि लोमोत्पाटन से मुक्ति होती हो तो ऐसे बहुतों को मुक्ति मिल जानी चाहिए जिन्हें लोभ नहीं हैं । यदि पिच्छी ग्रहण करने जे मुक्ति होती हो तो मयूर इसका प्रथम अधिकारी है । यदि उच्छ भोजन से मुक्ति होती हो तो हाथी घोड़ों की मुक्ति पहले होनी चाहिए ।

दीह णक्ख जइ मलिणें वेसें । णग्गल होइ उपाडिअ केसें ।
खवणेहिं जाण विडम्बिअ वेसें । अप्पण वाहिअ मौक्ख उवेसें ॥ ६ ॥
जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह ।
लोमुप्पडणे अत्थि सिद्धि ता जुअइ णिअम्बह ॥ ७ ॥
पिच्छी-गहणे दिट्ठि मोक्ख ता मोरह चारह ।
उच्छे भोअणे होइ जाण तो करिह तुरंगह ॥ ८ ॥
दो० को०

दीप, नैवेद्य, मन्त्रोच्चारण, तीर्थ-तपोवन-गमन, स्नान आदि से मोक्ष या निर्वाण साधन नहीं हो सकता । भवमुद्रा में सारा जग बहा जा रहा है अपने स्वभाव का परिशोधन कोई नहीं करता । हे मनुष्यों ! मन्त्र-तन्त्र-ध्येय-धारण यह सभी विभ्रम के कारण हैं । मिथ्या बंधनों को झटकार दो, जो कुछ भी मद है, विघातक है, रोधक है, उसके बंधन को तोड़ दो ।

किंतह दीवें कि तह णेवेज्जें। किन्तह किज्जइ मंतह सेव्वे ॥ १४ ॥
किन्तह तित्थ तपोवण जाइ। मोक्ख कि लब्भइ पाणी न्हाई ॥ १५ ॥

× × ×

भव मुद्धे सअलहि जग वाहिउ। णिअ सहाव णउ केणंवि साहिउ ॥ २२ ॥
मन्त रस तन्तण धेअसा कारण। सव्व वि रे वढ़, विब्भयम कारण ॥ २३ ॥

× × ×

छाड्हुरे आलीका वन्धा। सो मुंचहु जो अच्छाहु धन्धा ॥ १६ ॥
—(सरोरुहपाद) दो० को०

९वीं शताब्दी के सिद्ध कारहपा ने इन्हीं स्वरों में पंथों और पडितों की निंदा की। उनके अनुसार लोग इस गर्व में प्रमत्त हैं कि हम परमार्थ प्रवीण हैं। वास्तविकता यह है कि करोड़ों सामान्य जनों के मध्य में कोई एक भाग्यशाली निरंजन लीन होता है। पडितमन्य लोग आगम वेदों पुराणों का उसी प्रकार पठन पाठन करते हैं जिस प्रकार भ्रमर पक्व श्रीफल के चारों ओर निष्फल भ्रमित होता रह जाता है।

लोअह गव्व समुव्वहइ, हंउ परमत्थ पवीण।
कोडिअ मज्झे एक्कुजइ, होइ णिरंजण लीण ॥ १ ॥
आगम वेअ पुराण, पंडिअ माण वहन्ति।
पक्क सिरिफले अलिअ जिम, वाहेरीअ भमन्ति ॥२॥

— दोहा कोष

सरह ने वर्णाश्रम व्यवस्था का भी डटकर विरोध किया था। इन सिद्धों के अनुसार अध्यात्म साधना एक विशेष वर्ग के लिये सीमित नहीं होनी चाहिए। वे वर्णाश्रम व्यवस्था की चोटी ब्राह्मण और एड़ी शूद्र को एक साथ संबोधित करके कहते हैं कि जब मन अस्तमित होता है तभी बंधन टूटते हैं और तभी समरस और सहज दशाओं की प्राप्ति होती है।

जव्वे मण अत्थमण जाइ, तणु तुट्टइ बधण।
तव्वे समरस सहजे, वज्जइ सुद ण वह्मण ॥४६॥

दो० को०

सरोरुह ने हैरान होकर कहा था कि सपूर्ण संसार में इतना अक्षर प्रसार हो गया है कि कोई निरक्षर दीखता ही नहीं। इसलिये तब तक अक्षरों को घोलना चाहिए, जब तक निरक्षर न हो जाय।

अक्खर बाढा सअल जगु, णाहि णिरक्खर कोइ।
ताव से अक्खर घोलिआ, जाव णिरक्खर होइ॥ ८८॥

दोहा कोष

इतना ही नहीं उन्होंने स्वय अपने सप्रदाय की केवल कमल कुलिश साधना को हेय ठहराया। इन सिद्धों का स्वर अत्यत उग्र, पक्षपातहीन और निष्कपट था। वे कहते हैं कि जो लोग कमल-कुलिश साधना करते हैं वह नितरा सुरत विलासी हैं। इस प्रकार कौन नहीं रमण करता और किसकी कामनाएँ नहीं पूरी होतीं।

कमल कुलिस वे वि मज्झ ठिउ, जो सो सुरअ विलास।
को न रमइ णह तिहुअणहि, कस्स ण पूरइ आस॥ ९४॥

दोहा कोष

जैन लोगों में भी इस प्रकार के वाह्याचारों का खडन किया गया। जोइदु कहते हैं कि देव, शास्त्र और मुनिश्रेष्ठों की भक्ति से पुण्य तो जरूर होता है पर कर्मक्षय नहीं हो पाता। सत्य तो यह है कि शास्त्र पढ़ने से आदमी जड़ हो जाता है क्योंकि वह शास्त्रार्थ करने लगता है। यहाँ तो विकल्पों के मूलोच्छेदन की आवश्यकता है। तीर्थ तीर्थ भ्रमण करने वाले को भी मोक्ष नहीं मिल सकता। जो वास्तविक ज्ञान विवर्जित है वह मुनिवर हो भी कैसे सकता है। चेला चेली पोथी इत्यादि में मूढ़ संतुष्ट होते हैं लेकिन जो महत नहीं बनना चाहता वह ज्ञानी इससे लज्जित होता है और इन्हें बधन का कारण मानता है। दिग्भ्रमित होने की आवश्यकता नहीं। मदिर देवता, शास्त्र, गुरु, तीर्थ, वेद, काव्य इत्यादि जो पुष्पित हरे भरे वृक्ष दिखलाई पड़ते हैं वे सभी इधन बनकर भस्म हो जाएगे।

देवहं सत्थह मुणिवरह, भत्तिए पुण्णु हवेइ।
कम्मक्खउ पुणि होइ णवि, अज्जउ संति भणेइ॥

प० प्र० २—६१

सत्थ पढ़ंतुवि होइ जड़ जो ण हणेइ वियप्पु।
देहि बसतुवि णिभलउं जवि मण्णइ परमप्पु॥

प० प्र० २–८३

तित्थइ तित्थु भमंतहं, मूढ़हं मोक्ख णहोइ।
णाण विवज्जिउ जेण जिय, मुणिवरु होइ ण सोइ॥

प० प्र० २–८५

चेल्ला चेल्ली पुत्थियहिं, तूसइ मूढ़ णिमंतु।
एयहिं लज्जइ णाणियउ, बधहं हेउ मुणंतु॥

प० प्र० २–८८

देउलि देउवि सत्थु गुरु, तित्थुवि, वेउ विकव्वु
वच्छ जु दीसे कुसुमियउ, इंधणु होसइ सव्वु॥

—प० प्र० २–१२०

मुनिरामसिंह ने बाह्याचार और भेप की उपमा साँप की केंचुली से दी है। जिस प्रकार ऊपर आवरण के बदलने से सर्प का जहर नहीं जाता उसी प्रकार बाह्य वेप के परिवर्तन से चित शुद्धि नहीं होती।

सप्पि मुक्को कंचुलिय ज विसु तं ण मुएइ।
भोयहं भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ॥ १५॥

—पा० दो

व्याख्यान निपुण विद्वानों के बहु वक्तव्य को वे व्यर्थ समझते हैं यदि वह आत्मा के मनन में अपना चित्त नहीं लगाते। उसके पास, इस प्रकार, कण रहित पुआल की तरह निःसत्व अक्षर कोप रह जाता है वास्तविक तत्वानुभूति नही। मूढ़ ने बहुत पढ़ा, तालू सूखने लगे। किंतु चाहिए तो वही एक अक्षर पढ़ना जिससे सीधे शिवपुर का मार्ग सिद्ध हो जाय। षट्दर्शनों के धंधे में पड़ने से मन की भ्रांति कैसे टूट सकती है। देव तो एक है और तुमने उसके छः भेद कर दिए और तब भी मोक्ष के विषय में तुम अपरिचित हो। तुम प्रव्रजित हो, शीश को मुड़ाकर दीक्षित हो गए हो लेकिन क्या तुमने चित्त के विकारों का भी मुंडन किया। भई! चित्त का मुंडन करने वाला ही इस संसार का खंडन कर सकता है और यदि तीर्थ की कहो तो तीर्थों में भी भ्रमण करने से कोई फल नहीं होता, स्नान करने से तुम्हारा बाह्य तो शुद्ध

हो जायगा पर आभ्यांतर कैसे शुद्ध होगा। झूठा है यह कलह, वेकार है यह टटा, किससे छूत मानूं और किसकी पूजा करूँ? जहाँ देखता हूँ वहाँ एक ही आत्मा है, इत्यादि।

वक्खाणडा करंतु बहु, अप्पि ण दिएणुण चित्त।
कणहिं जि रहिउ पयालु जिम, पर सगहिउ बहुतु ॥ ८४ ॥
बहुमइ पढ़िमइ मूढ़ पर, तालू सुक्कइ जेण।
एक्कुजि अक्खरु त पढउ, सिवपुर गम्मइ जेण ॥ ९७ ॥
छह दसण घघइ पडिम, मणह ण फिट्टिम भति।
एक्कु देउ छह भेउ किउ, तेण ण मोक्खह जति ॥ ११६ ॥
मुडिय मुडिय मुडिया। सिरू मुडिउ चित्तु ण मुडिया
चितहं मुडण जिं कियउ। ससारह खडणु तिं कियउ ॥ १३५ ॥
तित्थइ तित्थ भमतयहं, किण्णोहा फल हूव।
वाहिरु सुद्धउ पाणिमहं, अब्भिन्तरु किम हूव ॥ १६२ ॥

—पाहुड़ दोहा

पाहुड दोहा में इस जाति के अनेक दोहे खोजे जा सकते हैं। जिन भावों को जिस भगिमा के साथ बौद्धमत के सहजवानियों ने व्यक्त किया है ठीक उन्हीं भावों को उन्हीं भगिमाओं के साथ जैन मुनियों ने भी। दोनों का लक्ष्य था सृष्टि में सर्वव्यापक एक तत्त्व का चिंतन और इस प्रकार तत्त्वानुभूति। यह सब रचनाएँ ईसा के प्रथम सहस्राब्दक के अन्त्य भाग में लिखी जा रही थीं।

नाथ संप्रदाय वाले यों तो वेदवाह्य मत के नहीं थे लेकिन अपनी साधना की सर्वोत्कृष्टता में अखंड विश्वास होने के कारण अन्य सप्रदायों की वाह्याचारपरक साधनाओं से उनको असतोप होना सहज स्वाभाविक था। गोरखनाथ ने नाथ सप्रदाय को अविकृत रखने के लिए इसके व्यावहारिक और नैतिक शुद्धाचरण पर विशेष वल दिया। वे कहते हैं—सयम का संपादन करो, युक्त आहार करो, जीवन को काल की ओर ले जाने वाली निद्रा को छोड़ो। तत्र, मत्र, वेदात, यत्र, धातु इन सभी प्रकार के पापडों से बचो।

सयम चितवो जुगत अहार। त्यंद्रा तजौ जीवन का काल।
छाडौ तंत मत वेदंत। जत्र गुटिका घात पाखड ॥ ४ ॥

जड़ी बूटी का नाम मत लो, समृद्धिशाली राजद्वार पर मत जाओ, स्तभन, सम्मोहन, वशीकरण उच्चाटन इत्यादि को भी छोड़ो। हे योगेश्वर! योगारंभ का प्रयत्न करो।

जड़ी बूटी नाँव जिनि लेहु।
राज दुवार पाव जिनि देहु।

थंभन मोहन वसीकरन छाड़ौ औचाट।
सुणौ हो जोगेसरो जोगारंभ की वात।

—वही, १७०।५

तीर्थ व्रत कभी मत करो। गिरि पर्वत पर चढ़कर प्राण को संकट में मत डालो। पूजा मत करो। योग की विडंबना मत करो। वैद्यक, वाणिज्य व्यापार, पठन, मनन, लोकाचार को छोड़कर योग करो।

तीरथ वर्त कदे जिनि करौ। गिर परवतां चढ़ि प्रान मति हरौ॥ ८॥
पूजा पाटि जपौ जिनि जाप। जोग माहिं विटंबौ आप।
छाड़ौ वैद वणज व्यौपार। पढ़िवा गुणिबा लोकाचार॥ ९॥

—वही, पृ० १७०

पढ़ पढ़कर के कितने सांसारिक प्राणी मर गए कथनी भी कम नहीं हुई, वे संसार की आँखों में बढ़े भी परंतु बढ़कर वास्तविक तत्व से अपरिचत होने के कारण घट भी गए और परब्रह्म से तो अपरिचित रह ही गए।[1]

पढ़ि पढ़ि केता जग मुवा कथि कथि कहा कीन्ह।
वढ़ि वढ़ि वढ़ि वहुघट गया पारब्रह्म नहिं चीन्ह॥

(गो० वा०)

१—[क] कहणि सुहेली रहणि दुहेली कहणि रहणि विन थोथी।
पढ़या गुण्या सूवा बिलाई पाया, पंडित के हाथि रह गई पोथी॥

—गो० वा० पृ० ४२।

[ख] पढि देखि पढिता रहि देखि सार अपनी करणी उतरिबा पार
वदंत गोरखनाथ कहि घू साखी, घटि घटि दीपक (बलै) परन् (नपेखे) आखी॥

—वही, पृ० २१

इतना ही नहीं मुसलमानी तत्वदर्शन और धर्मसाधना के अनेक पक्षों का जो विरोध आगे चलकर कबीर आदि संतों में विकसित हुआ वह वस्तुत नाथ सम्प्रदाय में ही शुरू हो गया था। बौद्ध सिद्धों के समय (सातवीं से ११वीं शताब्दी) मुसलमानों का आगमन हुआ तो था पर पूर्वोत्तर प्रदेशों में उनकी वह बाढ़ नहीं आई थी। वे पश्चिमोत्तर प्रदेशों में ही लूट मार कर रहे थे। परंतु परवर्ती शताब्दियों में मुसलमानों का संगठित मत प्रचार ध्वसात्मक नीति के साथ आरंभ हो गया। गुरु गोरखनाथ की वाणियों में ऐसी साखियाँ प्राप्त होती हैं जिनमें मुहम्मद साहब का नाम लिया गया है। गुरु गोरखनाथ के समय के विषय में विशेष मतांतर हैं। डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने डा० शहीदुल्ला (विक्रम की आठवीं शताब्दी) और डा० फर्कुहर (वि० सं० १२५७) के मत को काटते हुए गोरखनाथ का समय १०५० सं० के आसपास निश्चित किया है।[१] डा० रामकुमार वर्मा ने गोरखनाथ का समय १२५० माना है।[२] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस समय को १०वीं शताब्दी के लगभग माना है।[3] जो भी हो, गोरखनाथ ग्यारहवीं से तेरहवीं के बीच में कभी हुए थे। यही कारण है कि उन्हें मुसलमानी तत्ववाद से परिचित होने और उसकी आलोचना करने का मौका मिला था।

गुरु गोरखनाथ कहते हैं कि 'हे काजी! मुहम्मद मुहम्मद मत करो, मुहम्मद का विचार बहुत ही गूढ़ है। मुहम्मद के साथ असी हजार पीर पैगवर हैं।' बहुत संभव है यहाँ ईश्वर तत्व और जीवतत्व के मध्य में खड़े इन शत सहस्र पैगवरों पर व्यंग्य हो।

> महमद महमंद न करि काजी महमद का बहुत विचारं।
> महमद साथि पकबर सीधा ये लप असी हजार॥
>
> —पृ० ७२

मुसलमानों की हिंसा पर व्यंग्य करते हुए गोरखनाथ कहते हैं कि हे काजी मुहम्मद मुहम्मद मत करो, मुहम्मद का विचार विषम है। तुम

१—योग प्रवाह, पृ० ६२।

२—हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १३४।

३—नाथ सम्प्रदाय पृ० ९६।

समझते हो कि जीव हत्या करके तुम मुहम्मद के मार्ग का अनुसरण कर रहे हो, परंतु मुहम्मद के हाथ में जो छुरी थी वह न लोहे की गढ़ी थी, न इस्पात की, जिससे जीव हत्या होती है। जिस छुरी का मुहम्मद साहब प्रयोग किया करते थे वह सूक्ष्म छुरी शब्द की छुरी थी। वह शिष्यों की भौतिकता को इसी शब्द की छुरी से मारते थे जिससे वे संसार की विषय वासनाओं के लिए मर जाते थे। परंतु उनकी यह शब्द की छुरी वस्तुतः जीवन दायिनी थी क्योंकि उनकी बहिर्मुखता के नष्ट हो जाने पर ही उनका आभ्यंतर आध्यात्मिक जीवन आरंभ होता था। मुहम्मद ऐसे पीर थे। भ्रम में मत भूलो। उनके मत के अनुसरण करने की शक्ति तुम्हारी इस देह में नहीं है।

मुहमंद महमद न करि काजी महमंद का विषम विचार।
महमद हाथि करद जे होती लोहै घड़ी न सार ॥ ९ ॥
—पृ० ४

सब्दै मारी सबद जिलाई ऐसा महंमद पीर।
ताकै भरमि न भूलौ काजी सो बल नहीं सरीर ॥ १० ॥
—पृ० ४

उन्हें कुरान का पता था और यह भी पता था कि वेद शास्त्र किताब कुरान जैसी पोथियों में उस परमपद का ज्ञान नहीं पाया जा सकता है उस पद को तो विरले योगी ही जानते थे और जागतिक प्रपंचवाली दुनिया उसे क्या जाने।

वेदे न शास्त्रे कतेबे न कुराणे पुस्तके न वंच्या जाई।
तें पद जानां बिरला योगी और दुनी सब धंधै लाई ॥ ६ ॥
—पृ० २

इस भूमिका पर यदि हम संत संप्रदाय में उठे धार्मिक सामाजिक आडंबरों के विद्रोह के स्वरों को पहचाने तो स्पष्ट ही यह सब स्वर एक बहुत पुरानी परंपरा के मालूम होंगे। यहाँ अवश्य यह सब स्वर तीव्र हो गए। एक दूसरा अंतर यह है कि इस संप्रदाय के अधिकांश नेता छोटी जातियों के थे। मुसलमानों के आगमन से हिंदुओं में जो एक संरक्षणशील मनोवृत्ति

पैदा हुई थी उससे हिंदू समाज में जातिव्यवस्था और अधिक कसती गई[1]।
इन छोटी जातियों के व्यक्ति, उस ब्राह्मण मत प्रधान समाज को जो तत्कालीन सम्पूर्ण हिंदू समाज के विषमतामूलक सगठन का जिम्मेदार था अपनी दुरवस्था का कारण समझते थे। बताया गया है कि इसी प्रकार के कसाव के कारण स्वेच्छया न जाने कितनी ना-हिंदू ना मुसलमान जातियाँ मुसलमान हो गयी थीं। जन गणनाओं के द्वारा ऐसी अनेक योगी मुसलमान जातियों एव वयन-जीवी जातियों का सधान मिला है। जो भी हो, विषम हिंदू जातिव्यवस्था के शिकार अधिकाश सत थे। उनके सबसे बडे नेता कबीर दास स्वय वयनजीवी जाति के जुलाहा थे। ये सत जब अपने विद्रोही स्वर को ऊँचा करने लगे तो ये अपने को तटस्थ नहीं रख सके बल्कि भुक्तभोगी की भाँति अत्यत निर्मम भाव से प्रहार करने लगे। कबीरदास पाडे से पूछते हैं—

पडित देखहु मनमह जानी।
कहु धौ छूति कहाँ ते उपजी तबहिं छूति तुम मानी।
वादे बेंदे रुधिर के सगे घटही मह घट सपचै।
अष्ट कवल होय पुहुमि आया छूति कहा ते उपजे।
लख चौरासी नाना वासन सो सम सरि भौ माती।
एकै पाट सकल बैठाये छूति लेत धौं काकी।
छूतिहि जेवन छूतहि अँचवन छूतिहि जगत उपाया।
कहहि कबीर ते छूति बिबरजित जाके सग न माया।

—बीजक, शब्द ४१

जिस समय कबीरदास का आविर्भाव हुआ उस समय बहुधा-विचित्र वाह्याडबरमूलक साधनाएँ प्रचलित थीं। हिंदुओं में पौराणिक मत प्रबल था। अन्य नाना प्रकार की धर्मसाधनाओं का उल्लेख करते हुए कबीरदास कहते हैं—

ऐसो देखि चरित मन मोह्यो मोर,
ताथैं निस वासुरि गुन रमौं तोर।

इक पढहिं पाठ, इक भ्रमै उदास, इक नगन निरतर, रहै निवास
इक जोग जुगति तन हूँहि खीन, ऐसे राम नाम सगि रहै न लीन

[1]—मध्यकालीन धर्मसाधना: डा० ह० प्र० द्विवेदी पृ० ६१।

इक हूँहि दीन एक देहीं दान, इक करै कलायी सुरापान ॥
इक तंत मंत औषध (प्र) वाँन, इक सकल सिद्ध राषै अपांन ।
इक तीरथव्रत करि काम जीति, ऐसे राम नाम सूं करै न प्रीति ॥
इक धोम ध्यूंटि तन होहिं स्याम यूं मुकुति नहीं विन राम नाँम ।
सतगुरु तत कथ्यौ विचार, मूल कह्यौ अनभै विस्तार ।।
जुरा मरणथें भये धीर, राम कृपा भइ कटि कवीर ॥

—क० ग्र० पद ३८६

सभी माया के चक्कर में भ्रमित थे। इस माया में मुनि, पीर, दिगंबर, योगी, जंगम, ब्राह्मण, सन्यासी सभी फँसे थे (पद १८७ पृ० १५१) सहज समाधि के पक्षपाती और 'शास्त्रीय आतंक जाल को छिन्न करने तथा लोकाचार के जंजाल को ढाह करके सहज सत्य तक पहुँचने वाले कबीर के सामने इसी शास्त्रीय आतंक जाल को अपना उपजीव्य बनाने वाले पडित की क्या हस्ती। पोथी पढ़ने वाला तमाम पंडित वर्ग उनके सामने उस सहज आनुभूतिक तत्व ज्ञान से अपरचित था। वे कहते हैं:—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का पढ़ै सो पंढित होय ॥

कबीर को 'राम' का वह रहस्य समझाना था जो प्रत्येक धर्म के प्रत्येक साधक के अंतर में स्थित है, जो व्यक्ति जीवन को संपूर्ण आडंबरों से निकाल कर अपनी सहज भक्ति देता है, जो सामाजिक दृष्टि से अत्यंत हेय व्यक्ति को भी उच्च आत्मिक संतोष देता है और जो अंत में अपने ही जैसा बना लेता है। कबीरदास इसी मर्म को जनसमाज की आत्मा में प्रवेश करा देना चाहते थे। जो धर्म, मत, संप्रदाय विशेष, जाति वर्ण इस सहज भक्ति मूलक निर्गुण तत्ववाद से अलग हटकर निरर्थक आडंबर जाल, शास्त्र प्रथन, अंधविश्वास में लिपटे थे उनको कबीरदास अपनी ओजपूर्ण वाणी में धक्का देते रहे। धक्का वे इसलिए देते रहे कि उन्हे मालूम था कि रूढ़ियां सहलाने से नहीं झटकारने से ही उच्छिन्न होती हैं। कबीरदास कहते हैं कि मूर्ति की पूजा करते करते हिंदू मर गए और सिर झुका झुका कर (नमाज पढ़ते हुए) मुसलमान मर गए। हिंदू मृतक को जला देते हैं मुसलमान गाड़ देते हैं किंतु दोनों ने ही मन के रहस्य को नहीं समझा। ऐ मन! यह संसार

बहुत बड़ा अंधा है जो चतुर्दिक प्रसरित मृत्यु जाल को नहीं देखता। कवि,-योगी अपने आडंबरों के कारण तुम्हें पहचानने और जीतने में असमर्थ रहे। दुर्गों पर विजय और स्वर्ण प्राप्त करने वाले राजा, वेदपाठी पंडित, रूप गर्विता नारी सभी नष्ट हो गए। अपने शरीर की ओर देखकर यह समझ लो कि राम नाम के बिना सभी लोग छले गए हैं कबीरदास इसलिए उपदेश करते हैं कि गति चाहो तो हरिनाम जपो।[1]

कबीरदास स्मार्त धर्म शासित ब्राह्मण प्रधान हिंदू समाज में प्रचलित छुआ छूत की पद्धति पर कठोर व्यंग्य करते हैं। बाह्यचारों पर आक्षेप करते हुए ये लिखते हैं:—

ताथैं कहिए लोकाचार वेद कतेब कथैं व्यौहार।
जारि वारि कहिं आवैं देहा मूवा पीछे प्रीति सनेहा॥
जीवन पित्रहिं मारहिं डंगा मूवा पितृ लै घाले गंगा।
जीवत पुत्र को अन न खावैं, मूवा पछिं प्यंड भरावै॥

उन्हें हिंदुओं के समस्त विश्वासों में अविश्वास है उन्हें आवागमन के हिंदू निर्दिष्ट उपायों में अविश्वास है, अर्थ धर्म काम मोक्ष फलों की तुच्छता मालुम है, स्वर्ग और पाताल की अवस्थिति में संदेह है। वे कहते हैं कि अनजान के लिए स्वर्ग नरक है हरि के मर्म को जानने वाले के लिए कुछ नहीं। हमें भव भय नहीं, पाप पुण्य की शंका नहीं, स्वर्ग नर्क भी हमको नहीं जाना है हमें तो उसी एकमात्र परमपद में समाहित हो जाना है।[2]

वे मुसलमानों के ढकोसलों पर भी व्यंग्य करते हैं। कहते हैं तू रोजा रखता है और अल्लाह को मानता है। तू केवल अपना स्वार्थ देखता है किसी दूसरे के हित को नहीं। ए काजी, स्वामी तो एक है वह तेरा है और तुझी में है। यह सोचविचार कर तू नहीं देखता ·· ··इत्यादि।[3]

अंत में कबीरदास हैरान होकर कहते हैं कि हरि के विना संपूर्ण संसार अज्ञान है। षडदर्शन और छयानवे पाखंडों में आकुल और भ्रमित तथा

१—संत कबीर डा० रामकुमार वर्मा द्वारा संपादित पृ० १३०।
२—कबीर ग्रंथावली पृ० २०७।
३—बीजक शब्द ४२।

जप तप संयम पूजा अर्चन में पागल यह संसार कागजों को रंग रंग कर भूल गया है। वह मन में ही है इस तथ्य के अज्ञान के कारण वह मन की साधना नहीं करता।

> ... ...हरि बिन सकल अपाना।
> छह दरसन छयानवै पाखंड, आकुल किनहु न जानां॥
> जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौराना।
> कागद लिखि लिखि जगत भुलाना, मनहीं मन न समाना॥
>
> क० ग्रं० पृ० ९९

संत काव्य का वैशिष्ट्य

लेकिन प्रश्न यह है कि वह कौन सा तत्व है जो कबीरदास को इतना महान बना देता है? कबीर को बहुत कुछ परंपरा प्राप्त था। लेकिन यह कौन सी बात है जो संपूर्ण सिद्धों, नाथों, जैनों, वेदांतियों आदि में कहीं नहीं मिलती। वह कौन सी बात है जिसे रामानंद से पाकर कबीर सर्वदा के लिए उनके कृतज्ञ होगये?

कबीर का अपना कृतित्व

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में इन महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाया है और इनका उत्तर देते हुए बताया है कि वह बात भक्ति थी। वह योगियों के पास नहीं थी, पंडितों के पास नहीं थी, कर्मकांडियों के पास नहीं थी, मुल्लाओं के पास नहीं थी, काजियों के पास नहीं थी। इसी परमाद्भुत रत्न को पाकर कबीर कृत-कृत्य हो रहे। भक्ति भी किसकी? राम की। रामनाम रामानंद का अद्वितीय दान था। उसके पहले उत्तराखंड में राम विष्णु के अवतार जरूर समझे जाते थे पर परात्पर ब्रह्म नहीं माने जाते थे। इस त्रिगुणातीत मायाधीश परब्रह्म-स्वरूप राम की भक्ति को रामानंद ही ले आये। राम और उनकी भक्ति ये ही रामानंद की कबीर को देन है। इन्हीं दो वस्तुओं ने कबीर को योगियों से अलग कर दिया, सिद्धों से अलग कर दिया, पंडितों से अलग कर दिया, मुसलमानों से अलग कर दिया। इन्हीं को पाकर कबीर वीर हो गए। सबसे अलग, सबसे ऊपर, सबसे विलक्षण, सबसे सतेज।[1]

१—कबीर, पृ० १३८-१३९।

कबीरदास पर दूसरा प्रभाव सूफीमत का था। सूफीमत में साधक उस परम तत्व से प्रेम करता है। उसका प्रिय स्त्रीरूप में सामने आता है। सूफियों का अंतिम लक्ष्य होता है 'अनलहक' की स्थिति की प्राप्ति। प्रिय की प्राप्ति के लिए सूफी साधकों द्वारा की गई साधना बड़ी ही महनीय होती है। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार कबीरदास ने अद्वैतवाद और सूफीमत के मिश्रण से अपने रहस्यवाद की सृष्टि की।[1] डा० श्यामसुंदर दास के अनुसार भी 'कबीर रहस्यवादी कवि हैं।[2] लेकिन कबीर ने रहस्यवादी प्रेम-साधना का वही रूप नहीं स्वीकृत किया जो सूफियों में प्रचलित थी वरन उसको भारतीय परपरा के भीतर से लिया। कबीर के राम (ब्रह्म) उनके 'पीव' हैं और कबीर उनकी 'बहुरिया'। कबीर की संपूर्ण साधना इस प्रेमतत्व के मिश्रण से अद्भुत महिमाशालिनी हो गयी है। आज भी विश्वकवि रवीन्द्रनाथ जैसे महापुरुष ने कबीर के रहस्यवाद को अपनाने में गौरव माना। कबीर की प्रेम-साधना है भी विलक्षण। वे कहते हैं 'सखि सुहाग राम मोहिं दीन्हा'। विभोर होकर कहते हैं—

चुनरिया हमरी पिया ने सवारी
कोई पहिरे पिय की प्यारी।
आठ हाथ की बनी चुनरिया
पंच रंग पटिया पारी।
चाद सुरज जामें आंचल लागे
जगमग जोति उजारी।
बिनु ताने यह बनी चुनरिया
दास कबीर बलिहारी।

उस प्रिय के बिछोह में कबीर व्याकुल हैं। दुनिया के सारे विरह व्यापार कबीर के विरह के नीचे हैं। चकई रात को बिछुड़ती है तो दिन में मिल भी जाती है पर जो राम से वियुक्त हो गया है वह तो न रात को मिल पाता न दिन को। उसे दिन-रात, निद्रा-जागरण-स्वप्न, धूप-छाह कहीं भी विश्राम नहीं। वह ठीक विरह मे ऊबी उस विरहिणी के समान होता है जो दौड़ कर हर राहगीर से पूछती है कि उसके प्रियतम कब आएगे।

१—हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १६८।
२—कबीर ग्रंथावली की भूमिका पृ० ५४।

चकवी विछुरी रैंणि की आए मिली परभाति ।
जे जन विछुरे राम से, ते दिन मिले न राति ॥
वासर सुख ना रैंण सुख, ना सुख सुपनै मांहि ।
कबीर बिछुट्या राम सूँ, ना सुख धूप न छांह ॥
विरहिन ऊभी पंथसिरि, पंथी पूछे धाइ ।
एक सवद कहि पीव का, कब रे मिलैंगे आई ॥

—क० ग्रं०, पृ० ७–८

प्रिय ने कमान साधकर जो प्रेम का बाण मारा वह भीतर भिद गया । जब उसका कण अंतर में भिद गया तभी मैं जान सकी कि मर्म में चोट लगी और कलेजा छिद गया । जिस शर से उसने संधान किया वही शर मेरे मन में बस गया है । उसी शर से आज फिर मारो, उस शर के बिना अब चैन नहीं ।[1]

उस प्रिय की प्राप्ति के लिए केवल रोदन ही मार्ग है ।

हंसि हसि कन्ति न पाइये, जिनि पाया तिन रोई
जो हंसि ही हरि जी मिलै तो न दुहागिनि कोई ॥

—क० ग्र०, पृ० ९

ऐसे प्रिय की प्राप्ति के लिए कबीर ने महाकठिन साधना की थी ऐसी साधना जिसका कोई 'पटतर' नही । साधु, सती और शूर इन तीनों में भी साधु की साधना अतुलनीय है ।

अंत में कबीर ने कहा—

कबीर यह घर प्रेम का खाला का घर नांहि ।
सीस उतारे हाथ धरि सो पैसे घर मांहि ॥

—क० ग्रं०, पृ० ६९

इस प्रकार 'कबीरदास ने इस प्रेमलीला को एक बहुत ही वीर्यवती साधना के रूप में देखा था ।'[2]

१—क० ग्रं० पृ० ८–९ ।

२—कबीर : डा० ह० प्र० द्विवेदी पृ० १६१ ।

कबीरदास उत्तर भारत में मध्यकालीन भक्तिमूलक धर्मसाधना के प्रथम महान नेता थे। वे ऐसे युगसधि के समय उत्पन्न हुए थे जिसे हम 'विविध धर्मसाधनाओं और मनोभावनाओं का चौराहा कह सकते हैं।'[1] कबीर के श्रेष्ठ विवेचक आचार्य द्विवेदी ने उन्हें नृसिंह की भांति नाना असंभव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन बिंदु पर अवतीर्ण हुआ माना है। वे कहते हैं 'कबीरदास ऐसे ही मिलन बिंदु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिंदुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर भक्तिमार्ग, जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना, उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे।'[2]

कबीरदास का व्यक्तित्व विलक्षण था। वे हठयोगियों की योगसाधना को पाकर उनके कृतज्ञ अवश्य थे पर उनकी न्यूनताओं के प्रति भी सजग थे। वे अवधूत से पूछते हैं—

> अवधू अक्षर हूँ सों न्यारा।
> जो तुम पवना गगन चढ़ाओ, करो गुफा में बासा।
> गगना पवना दोनों विनसें, कहँ गया जोग तुम्हारा॥
> गगना मद्धे जोती झलके, पानी मद्धे तारा।
> घटिगे नीर बिनसिगे तारा, निकरि गयो केहि द्वारा॥
> मेरुदंड पर डारि दुलैचा, जोगी तारी लाया।
> सोइ सुमेर पर खाक उड़ानी, कच्चा जोग कमाया॥

योगियों ने भी आक्रमणात्मक उक्तियों का सहारा लिया था पर उसमें एक हीनभावना की ग्रंथि पाई जाती है। आचार्य द्विवेदी के अनुसार वे मानों लोमड़ी के खट्टे अंगूरों की प्रतिध्वनि हैं। मानो चिलम न पा सकने वालों के आक्रोश हैं। उनमें तर्क है पर लापरवाही नहीं है। आक्रोश है पर मस्ती नहीं है, तीव्रता है पर मृदुता नहीं है। कबीरदास के आक्रमणों में भी एक रस है, एक जीवन है, क्योंकि, वे आक्रांत के वैभव से परिचित नहीं थे और अपने को समस्त आक्रमण योग्य दुर्गुणों से मुक्त समझते थे। इस तरह जहाँ उन्हें लापरवाही का कवच मिला था वहाँ आत्मविश्वास का कृपाण भी।'[3]

१—हिंदी साहित्य पृ० १२०।

२—वही।

३—कबीर, पृ० १६५

अपनी इसी महानता के कारण कबीरदास भक्तियुग के द्वार बने। केवल कबीर का विधिवत अध्ययन कर लिया जाय तो संपूर्ण संतकाव्य का मर्म समझ में आ सकता है। बाद में संतों के अनेक पंथ चले जिनमें से अनेक आज भी प्रचलित और शक्तिशाली हैं तथा अनेक संत आए पर किसी की अनुभूतियों में वह मस्ती, वह व्यापक सहज बुद्धि, आत्मविश्वास और लापरवाही की वह तीव्रता नहीं पाई जाती।

सहजयान मत, परवर्ती जैनतत्वदर्शन, नाथ संप्रदाय और संतसाहित्य को एक परंपरा में रखकर विकासात्मक अध्ययन करने के पश्चात यही निष्कर्ष निकलता है कि ये सारी धर्मसाधनाएँ वेदबाह्य होने के कारण बहुत सी बातों में एक हैं। युग परिस्थितियों, विभिन्न धार्मिक व्यक्तित्वों और अन्य तत्वों के समय समय पर मिलने के कारण इनके आधारभूत विचारों में यत्किंचित रूपपरिवर्तन होता गया। संत साहित्य पूर्ववर्ती तीनों काव्यपरंपराओं के रिक्थ (विरासत), आत्मवादी धारा के प्रपत्तिवाद तथा सूफी धारा के प्रेमतत्व के योग से एक अभूतपूर्व सौंदर्य पा गया।

कला

इसमें कोई संदेह नहीं कि संत-काव्य का उद्देश्य धार्मिक था इसलिए रस सृष्टि उसका मुख्य लक्ष्य नहीं बना। सामाजिक स्तर की दृष्टि से वे न तो ऊँची जाति के थे न तो काव्य शिक्षा का ही उनको विशेष ज्ञान था। इसलिए उनकी रचनाओं में उनकी भक्ति जन्य रागात्मकता और विह्वलता ही काव्य की सरसता बन जाती है उनकी रहस्यसाधना, ब्रह्म की पुरुष रूप और भक्त की स्त्रीरूप में कल्पना, और दोनों की परस्पर प्रेम साधना, रूढ़ियों के प्रति निर्मम भाव ही उनकी रचनाओं की सरसता का कारण है। इसमें संदेह नहीं कि इन लोगों ने बहुत ऊँचे दरजे का व्यक्तित्व पाया था। यह भक्त-साधक हृदय, भाषा, अलंकृति, रस, छंद सबके ध्यान को भुलाकर पदों, साखियों लोक के विविध काव्य रूपों में फूट पड़ा। इस प्रकार का जो काव्य सामने आता है उसमें भाषा भले ही सधुक्कड़ी हो, अलंकार भले ही कम और साफ कटे छँटे न हों, रसावयवों की सावयव योजना न हो, छंद भले ही ठेठ लयाश्रित हो किंतु सच्चे काव्य रसिक को काव्यानंद अवश्य मिलता है।

धर्माश्रित कवियों के इस विशाल साहित्य का अध्ययन यदि धर्मसाधना और तत्व दर्शन की दृष्टि से न भी किया जाय तो भी उसका भाषा और

काव्य रूपों के विकास की दृष्टि से अध्ययन आवश्यक ही नहीं सर्वथा अनिवार्य है।

हिंदी के छदों और काव्यरूपों के विकास में संत साहित्य ने कितना योग प्रदान किया है इसका विवेचन आगे किया गया है। भाषा की दृष्टि से उत्तरकालीन अपभ्रंश और आरंभिक हिंदी या इस बीच की सक्रांतिकालीन भाषा के नमूने की दृष्टि से इनका काव्य अत्यंत महत्वपूर्ण है।

अवश्य ही सभी संत समान रूप से उस प्रखर प्रतिभा के धनी नहीं थे जो कबीर, दादू, रज्जब, सुंदरदास आदि के भाग में थी, लेकिन इनसे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित है कि सम्पूर्ण सत साहित्य साहित्यिक दृष्टि से अविचारणीय है।

वीररसात्मक मुक्तक

प्राचीन और मध्यकालीन सांस्कृतिक जीवन का एक अनिवार्य गुण शौर्य था जिसका प्रतिफलन युद्ध में हुआ करता था। यों तो आचार्यों ने वीररस को युद्धवीरता के अतिरिक्त दानवीरता, धर्मवीरता, दयावीरता में भी घटित किया है[1] पर वस्तुतः युद्धवीरता ही वीररस का वास्तविक उपजीव्य है। यह युद्धवीरता भिन्न भिन्न प्रकार की सामाजिक संस्कृतियों के अनुरूप विविध रूपों में परिवर्तित होती हुई मिलती है। इस परिवर्तनशील वीर भावना के विविध स्वरूपों को काव्य सबसे अधिक ज्वलंत रूप में चित्रित करता है। शौर्य वर्णन करनेवाले काव्य के द्वारा हम उस युग के योद्धा के नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश को अच्छी तरह से जान सकते हैं। प्रस्तुत निबंध में हिंदी मुक्तक साहित्य में अभिव्यक्त वीर भावना और उसकी प्रवृत्तियों का विकास दिखाना हमारा लक्ष्य हैं। अपभ्रंश मुक्तकसाहित्य और मध्यकालीन हिंदी वीररसात्मक मुक्तक साहित्य का काल ईसा की सातवीं आठवी से १९वीं शताब्दी तक चलता है। इस बीच वीरभावना का क्या स्वरूप था इसको समझने के लिये थोड़ा पीछे तक जाना उचित होगा।

जैसा कि पृष्ठभूमि विवेचन में कहा जा चुका है प्रारंभिक वीर युग अर्थात् महाभारत काल में व्यक्ति जननायक होता था। उसका व्यक्तिगत शौर्य जनता में उसको पूज्य और प्रिय बना देता था। महाभारत युगीन वीरों में सेनापतियों का नाम मुख्य है। सेना क्या और कितनी है इसकी कोई चिंता

१—उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साह स्थायिभावकः।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णो यं समुदाद्धृतः॥
आलंबन विभावास्तु विजेतव्यादयो मताः।
विजेतव्यादि चेष्टायास्तस्योद्दीपनरूपिणः।
अनुभावास्तु तत्रस्युः सहायान्वेषणादयः।
सचारिणस्तु धृति-मति-गर्व-स्मृति तर्क रोमाचाः।
स च दानधर्मयुद्धैर्दयया चा समन्वितयचतुर्धास्यात॥

—साहित्यदर्पण परि० ३

नहीं, कौन लड़ने आ रहा है यह ही काफी था। तत्कालीन योद्धा की दूसरी विशेषता थी शौर्य का चरित्रगत होना। नायक के चरित्र में ही शूरता होती थी। वह युद्ध प्रवण, वीर, निर्भीक, साहसी और मरण को पर्व मानने वाला होता था। उसकी तीसरी विशेषता थी प्रतिशोध भावना। यह प्रतिशोध की भावना उसके उत्साह को उद्दीप्त करती थी और वह अपने चरित्रगत शूरता के बलपर विजेतव्य को जीतने चल पड़ता था। इन लड़ाइयों में व्यक्तिगत रूप से वीरता का प्रदर्शन होता था। 'द्वंद्व युद्ध' का तत्कालीन युद्ध प्रणाली का अनिवार्य और महत्त्वशाली अंग होना इसी बात का प्रमाण है। महाभारत में यह वीरता जीवत होकर प्रकट हुई है। यूनानी वीर युग (होमरिक एज) में भी यही बात दिखलाई पड़ती है।

महाभारत युग अर्थात् प्रारभिक वीर युग की यह वीर भावना विकासोन्मुख सामतयुग (५०० ई० पू० से ८०० ई० तक) में परिवर्तित हो जाती है। विकासोन्मुख सामंत युग में भारतवर्ष में केंद्रीय शासन की सुदृढ़ प्रतिष्ठा हो जाती है। यहाँ युद्धों का रूप भिन्न हो जाता है। अनेकानेक विदेशागत शक्तिशाली आक्रमणों से भारतीय नरपतियों को लोहा लेना पड़ता है, राजनीति और कूटनीति का आगमन होता है। वीरता सघटित रूप में प्रकट होती है। प्रत्येक सम्राट की सहायता के लिये मन्त्रिपरिषद की आवश्यकता होती है। शासक की वैयक्तिक और चरित्रगत वीरता की आवश्यकता नहीं रह जाती। राजा का पुत्र शासक होगा ही—इसमें आशका की गुंजाइश नहीं रह जाती। इस युग में जो साहित्य रचित हुआ है वह प्रायः शाति युग का साहित्य है जिसमें वीरत्वव्यजक भावचित्रण का आभाव सा है। प्रायः वीरता प्रशसात्मक होकर वर्णित हुई। इस प्रकार इस युग में व्यक्तिगत और चरित्रगत वीरता का सर्वथा अभाव न होते हुए भी आरोपित और मौखिक वीरता का वर्णन अधिक दिखलाई पड़ता है।

विकासोन्मुख सामतयुग के बाद ह्रासोन्मुख सामंतयुग का आरभ (८०० ई० से १७०० ई० तक) होता है। यही ह्रासोन्मुख सामत युग हमारा विवेच्य युग है। इसके भी दो भाग है ८ से १२वीं तक का वह भाग जिसमें विघटित इकाइयों वाले हिंदू-शासक या तो परस्पर या फिर सघटित मुगल शासन से युद्ध करते रहते है। 'पृष्ठभूमि' में ८वीं से १२वीं शताब्दियों के बीच में होने वाले अपभ्रंश काव्य के राज्य-क्षेत्रों तथा उनके बीच होने वाले

परस्पर युद्धों का परिचय दिया जा चुका है। इस युग की विशेषता का निरूपण करते हुए महापंडित राहुल सांकृत्यायन कहते हैं कि 'उस वक्त के सामंत बच्चे को तलवार का चरणामृत दिखलावटी नहीं पिलाया जाता था, बल्कि दरअसल उसे बचपन से ही मरने-मारने की शिक्षा दी जाती थी। मौत से खेल करने के लिये वह हरवक्त तैयार रहता था। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदियों के कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं की बड़ी बड़ी वीरताओं का वर्णन किया है, लेकिन वह अधिकांश थोथी चापलूसी है, यह हमें मालूम है। हमारी इन पाँच सदियों में सामंत वस्तुतः निर्भय वीर होते थे। उनके देश-विजयों के बारे में कवि अतिशयोक्ति भले ही कर सकता है, लेकिन शरीर पर तीरों और तलवारों के घावों के चिन्हों के बारे में अतिरंजन की जरूरत नहीं थी।'[1] तत्कालीन सामंत शासकों की यह निर्भयता और शूरता प्रारंभिक वीरयुग की ही भाँति थी और राजनीति, कूटनीति, सेना का महत्व आदि विकासोन्मुख सामंतवाद की विरासत थी। इस युग में युद्धों की जो इतनी भरमार दिखलाई पड़ती है वह राज्य बढ़ाने की इच्छा से कम कन्याहरण और अपमान होने पर प्रतिशोध की भावना से अधिक। मुंज और तैलपराज चालुक्य के बीच होने वाले सत्रह युद्ध प्रसिद्ध ही हैं। अंततः उसकी हार और तैलप की बहन मृणालवती से अपने प्रेम के कारण उसकी भयंकर मृत्यु, यह भी अपभ्रंश मुक्तक के ज्ञाताओं से अपरिचित नहीं है।

ह्रासोन्मुख सामंत युग के अपभ्रंश तथा हिंदी प्रबंध और मुक्तक काव्यों के अनुशीलन से पता लगता है कि उस समय किस प्रकार शृंगार और वीररस एक दूसरे में घुल मिल गए थे। अपभ्रंश काव्य में जो वीररसात्मक मुक्तक मिलते हैं वे पूर्ववर्ती संपूर्ण काव्यपरंपरा से भिन्न हैं। अपभ्रंश साहित्य के अवतरण के पूर्व भारतीय साहित्य में मुक्तक काव्यरूप में वीररस को उपजीव्य नहीं बनाया गया था। यह अपभ्रंश साहित्य में संपूर्णतया एक नई बात थी जिसका हिंदी की राजस्थानी शाखा में अत्यंत समृद्ध विकास हुआ। अवश्य ही संस्कृत प्रबंधों में वीररस का वर्णन आया है पर वह विशेषतः कथात्मक और प्रशंसामूलक है। पालि और प्राकृत जैसी पूर्ववर्ती लोकभाषाओं में धर्मनीति और शृंगार से संबद्ध साहित्य का सृजन तो हुआ पर वीररसात्मक मुक्तक साहित्य का नहीं। अपभ्रंश का यह सर्वथा नूतन चरण है जिसका सीधा विकास हिंदी में हुआ है।

१—हिंदी-काव्य-धारा, अवतरणिका, पृ० २६।

जिस वीररस का वर्णन हम प्रबंधकाव्यों में पढ़ते हैं वह मुक्तक काव्यों में आकर एकदम भिन्न हो जाता है। प्रबधों में दृष्टि शौर्य के इतिवृत्त के विवरण पर रहती है, लेकिन मुक्तकों में शौर्य के मार्मिक और चुभते हुए स्थलों पर। इस मार्मिकता की अपभ्रश काव्य में अभिव्यक्ति विशेषतः प्रत्येक वीर की सहधर्मिणी के मनोभावों के चित्रण के रूप में हुई है। जैसा कि पृष्ठभूमि विवेचन में अपभ्रश काव्य की नारी के स्वरूप की व्याख्या में दिखाया गया है अपभ्रंश की नारी वस्तुत वीर और युद्ध प्रिय पति के जीवन क्रम में हर्षपूर्वक साथ देने वाली नारी है।

नारी की जो प्रेरक महिमा अपभ्रंश और हिंदी के राजस्थानी के मुक्तक साहित्य में प्रकट हुई है वह सभवत. विश्व के इतिहास में वेजोड़ है। इस अद्वितीयता का कारण तत्कालीन युग-जीवन की वास्तविकता को समझने और उसके सकटों को स्वाभाविक ढग से झेलने वाली नारी का चित्रण है। अपभ्रश और राजस्थानी की नारी अपने पुरुष के साथ रन वन में मरने मारने के लिए तैयार रहती है। वह अपने पति से कहती है कि हमारे और तुम्हारे रण में जाने पर जयश्री को कौन ताक सका है। यम की स्त्री के केश को लेकर बताओ कौन सुखपूर्वक रह सकता है[1] और राजस्थानी की नायिका अपने पति की विजय हुई सुनकर पति के घोड़े की आरती उतार कर और उसे अपने हाथ से थपथपा कर कहती है कि हे कुम्मैत! तुझ पर बलिहारी हूँ।[2] ऐसा है यह पति के युद्ध विजय का हर्षोल्लास। इसी आनुभूतिक वीरता को जो कि अपभ्रंश और राजस्थानी काव्य का मुख्य बल रहा है— लक्ष्य में रखकर रवि बाबू ने लिखा था 'अपने रक्त से राजस्थान ने जिस साहित्य का निर्माण किया है, वह अद्वितीय है और उसका कारण भी है। राजपूताना के कवियों ने जीवन की कठोर वास्तविकताओं का स्वय सामना करते हुए युद्ध के नक्कारों की ध्वनि के साथ स्वाभाविक काव्य गान किया। उन्होंने अपने सामने साक्षात् शिव के ताडव की तरह प्रकृति का नृत्य देखा

१—पइ मइ वेहिवि रणगयेहिं को जयसिरि तक्केइ।
केसहि लेप्पिणु जमघरिणि भण सुहु को थक्केइ।
हेमचद्र प्राकृत व्याकरण।

२—फर पुत्रकारे घण फदै, जाण धणी री जैत।
नीराजण वाधावियो, हूँ वलिहार कुमैत ॥६३ डिगल में वीररस।

था। क्या आज कोई अपनी कल्पना द्वारा उस कोटि के काव्य की रचना कर सकता है ? राजस्थानी भाषा के प्रत्येक दोहे में जो वीरत्व की भावना और उमंग है वह राजस्थान की मौलिक निधि है और समस्त भारतवर्ष के गौरव का विषय हो रही है। वह स्वाभाविक सच्ची और प्रकृत है।'[1] अपभ्रंश के वीररसात्मक मुक्तकों पर भी इसलिये लागू होती है कि अपभ्रंश के ये मुक्तक भी राजस्थान और सौराष्ट्र में ही रचित हुए थे। अपभ्रंश मुक्तककालीन परिस्थितियाँ भी विशेष भिन्न नहीं थीं।

इन मुक्तकों में वीर दम्पत्ति जीवन की छोटी छोटी अनुभूतियाँ चित्रित हुई हैं। यह शत शत चित्र प्राय. समान रूप से अपभ्रंश और राजस्थानी में पाये जाते हैं। नीचे इस प्रकार के कुछ दोहों को उद्धृत करके उनके उन साम्यमूलक तत्वों को देखेंगे जो उन्हें एक परंपरा का सिद्ध करते हैं तथा उन वैषम्यमूलक तत्वों को भी लक्ष्य करेंगे जो तीन चार शताब्दियों में, अपभ्रंश काव्य के विपरीत, हिंदी राजस्थानी मुक्तक काव्य में विकसित हुए।

अपभ्रंश की एक कन्या कहती है:—

आयहिं जम्महिं अन्नहिं वि गोरी सु दिज्जहि कंतु।
गय मतहं चत्तकुसहं जो अब्भिडइ हसंतु॥[2]

हे गौरी, इस जन्म में और उस जन्म में वही कंत देना जो त्यक्तांकुश प्रमत्त गजों से हँसता हुआ भिड़ जाय। डिंगल की कन्या कहती है कि पाणिग्रहण के अवसर पर हथेली पर के तलवार की मूठ के से निशान मेरे हाथ में चुभने से, हे माता ! मैं समझ गई कि युद्ध में अकेले हो जाने पर भी वे प्रिया मेरे चूड़े को नहीं लजावेंगे।

हथलेवे की मूठ किए, हाथ विलग्गा माय।
लाखा वातां हेकलौ, चूड़ी मों न लजाय॥[3]

१—Modern Review, December 1938, P. 710. The Charans of Rajputana.

२—प्रा० व्या० ४।३७६।२

३—डिंगल में वीर रस, कविराजा सूर्य्यमल्ल ५।६२

अपभ्रंश में वर्णित एक कन्या कहती है 'मेरे कन्त के गोष्ठ में स्थित यदि कोई झोपड़ी जलने लगती है तो वह उस अग्नि को या तो दूसरे के रक्त से या फिर अपने ही रक्त से बुझा देता है।

> महु कन्तहो गुट्ठठि अहो कउ झुम्पडा वलन्ति ।
> अह रिउ रुहिरें उल्हवइ अह अप्पणे न भन्ति ॥[1]

राजस्थानी की नायिका भी उन शत्रुओं को वर्जित करती है जो दुस्साहस-वश उसके पति के सो जाने पर चले आए हैं वह कहती है कि उन्हे मत छेड़ो। तुम्हारे लौट जाने से तुम्हारी स्त्रियों का चूड़ा (सौभाग्य) चिरजीवी होकर सम्मान पाएगा।

> नींदाणौ गिण टेकलौ, पुलौ न छेड़ौ पीव ।
> जाय पुजावौ पाव ही, चूडौ धण चिरजीव ॥[2]

एक ही बात है पति के गोष्ट में चोरी से हानि पहुँचाने वाले या दुर्भा-वनावश आने वाले लोगों के लिये दोनों नायिकाओं के पति कालस्वरूप कहे गए है।

अपभ्रंश की नायिका को उनके पति का सिंह से उपमित किया जाना अपमानजनक लगता है क्योंकि सिंह तो अरक्षित गजों को ही मारता है लेकिन उसका पति जिन गजों को मारता है वे पदरक्षकों से युक्त होते हैं।

> कंत जु सीहहो उवमि अइ तं महु खडिउ माणु ।
> सीहु निरक्खम गय हणइ पिउ पय रक्ख समाणु ॥[3]

डिंगल में वर्णित नायिका का पति यदि सिंह से ही उपमित हुआ तो भी कोई हर्ज नहीं। आखिर सिंह ही क्या कम है। पजे के बल पर सिंह हृदय में निडर है, उसकी समानता करने वाला कोई भी दूसरा नहीं। सिंह अकेला ही घूमता है। सिंहों का साथी कौन ?

१—प्रा० व्या० ४।४१६।१

२—डिंगल में वीररस, कविराज सूर्यमल्ल १०।६४

३—प्रा० व्या० ८।४१८।

हाथल बल निमै हियाँ, सरभर न को समत्व।
सींह अकेला संचरै, सीहा केहा समत्थ ॥[1]

बहुत दिन हो गए थे लड़ाई हुए। रण दुर्भिक्ष में बेचारे दोनों भग्न हो गए थे। विना जूझे मन माने तो कैसे? इसलिये पत्नी कहती है कि हे प्रिय उस देश में चलो जहाँ खड्ग व्यापार होता हो।

खग्ग विसाहिउ जहिं लहहुँ पिय तहि देसहिं जाहुँ।
रण दुब्भिक्खे भग्गाइं विणु जुज्झें न वलाहुँ ॥[2]

राजस्थानी की नायिका कहती है 'हे सखी! मुझे कायर पुरुषों का पड़ोस अच्छा नहीं लगता। मैं उस देश पर बलिहारी जाती हूँ जहाँ मस्तक मोल बिकते हैं। हे सखी! उस देश में तो आग ही लगा दो जहाँ मतवाले योद्धा नहीं घूमते हैं। घायल नहीं चक्कर खाते हैं और जहाँ बहादुर को बेचारा कहा जाता है। और देश तो वह है जहाँ गिद्धनी थपथपी देती है चील सर चाँपती है और पति पखों के झपेटों में सोते हैं।

नहं पड़ोस कायर नरां, हेलि वास सुहाय।
बलिहारी उण देख री, माथा मोल विकाय ॥[3]
मतवाला घूमै नहीं, नहं घायल घरणाय।
बाल सखी ऊ देसड़ौ, भड़ बापड़ा कहाय ॥[4]
देवै गीधड़ दुरबड़ी, समली चंपे सीस।
पंख झपेटां पिव सुवे, हूं बलिहार थईस।[5]

यह है वीर प्रसू राजस्थान।

अपभ्रंश की नायिका कहती है कि स्वामी का प्रसाद है, प्रिय सलज्ज है, उसका निवास सीमावर्ती प्रदेश में है प्रिय को बाहुबली देख कर के वह निःश्वास छोड़ती है।

१—डिंगल में वीररस, बाँकीदास १६।६७
२—प्रा० व्या० ४।३८६।१
३—राजस्थानी भाषा और साहित्य ५।७६
४—वही, २।७६
५—राजस्थानी भाषा और साहित्य ३।७६

सामि पसाउ सलज्ज पिय सीमा संधिहि वासु ।
पेक्खिवि बाहु बलुल्लडा धण मेल्लवि नीसासु ॥[१]

डिंगल की नायिका की भी कुछ ऐसी ही अवस्था है । एक सखी अपनी एक सखी की अवस्था पर तरस खाकर तीसरी सखी से कहती है कि हे सखी ! वैरी के घर के पास इसका निवास है, जहाँ सदा तलवार खनकती रहती है । कौन जाने इस नवोढ़ा के भाग्य में सुहाग कितने दिनों का मेहमान है ।

वैरी बाढ़ै बासड़ौ, सदा खणकै खाग ।
हैली के दिन पाहुणौ, ऊढ़ा भाग सुहाग ॥[२]

अपभ्रंश का नायक कहता है कि हे मुग्धे हम थोड़े हैं तथा शत्रु अधिक हैं इस प्रकार कायर लोग सोचते हैं । जरा देखो तो गगनतल को कितने नक्षत्र उद्योतित करते हैं ।

अम्हे थोड़ा रिउ बहुअ, इमि कायर चिंतंति ।
मुद्धि निहालहि गयणतलु कइ उज्जोइ करंति ॥[3]

डिंगल का कवि अपने वीरत्व की व्यंजना में कहता है कि उन कुपुरुष कायरों को धिक्कार है जो जीने के लोभ से शत्रु को युद्ध में देखते ही मुँह में तिनका ले लेते हैं । शूरवीर युद्ध के लिये मुहूर्त नहीं पूछता, शूर शकुन नहीं देखता । वह मरने में ही मंगल समझता है ।

कापुरसां फिट कायरां, जीवण लालच ज्याह ।
अरि देखे आराण मैं, तृण मुख मांझल त्याह ।
सूर न पूछे टीपणौ, सुकन न देखे सूर ।
मरणा नू मंगल गिणै, समर चढ़ै मुख नूर ॥[४]

१—प्राकृत व्याकरण ४।४३०।१

२—डिं० मे वीर० ५४।१०४

३—प्रा० व्या० ४।३७६।१

४—डिं० वी०—२ और ३, पृष्ट ६५, बांकीदास ।

अपभ्रंश का नायक युद्ध में गया है। नायिका उसकी भीषण युद्ध कला का वर्णन करती हुई कहती है, 'जहाँ शरों से शर काटे जाते हैं तथा तलवार से तलवारें। वही पर भटो की घटा को चीरकर के कंत मार्ग को प्रकाशित करता है।

जही कप्पिज्जइ सरिण सरु, छिज्जइ खग्गिण खग्गु।
तहिं तेहइ भड-घड निवहि कंतु पयासइ मग्गु।[1]

हे सखी मेरे शूर पति को देख। घोडे की वाग उठाकर वह अकेला ही इस तरह शत्रु-सैन्य का शोषण कर रहा है, जिस तरह कोई शरावी शराव के प्याले को पी रहा हो।

देख सहेली मो धणी, अज को वाग उठाय।
मद प्यालां जिम एकलौ, फौजां पीवत जाय ॥[2]

अपभ्रंश की नायिका कहती है हे सखी! अपने वल को भग्न होते तथा दूसरे के बल को वढ़ते देखकर मेरे प्रिय का कृपाण शशि रेखा के समान उन्मीलित होता है।

भग्गउं पेक्खिवि निअय बलु, पसरिअउं परस्सु।
उन्मिलइ सहिरेह जिवं करि करवालु पियस्सु ॥[3]

डिंगल की नायिका कहती है हे सखी! मेरा पति बांकपन से भरा हुआ है। युद्ध में वह इस तरह प्रफुल्लित होता है जिस तरह वसत में वृक्ष।

सखी अमीणो साहिवाँ, वांकम सूं भरियोह।
रण विकसे रितुराज में ज्यूं तरवर हरियोह ॥[4]

एकदम उत्फुल्ल होकर अपभ्रंश की नायिका कहती है कि सैकड़ों लड़ाइयों में जो वखाना गया है उस हमारे कत को देखो। देखो अतिमत्त त्यक्तांकुश -गजों के कुम्भस्थल को वह विदीर्ण कर रहा है।

१—प्रा० व्या०—४।३५७।१

२—डिं० में वी० सूर्य्यमल्ल, १५।६५

३—प्रा० व्या०, ४।३५४।१

४—डिं० में वी० बांकीदास ११।६६

संगर सएहिं जो वरिणअइ, देक्खु अम्मारा कंतु ।
अइमत्तह चत्तकुसह गय कुम्भइं दारन्तु ॥[1]

पति रूपी सिंह ने हाथी का कुभस्थल फोड़ दिया है जिससे गजमोती बिखर पड़े । ऐसा जान पड़ता था मानो काले बादल से ओले बरसने लगे हों। लगभग दोनों में भावों की ओजस्विता एक है ।

केहर कुभ विदारियौ, गज मोती खिरियाह ।
जाणे काला जलद सू, ओला ओसरिहया ॥[2]

अपभ्रंश की नायिका उत्साह और उमग से भर कर कहती है हे माँ ! ये जो वज्रकठोर पयोधर आलिंगन-समय में प्रिय का सामना करते हैं ये ही मेरे कत के समरांगण में हाथियों की घटा को विदीर्ण करें । प्रेम का यह उत्साह दान अद्भुत है ।

अम्मि पओहर वज्जया निच्चु जे समुह थन्ति ।
महु कन्तहो समरगणइ गय घट भज्जिउ जन्ति ॥[3]

डिंगल की नायिका और अधिक हुलास से कहती है हे सखी ! मैं तुमसे एक आश्चर्य की बात कहती हूँ । मेरे पति घर में तो मेरी भुजाओं में समा जाते हैं । परतु युद्ध की हाक सुनते ही वे मरण-प्रेमी इतने फूलते हैं कि कवच में भी नहीं समाते ।

हूँ हेली अचरज कहूँ, घर में बाथ समाय ।
हाकाँ सुणता हूलसे, मरणौ कौंध न माय ॥[4]

नायिका सोचती है कि यदि वरपक्ष वाले भगे हैं तो निश्चय ही मेरे पति के युद्ध-शौर्य के कारण । अथवा यदि हमारे पक्ष के लोग भगे हैं तो उसके मारे जाने के कारण ।

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झि पिएण ।
अह भग्गा अम्भहं तणा तो तें मारिअडेण ॥[5]

१—प्रा० व्या०, ४।३८५।१
२—डिं० में वीं० बाकीदास २२ ६६
३—प्रा० व्या० ४।३९५।१
४—डिं० में वी,०—सूर्यमल्ल, ५५।१०४
५—प्रा० व्या० ४।३७९।२

एक दिन ऐसे ही युद्ध से कुछ व्यक्तियों को भागते देखकर राजस्थानी की नायिका ने भी कहा था कि हे सखी ! यदि शत्रु भाग गए हों तो मोतियों की थाल सजा ला जिसमे विजयी पति की आरती उतारूँ, और यदि अपने ही लोग भाग चले हों तो प्राणनाथ का साथ मत बिछुड़ने दे अर्थात् सती होने की सामग्री प्रस्तुत कर ।

> जे खल भग्गा तो सखी, मोतीहल सज थाल ।
> निज भग्गा तो नाहरो, साथ न सूनो टाल ॥[1]

अपभ्रंश की नायिका युद्ध में पति के साथ गई थी। लौटने के बाद वह पति से कहती है कि हमने और तुमने जो किया उसको बहुत से लोगों ने देखा । क्योंकि उतना बड़ा युद्ध हम लोगों ने एक क्षण में जीत लिया ।

> तुम्हेहिं अम्हेहि ज कियउं दिट्ठउ बहुअ जणेण ।
> तं तेवड्ड उ समर भरु निज्जउ एक्क खणेण ॥[2]

राजस्थानी की नायिका पति के संग रण में तो नहीं गई थी पर रण में विस्फोट की आवाज सुनकर अब उससे रहा नहीं जा रहा है और वह अपनी भावज से ललकारकर कहती है कि हमलोगों ने घोड़े की सवारी किस दिन के लिए सीखी थी । यह दूर पर गोले फूटने की आवाज हो रही है, क्या देखती हो हाथ में लगाम लो ।

> घोड़े चढ़णो सीखिया, भाभी किसणो काम ।
> बंब सुणी जै पार रो, लीजै हाथ लगाम ॥

बैरी घने हैं प्रिय अकेला, तो क्या हुआ अपभ्रंश का नायक कहता है कि तो क्या बादलों पर चढ़ आऊँ । हमारे भी तो दो हाथ हैं, मार करके तब मरेंगे ।

> हिअडा जइ वेरिअ घणा तो कि अब्भि चडाहुं ।
> अम्हाहिं वे हत्थडा, जइ पुणु मारि मराहुं ॥[3]

१—हिं० में वी० सूर्यमल, ४६२

२—प्रा० व्या० ४।३७१

३—प्रा० व्या०, ४।४३६

शूर को अपना भरोसा रहता है। और सिंह को भी अपना ही। ये दोनों भिड़ने के बाद भागते नहीं न तो इन्हें मरने का कभी भय रहता। डिंगल कवि कहता है।

सूर भरोसै आपरै, आप भरोसे सीहं।
भिड़ दुहु ए भाजै नहीं, नहीं मरण रौं बीह॥[1]

और इस प्रकार जूझते हुए यदि मरण की वेला आ ही गई तो क्या हुआ। प्रिया की श्रद्धा चकित और उत्साहमत दृष्टि सामने जो है। क्या हुआ यदि पाँव में अतड़िया लगी हैं, सिर कंधे से लटक गया है, हाथ तो कटार पर अब भी है। क्यों न प्रिया ऐसे कंत की बलिहारी जाय।

पाइ विलग्गी अन्त्रडी सिरु ल्हसिउ खन्धस्सु।
तौ वि कटारई हत्थडउ बलि किज्जउ खन्धस्सु॥[2]

राजस्थान का प्रत्येक वीर मरण को पर्व मानता है। वह एक ज्योतिष्क पिंड के समान आता है सम्पूर्ण आकाश को चकाचौध करके उल्का की तरह संसार को छोड़कर चला जाता है हृदय में प्रकाश की एक किरण खींच कर। हे सखी! पति बहुत से घावों से छिदे हुए आते नजर आ रहे हैं। रास्ता रक्त के बहने से कुकुम वर्ण का और उनका श्वेत अश्व मजीठ के रंग का हो गया है। हे पथिक! मेरे पिता से एक संदेश कह देना। जब मैं पैदा हुई थी तो थाली भी नहीं बजी थी। अब तो पति के युद्ध में वीरगति प्राप्ति कर लेने के पश्चात जब मैं सती होने को जा रही हूँ तब मेरे आगे ढोल बज रहे हैं।

बब घावा छकिया बणा, हेली आवै दीठ।
मारगियौ कुकू वरण, लीलौ रंग मजीठ॥
पथी हेक संदेसड़ो, बावल नै कहियाह।
जाया थाल न बज्जिया, टामक टहरहियाह॥[3]

१—डिं० में वी०, बांकीदास ६।६६

२—प्रा० व्या०, ४।४४५

३—राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ० ७६, पर उद्धृत।

राजस्थान का कवि उस सैनिक पर वारवार वलिहारी जाता है उसकी प्रशंसा करने में अपनी, काव्य प्रतिभा को असमर्थ मानता है जिस वीर का सर कट जाने पर भी धड़ जमीन पर नहीं गिरता और हाथ तलवार चलाते रहते हैं।

भडां जिकांई भामणौ, कैहा करूँ वखांण।
पडियै सिर धड नह पड़ै, कर वाहै केवांण॥[1]

+ + +

इस संपूर्ण विवेचन के पश्चात् यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वीररसपरक भावनाओं की दृष्टि से अपभ्रंश की परंपरा का हिंदी में सीधा विकास हुआ है। लेकिन मध्य में कुछ शताब्दियों के अंतर के कारण दोनों काव्यों में सांस्कृतिक परिवेश का थोड़ा अंतर अवश्य पड जाता है। अपभ्रंश-युग से हिंदीयुग का सांस्कृतिक परिवेशगत अंतर मुख्यतया मुसलमानों के आक्रमण और उनके राज्यस्थापन को लेकर होता है। अपभ्रंश युग में जब लड़ाई परस्पर हिंदू राजाओं में ही होती थी जो हर्षवर्द्धन के केंद्रीय शासन के विखर जाने से विखर गए थे तो हिंदीयुग की लड़ाइयाँ प्रायः मुसलमानों और अदम्य हिंदू राजाओं के बीच में होती रहीं। आरंभिक युद्ध तो वे युद्ध हैं जो मुसलमानों के आक्रमण के समय हुए। दूसरे युद्ध हैं जो मुगल शासकों के शिथिल हो जाने पर हुए। पृथ्वीराज रासो के विशाल प्रामाणिक-अप्रामाणिक वस्तु संकलन के भीतर ऐसे अनेक युद्ध आते हैं जो एक ओर तो पारस्परिक हिंदू राजाओं के मध्य होते हैं दूसरी ओर मुहम्मद गोरी के सेनापतियों के साथ होते हैं। उस युग के अनेक वीर काव्यों में इन दोनों युद्धों के रूप मिलते हैं। लेकिन बाद में चलकर औरंगजेब के समय में—जैसा कि कहा जा चुका है शिवाजी और छत्रसाल आदि से ही युद्ध शौर्य संबधित होकर रह गया। यों छोटे मोटे प्रबंधात्मक ग्रंथ रीतिकालीन राजाओं को लेकर भी लिखे गए पर उनमें वर्णित वीर भावना मौखिक प्रशंसात्मक, आरोपित और प्रायः कवित्व-हीन है। केवल भूषण की कविता में शौर्य वर्णन की वास्तविक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि भूषण के कवित्तों में राजस्थान के वीररसात्मक मुक्तकों में उभरनेवाली आनुभूतिक प्राणवत्ता नहीं आ

१—डिंगल में वीररस—बांकीदास, ८।६६।

पाई है। भूषण के अधिकांश कवित्तों में शौर्य वर्णन का वास्तविक स्वरूप रीतिकालीन आलंकारिक मनोवृत्ति से दब सी गई है। अतिशयोक्तियों, उत्प्रेक्षाओं, उपमाओं, यमकादि का विशाल ठाट अपना एक अलग सौंदर्य अवश्य रखता है परंतु हृदय की स्वाभाविक अनुभूतियों का संकलन, युद्धवीर सैनिक की प्रिया की मनःस्थिति की पहचान, भारतीय ललना का ओजस्वी नारी रूप यह उसमें बहुत कम आया है। भूषण के एक कवित्त का उदाहरण पर्याप्त होगा।

इंद्र जिमि जंभ पर वाड़व सुअंभ पर
रावन सदंभ पर रघुकुल राज है।
पौन वारिवाह पर संभु रतिनाह पर
ज्यों सहसबाहु पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुमदंड पर चीता मृग झुंड पर
भूषण बितुंड पर जैसे मृगराज है।
तेज तमअंश पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण भूषण में मिलेंगे। अवश्य ही भूषण में वीर रस का स्थायी भाव उत्साह उनके चित्रण कौशल से अत्यधिक प्रस्फुटित हुआ है, युद्ध प्रस्थान वेग, युद्धावेश आदि का बड़ा ही सफल चित्रण हुआ है लेकिन फिर भी वीर और शृंगार का दो पंक्तियों के दोहे में बँधने वाला मार्मिक संगम भूषण आदि में दुष्प्राप्य है। यह आश्चर्य की बात है कि भूषण का अवतरण (वि० सं० १६७० से १७७२ वि० सं०) लगभग उसी समय हुआ था जिस समय राजस्थान के महान कवियों दुरसाजी (वि० सं० १५९३ से १७१२ वि० सं०) बाँकीदास (१८२८ वि० सं० से १८९० वि० सं०) कविराजा सूर्य्यमल्ल (१८७२ वि० सं० से १९२० वि० सं०) आदि का होता है। परंतु आश्चर्य की बात यह है कि भूषण में वीर जीवन की वह समग्रता, तलवार का चरणामृत पीकर जन्म लेना और उसी की धार पर चढ़कर सोत्साह इहलीला समाप्त करते हुए सती पत्नियों के साथ जलना यह सब नहीं मिलता। इस प्रकार अपभ्रंश के वीर मुक्तक काव्य का सीधा विकास प्रायः हिंदी की डिंगल शाखा में हुआ है, पिंगल शाखा में नहीं।

जैसा कि कहा जा चुका है अपभ्रंश की वीर भावना का डिंगल में सीधा विकास होते हुए भी डिंगल में कुछ नए तत्व आ गए हैं। इन तत्वों में सबसे

प्रमुख तत्व सती प्रथा का है। हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण, प्रबंध चिंतामणि आदि ग्रंथों में प्राप्त फुटकल वीररसात्मक मुक्तकों में सती तत्व कहीं नहीं पाया जाता। अपभ्रंश की नायिका यह तो अवश्य कहती है—

भल्ला हुआ जु मारिआ वहिणि अम्हारा कंतु।
अइमयह चत्तंकुसह गय कुम्भहं दारंतु॥[1]

डिंगल की नायिका भी इतना तो अवश्य कहती है कि कंत! भले घर पधारे। लो मेरा वेश धारण कर लो। अब इस लज्जित चूड़ियों वाली पत्नी से तो दूसरे ही जन्म में भेंट कर सकेंगे।

कंत भलां घर आविया, पहरीजे मो वेस।
अब धण लाजी चूडियाँ, भव दूजै मेटेस॥[2]

लेकिन इसके अतिरिक्त वह सती होने के अवसर को जो परम सौभाग्य मानती है यह अपभ्रंश में दुष्प्राप्य है। डिंगल की नायिका कहती है कि हे भाई! तू मुझे लेने को आया है। लेकिन मेरे पति रण की ओर प्रयाण कर चुके हैं। अब मैं तेरे साथ पीहर नहीं जाऊँगी। सती होने को जाऊँगी। फिर वह अपनी सखी से कहती है कि हे सखी! मेरी और प्रियतम की यह जोड़ी और यह प्रेम स्वर्ग तक निभ जाएगी। क्योंकि मेरे पति के देश में साथ जलने की प्रथा है।

वीरा लेवण आवियो, पिउ रण हुआ वहीर।
अब तो वलवा जावस्या, अब नहं आवां पीर॥
सुरपुर तक निभ जायसी, या जोड़ी या प्रीत।
सखी पिऊ रै देसड़े, संग बलवा री रीत॥[3]

इस प्रकार की सती होने की आकांक्षा से डिंगल का वीररसात्मक मुक्तक काव्य अतिशय सरस और मार्मिक हो उठा है।

सब मिलाकर अपभ्रंश के वीररसात्मक मुक्तकों का हिंदी की डिंगल शाखा में बिलकुल सीधा विकास हुआ है। इसमें अभूतपूर्व प्राणवत्ता है। इस

१—प्रा० व्या०, ४।३५१

२—डिं० में० वी०, सूर्य्यमल्ल २१।६६।

३—राजस्थानी भाषा और साहित्य, प० मोती लाल मेनारिया, पृ० २

प्राणवत्ता के कारण की ओर सकेत करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि—'इन दोहों में एक बहुत ही महत्वपूर्ण नई बात यह है, कि स्त्रियों के मुख से अपने वीरपतियों के सबध में अपूर्व दर्पोक्तियाँ कहलाई गई हैं। इसके पूर्व के साहित्य में इस श्रेणी की रचनाएँ क्वचित् कदाचित् ही मिलती हैं। राजस्थानी के साहित्य में यह विशेषता प्रचुर मात्रा में सुरक्षित हुई हैं।' निश्चय ही शूरजीवन की यह समग्रता अर्थात् जन्म, कैशोर्य, यौवन वार्धक्य, विवाह, मरण, सब में वीरभावना की यह पूर्णता अन्यत्र दुष्प्राप्य है।

———

नीतिपरक मुक्तक

व्यक्ति के परिस्थिति सापेक्ष आचारों से संबंधित तत्वदर्शन का नाम नीति है। व्यक्ति के ये आचार जिस तरह से कई प्रकार के हो सकते हैं उसी तरह उनके तत्वदर्शन की दृष्टि भी कई प्रकार की होती है। व्यक्ति के आचार धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक कई प्रकार के हो सकते हैं उसीप्रकार इनका विवेचन करने वाले विषय भी धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र आदि कई प्रकार के नामों से अभिहित होते हैं। धार्मिक तत्वदर्शन को अलग रखते हुए भी नीतिपरक रचनाओं में एक प्रकार की सर्वधर्म अविरोधी आधारभूत नैतिक मान्यताएँ आ जाती हैं यद्यपि उसकी अविरोधिता की सीमा परिस्थितियाँ ही बनाती हैं। नीतिपरक कविता में सामान्य तथा किसी मानवखंड के आचार व्यवहारों के निरीक्षण से प्राप्त एक प्रकार की परंपरागत बुद्धिमत्ता (ट्रेडिशनल विजडम) प्रभावशाली और काव्यात्मक शैली के भीतर काम करती है।

यों तो संपूर्ण भारतीय काव्य नीतितत्व से अनुप्राणित है लेकिन नीतिपरक काव्य में यह तत्त्व अपना प्रत्यक्ष और स्वतंत्र स्वरूप प्रकट करता है। महाकाव्यों, काव्यों और नाटकों आदि में यह मनोवृत्ति अंतर्यमित है जबकि नीतिपरक काव्य में स्वतंत्रतया अभिव्यक्त। इस प्रकार की कविता का आरंभिक रूप ऋग्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण, उपनिषदों, सूत्रग्रंथों, महाभारत आदि में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है, धम्मपद वह प्राचीनतर संकलन है जिसमें उत्कृष्ट रूप में नीतितत्वात्मक रचनाएँ संकलित हुई हैं। नीतितत्वात्मक रचनाएँ लोक की अवसरोचित मान्यताएँ है।[१] इसीलिये संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी सर्वत्र इनमें प्रायः समान भावपरक उक्तियों की विचित्र क्रम-परंपरा प्राप्त होती है। यही समाज की परंपरागत बुद्धिमत्ता और भाव-समृद्धि है। इसी कारण इनमें से अनेक उक्तियाँ अक्सर कई कवियों और

१—भाव सरस समझत सबै भले लगै यह भाय।
जैसें अवसर की कही बानी सुनत सुहाय ॥ ३ ॥
नीकी पै फीकी लगै बिनु अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में रस सिंगार न सुहात ॥ ४ ॥
फीकी पै नीकी लगै कहिए समय विचारि।
सबको मन हरषित करै ज्यों विवाह में गारि ॥ ५ ॥

—वृंद सतसई के आरंभ में वृंद कवि द्वारा नीति रचना का उद्देश्य कथन।

संकलयिताओं के नाम से सबद्ध हैं। वस्तुतः भारतीय समाज अपनी भावाभिव्यक्ति के लिये कवियों या आचार्यों के नाम का प्रयोग प्रतीक के रूप में करता आया है। भारतीय सस्कृति की यह विशेषता ऐतिहासिकों की दृष्टि में चाहे कुछ खटके किंतु यह एकमात्र विशेषता सांस्कृतिक स्थायित्व का प्रमाण है इसलिये भारतीय सस्कृति में ज्ञाता और ज्ञेय से ज्ञान का उत्कर्ष माना जाता है। चाणक्य के नाम से युक्त (?)[1] राजनीति समुच्चय, चाणक्य नीति, चाणक्य-राजनीत्ति, वृद्ध चाणक्य, लघु चाणक्य, आदि संकलन, भोजराज, वररुचि, घटकर्पर बैतालभट आदि के नामों से संबद्ध, नीतिमुक्तक, भर्तृहरि का नीतिशतक, काश्मीरी कवि भल्लट की कृतियाँ आदि नीति रचनाएँ अपभ्रंश की नीति-काव्य-परपरा के पूर्व प्राप्त होती हैं। कुछ अधिक उपदेशात्मक और दार्शनिक तत्वों से सवलित पालि के 'अंगुतरनिकाय' की कुछ रचनाएँ महायान मतावलंबी शांतिदेव का 'बोधिचर्यावतार' आचार्य शंकर की शतश्लोकी आदि है। इन सस्कृत नीतिपरक और उपदेशात्मक मुक्तकों की सामान्य विषयवस्तु लोक की आचारिक मान्यताओं के प्रचलित मूल्य होते हैं। लेकिन इनमें भी प्रकृति, व्यक्ति और सामाजिक परिवेश के सूक्ष्म निरीक्षण से प्राप्त अनेक नीतिमूलक अनुभूतियों को विपुल, विविध, समर्थ और प्रसन्न पदावली में व्यक्त किया जाता है। जीवन का हर्ष-विषाद, प्रेम की अस्थिरता और चंचलता, नारी जीवन के दोष और उनके द्वारा उत्पन्न बधन, जीवन का वास्तविक क्रम, वैभव और शक्ति की असारता, जीवन के प्रति थकावट और भृत्यभाव, मानव-प्रयत्नों तथा इच्छाओं की अस्थिरता तथा अयथार्थता एकांत और वैराग्य का आनंद और कभी कभी धोखा और घातक परिहासों के प्रति तिरस्कारपूर्ण दृष्टि इन रचनाओं में प्रकट की गई है।[2] डा० डे के इस कथन

१—A History of Sanskrit Literature by A. B. Keith P. 228.

२—The general theme of all these forms of composition consists of the common places of prevalent ethics, but there are acute observations, abundant and varied, expressed in skilled but often felicitious diction and in a variety of melodious metres on the sorrows and joys of life, fickleness

में सत्यांश होते हुए भी नारी-निंदा, वैराग्य प्रशंसा आदि मनोभाव वैराग्यपरक काव्यों से अधिक संबद्ध हैं जो नीतिकाव्य से भिन्न हैं।

यह कहना व्यर्थ है कि नैतिक मान्यताएँ बहुत कुछ प्रत्येक युग की समसामयिक अर्थव्यवस्था और सांस्कृतिक परिस्थितियों के द्वारा ही टूटती बनती रहती है। समसामयिक अर्थव्यवस्था और सांस्कृतिक परिवेश के अतिरिक्त नीति तत्व के निर्णय में नीति की लक्ष्य वस्तु की तत्सामयिक परिस्थिति भी उत्तरदायी होती है। जैसे सच बोलना बहुत अच्छा है लेकिन हर परिस्थिति में नहीं 'सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रूयात न ब्रूयात सत्यमप्रियम्।' शठता बुरी है पर 'शठे शाठ्यं समाचरेत्'। कभी कभी विशेष प्रकार के धार्मिक दृष्टिकोण से संचालित जीवन में संपूर्ण आचार-व्यवहारों के प्रति एक भिन्न दृष्टि हो जाती है। जैसे कुछ धर्म अपने एकांत मानवतावाद के कारण किसी भी परिस्थिति में प्रतीकार के सिद्धांत को नहीं मानना चाहते। उनके अनुसार अक्रोधेन जयेत क्रोधं।[1] कभी कभी परिस्थिति की भिन्नता पर विचार करके एकही कवि एकही पक्ष पर दो प्रकार की नीति रचनाएँ कहता है। तुलसी के 'रामचरित मानस' में ऊपरी दृष्टि से परस्पर विरोधी, पर भीतरी दृष्टि से परिस्थितिजन्य नीति की अनेक उक्तियाँ मिलेंगी। इसीलिये नीति साहित्य में 'अवसर' और 'परंपरागत बुद्धिमत्ता' को विशेष महत्व दिया जाता है। इन उक्तियों में से अधिकांश के पीछे 'युग के आर्थिक चक्र का दबाव या फिर परंपरागत बुद्धिमत्ता का इतना बड़ा बल होता है कि इनको सामाजिक आचार व्यवहार को अनुशासित करने का श्रेय प्राप्त हो जाता है। लेकिन कुछ सूक्तियां ऐसी भी अवश्य होती हैं जो मानव हृदय के चिरंतन मूल्यों को

---

and caprics of love, follies of men and wiles of women, right mode of life, futility of pomp and unstability of human effort and desire, delights of solitude and tranquillity as well as witty and sometimes sardonically humorous reflections on the humbug and hoax-History of Sans. Lit. Dasgupta & De. P. 399.

१—सच्चु वि महुरइं उवसमइ, सेयल वि जिय वसि हुंति। चाइ कविचे पोरिसइं, पुरिसहु होइ णं किंचि।

स्पर्श करती हैं यद्यपि उसकी चिरतनता सादृश्यमूलक[1] है क्योंकि नीति का कोई शाश्वत रूप नहीं है। एक ओर नैतिक वृत्तियाँ परिस्थितिजन्य हैं तो दूसरी ओर उनमें परिस्थितियों की सीमा तोड़कर नवनिर्माण करने की स्वतंत्र चेतना भी है।

× × × ×

जैसा कि पृष्ठभूमि विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है अपभ्रंश साहित्य की मुक्तक कविता सामान्यतया ह्रासोन्मुख सामतवादी युग की रचनाएं हैं। बहुत ही स्पष्ट रूप से अधिकाश मुक्तकों में यही ह्रासोन्मुख सस्कृति प्रतिबिंबित हुई है। जैसा कि आगे चलकर दिखाया जायेगा अधिकाश नीतिमुक्तक व्यक्ति और उसके परिस्थितिगत और परिवेशगत सबधों को लेकर लिखे जाते हैं। अपभ्र श और हिंदी युग की नीति कविता में स्वामी और भृत्य के सबध को लेकर बहुत अधिक रचनाएँ लिखी मिलती हैं। इनमें भृत्य की अवशता तथा स्वामी की चापलूसीप्रियता का साफ चित्र उभर जाता है। नीतिपरक उक्तियों के द्वारा युगविशेष की ऐसी अनेक छोटी बड़ी परिस्थितियों का चित्राकन हम पा सकते हैं। नीतिकार इन्हीं परिस्थितियों के बीच में सतुलन खोजता हुआ दिखलाई पड़ता है। ऐसा भी है कि कुछ कवि और तत्वचिंतक समझौते को न मानकर क्रातिकारी आचार दर्शन सामने रखते हैं। सहजयानी सिद्धों, जैन साधुओं, नाथपथी योगियों, सतों आदि की ऐसी बहुत सी रचनाओं की हम परीक्षा कर चुके हैं।

यद्यपि अपभ्रंश और हिंदी नीतिपरक मुक्तक समाजशास्त्रीय दृष्टि से एक ही युग में लिखे गए तथापि दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि अपभ्रंश और हिंदी मुक्तकों में कुछ सूक्ष्म अतर अवश्य हैं। यथासाध्य नीचे इन अतरों को पहचानने का प्रयत्न किया गया है।

(१) अपभ्र श युग की नीति कविता में लघु राज्यों के कारण जटिल दरबारी व्यवहार नीति को उतना बल और महत्व नहीं मिला है जितना मुगलकालीन रहीम आदि कवियों की रचनाओं में।

१—संसार की गतिशीलता के सिद्धात में बाह्यजगत या आतर वृत्तियाँ सभी गतिशील हैं। सादृश्यमूलक समानता ही उनके एकत्व एव चिरतनत्व को प्रतिभासित करती है।

(२) अपभ्रंश में अनेक ऐसे दोहे प्राप्त होते हैं जिनके पीछे आदर्शपूर्ण सामंती साहसिकता के चित्र मिलते हैं किंतु हिंदी नीतिमुक्तकों में यह साहसिकता दब सी गई है। इसी कारण अपभ्रंश के नीतिपरक मुक्तकों में आपेक्षिक दृष्टि से अधिक ताजगी मिलती है।

(३) अपभ्रंश काल में मर्यादावादी भक्ति आंदोलनों का प्रभाव कम है और सिद्धों, जैनियों, नाथों आदि के स्वच्छंदतापूर्ण आंदोलनों का जोर अधिक। धार्मिक परिवेश में जो नीतिपरक मुक्तक लिखे गए वे दोनों युगों में भिन्न भिन्न धार्मिक परिस्थितियों के कारण किंचित् भिन्न हो गए। अपभ्रंश युग के धार्मिक नीतिकारों ने अपने विशिष्ट प्रगतिशील तत्व दर्शन के कारण जब अपनी नीति रचनाओं में विद्रोह और नितांत व्यक्तिनिष्ठ स्वच्छंद सामाजिकता के निर्माण के स्वर को महत्व दिया तो हिंदी के धार्मिक नीतिकारों में कबीर आदि संतों को छोड़कर शेष ने भक्ति युग की मर्यादाप्रियता से परोक्षतः आधार ग्रहण किया। कबीर में पूर्वयुगीन विद्रोह ज्यों का त्यों बल्कि कुछ अधिक विकसित रूप में सुरक्षित है लेकिन तुलसी, वृंद, रहीम आदि में नहीं।

(४) अपभ्रंश युग में कथनप्रणाली में जब कला के ऋजु उपादन गृहीत हुए तो हिंदी युग के रीतिकालीन नीतिकारों में शृंगारिक और आलंकारिक उपादान अपनाए गए हैं।

(५) अपभ्रंश के नीति मुक्तकों में सामूहिक दृष्टि से आदर्शोन्मुखता प्राप्त होती है किंतु हिंदी के नीति मुक्तकों में अपेक्षाकृत व्यावहारिकता। एक में व्यक्ति को आदर्श और उदात्त बनाने का प्रयत्न है दूसरे में सूक्ष्म, जटिल और व्यावहारिक।

अब अपभ्रंश के नीतिपरक मुक्तकों का हिंदी के नीतिपरक मुक्तकों से साम्य दिखाने का प्रयत्न किया जाएगा। जैसा कि कहा जा चुका है नीति रचनाओं में कवि विविध संबंधों को लेकर उनमें औचित्यमूलक युक्तियों का शोध करता है। इस शोध प्रक्रिया में वह बहुत से सबंधों का नीतिमूलक विधान तो करता ही है साथ ही बहुत सी तथ्यात्मक उक्तियाँ भी कहता है।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। नीतिचिंतक धर्माश्रित समाज का सदस्य होने के कारण धार्मिक विश्वासों और रूढ़ियों से अत्यधिक ग्रस्त होते थे। इधर धर्माश्रित मुक्तकों के रचयिता साधक कवि भी कभी कभी नीति-

मूलक उक्तियाँ कहते थे। अपभ्रंश के जैनकवि जोइन्दु, रामसिंह आदि सहजयानी सिद्ध सरहपा, कारहपा, डोंबिपा, आदि, हिंदी के संत कबीर, दादू, रज्जब, सुदरदास आदि, रामोपासक सगुण कवि तुलसीदास आदि में नीतिपरक उक्तियाँ प्राय. धार्मिक रचनाएँ हो गई हैं। धर्म को आधार मानकर सामाजिक जीवन को सयम की शिक्षा देना एक प्रकार से आचारिक मूल्यों को परिवर्तित करना है और यह नीतिकाव्य की सीमा के भीतर ही है किंतु तुलसी सतसई या तुलसीकृत दोहावली की भाँति रामनाम का ग्रहण करके भक्ति भाव पोषक उक्ति कथन नीतिकथन के अंतर्गत नहीं आ सकता। उल्लिखित कवियों की कुछ रचनाएँ तो अवश्य नीतिपरक हैं पर अधिकाश नहीं। यही कारण है कि इस निबध में विशेष वैराग्यपरक उक्तियाँ भी नीतिकाव्य से भिन्न मानी गई हैं :

[१] व्यक्ति और धार्मिक रूढ़ियाँ

(क) भाग्यवाद—सचराचर महीपीठ के सिर पर जिस सूर्य ने अपने पाद (किरण) डाले वह दिनेश्वर भी अस्तमित हो जाता है। भवितव्य होकर ही रहता है उसको रोकने वाला हुआ ही कौन ?

> महवीढ़ह सचराचरह जिणि सिरि दिण्हा पाय।
> तसु अत्थमणु दिणेसरह होठत होठ चिराय॥
>
> —प्र० चिं०, पृ० ९७

रहीम ने भी इस भवितव्य को समझा था—

> भावी काहू ना दही भावी दह भगवान।
> भावी ऐसी प्रबल है कहि रहीम यह जान॥
>
> —रहिमन विलास, ९३।१२६

तैलपराज द्वारा विजित राजा मुज की अधोगति पर आँसू बहाते हुए कवि ने भी उसे समझाया था कि हे रत्नाकर गुण पुज मुज। चित्त में विषाद मत करो, क्योंकि जिस जिस प्रकार विधाता का पटह (ढोल) बजता है उस उस प्रकार इस मनुष्य को नाचना पड़ता है। तुम्हारा वश ही क्या ?

> चित्ति विसाउ न चिंतियइ, रयणायर गुण पुज।
> जिम जिम वायइ विहिपडहु तिम नच्चि जइ मुज॥
>
> —प्र० चिं०, पृ० २९

दो-दो बादशाहों के शासनकाल में कभी स्वेच्छया और कभी परवश कठपुतली की तरह नाचते हुए रहीम ने भी इस मर्म का अनुभव किया था।

ज्यों नाचत कठपूतरी करम नचावत गाथ।
अपने हाथ रहीम ज्यों नहीं आपने हाथ॥
—रहिमन विलास, ६।५८

(ख) नश्वरता—पराजित मुंजराज तैलप के राज्य क्षेत्र में घूमते हुए एक प्रसन्न परिवार को देखकर बोले गर्व क्या? ऐ री भोली मुग्धे! इन भैंस के बच्चों को देखकर गर्व मत करो। मुंज के तो चौदह सौ छिहत्तर हाथी थे पर वे सब चले गए।

भोली मुंधि मा गव्वु करु पिक्खिवि पड्डुरूवाइं।
चउदह सै छहुतरइं मुंजह गयह गयाइं॥ प्र०चि०, पृ० २४

इतना ही क्यों! वह रावण भी कहाँ रहा जिसके पास लंका जैसा गढ़ था, चतुर्दिक सागर जैसी खाई थी और गढ़पति त्रैलोक्य विजयी स्वयं दसशीश था। हे मुंज विषाद मत करो। नाश और निर्माण की अविराम प्रक्रिया ही तो संसार है।

सायरु खाइ लंकु, गढ़, गढ़वइ दसशिर राउ।
भग्ग पइ सो भजि गइ, मुंज म करिउ विसाउ॥ प्र० चि०, पृ० २३

इधर रहीम को भी जान पड़ा था कि,

रहिमन भैषज के किए काल जीति जो जात।
बड़े बड़े समरथ भए तौ न कोउ मरि जात।
—रहिमन वि०, १९।१०५

[२] सामाजिक संबंध और उसकी नीतिपरक व्यवस्थाएँ—

स्वामी और भृत्य—नीति काव्यों में राज्य की कृपा पर आश्रित प्रायः सारा वर्ग 'भृत्यवत' समझा गया है। इन मुक्तक काव्यों में उस राजा की प्रशंसा की गई है जो राज्य के वास्तविक शुभचिंतकों की पहचान करता है और चापलूसों को वर्जित करता है। विशेषतः उस समय का कलाकार और काव्यकार वर्ग राज्याश्रय का मुहताज सा था। केवल भक्तियुग का कवि ही इस परंपरा का अपवाद था शेष संपूर्ण मध्यकालीन कवि और कलाकार

परंपरा इन्हीं राजाओं के कृपाश्रय में फलती-फूलती रही। रहीम आदि ने राज्य कृपाश्रितों पर जो इतना लिखा है वह इसी कारण कि उनको इसके कटु या मृदु अनुभव प्राप्त थे। मध्यकाल में राज्याश्रय कितना आवश्यक था, इस पर प्रकाश डालते हुए अपभ्रंश कवि कहता है कि या तो स्वयं प्रभु हो या फिर एक योग्य प्रभु का प्रिय हो। काम करने वाले मनुष्यों के लिये तीसरा मार्ग नहीं है—

आपणपइं प्रभु होइयइ कइँ प्रभु कीजइ अत्थि।
काज्जु करेवा माणुसह तीजउ मग्गु न अत्थि॥
—प्र० चि०, पृ० ८१

रीतिकालीन सूक्तिकार वृंद ने भी अनुभव किया था कि,

छाड़ि सबल अरु निवल की कबहुँ न गहिए ओट।
जैसें टूटी डार सों लगैं विलबै चोट॥
स० स०, वृ० स०, २४२।३०५

इनमें से जो मूढ़ सामंत होते थे वे चापलूसों के गिरोह का समान करते थे और सुभृत्यों का परित्याग। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अपने ऊपर तो तृणों को बहने देता है और रत्नों को पदतल में डाल देता है।

सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ समाणेइ खलाइं॥
—प्रा० व्या०, ४।३३४।१

वावा दीनदयालगिरि को यह वात पसंद नहीं आई उन्होंने सीधे सीधे सुभृत्यों को ऐसे राज्य दरवारों में जाने से निषेध कर दिया है,

नहि विवेक जेहि देस में तहाँ न जाहु सुजान।
दच्छ जहा के करत हैं करिवर खर सम मान॥
—दृष्टांत तरंगिणी, दीनदयालगिरि ग्रंथावली, २६।७५

पर सभी सामंत ऐसे नहीं थे उनमें से अधिकांश के सामने स्वामी का महान आदर्श भी था। उनके सामने महाद्रुम का वह आदर्श था जो उन समस्त पल्लवों को अपने गोद में लिये रहता है जो लोगों के द्वारा फलों के चुन लिये जाने के बाद वृक्ष वच रहते हैं।

वच्छेहे गृण्हइ फलइ जगु कडु पल्लव वज्जेइ ।
तो वि महद्दुम सुअणु जिवं ते उच्छंगि घरेइ ॥
—प्रा० व्या०, ४।३३६

रहीम ऐसे सभी राज्यकृपाश्रित, अमरवेल की तरह जीनेवाले व्यक्तियों को लक्ष्य करके कहते हैं कि,

अमरबेल बिनु मूल की प्रतिपालत है ताहि ।
रहिमन ऐसे प्रभुहि तजि खोजत फिरिए काहि ॥
—रहिमन विलास, २।८

निर्धन और धनिक—सामंतवादी युग में भी आर्थिक विषमता काफी मात्रा में होती है। इस प्रकार के गठन के समाज में निर्धनों को संमान मिलना एक समस्या बन जाती है। संमान धर्म आदि सामंत का एकमात्र प्रासव्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में असंमानित शासित वर्ग से उठने वाले काव्यकार के संमान का एकमात्र दाता वही सामंत ठहरता है। सामाजिक और आर्थिक विषमताओं में टूट गया ऋद्धिविहीन मनुष्य यह दोष अपने भाग्य के मत्थे में मढ़ लेता है। नीतिकार अपने इस प्रकार के विश्वास को दुहराता है कि ऋद्धिविहीन मनुष्यों का कोई समान नहीं करता। उसी प्रकार जिस प्रकार शकुनि पक्षी फलरहित तरुवरों को छोड़ देता है।

रिद्धि विहूणइ माणुसह न कुणइ कुवि सम्माणु ।
सउणिहिं मुच्चइ फल रहिउ तरुवरु इत्थु पमाणु ॥
—कुमारपाल प्रतिबोध

इसमें ऋद्धिविहीन सामंतों की ओर भी लक्ष्य किया गया है जो अपने दैनंदिन युद्धों आदि के कारण निरंतर अस्तशील होने की राह में खड़े हुए रहते थे। इस दुर्दिन को रहीम ने भी लक्ष्य किया था—

दुरदिन परै रहीम कहि, भूलत सब पहिचानि ।
सोच नहीं वित हानि को, जो न होय हित हानि ॥
—रहि० वि०, ९।९७

इसी संबंध का एक रूप था सामंतों का दाता रूप और इतर जनों का गृहीता रूप। नीतिकारों ने इस संबंध पर बहुत कुछ कहा है। उन्होंने दाता सामंत की प्रशंसा की है और नृशंस संचयिताओं को जी भरकर कोसा है।

है। कवि ने इस दाता को सागर से उपमित करके आश्चर्य और आकांक्षा भरे शब्दों में कहा है कि वह, उतना सागर का जल और उतना उसका विस्तार ! लेकिन प्यास को वह कहाँ बुझाता है ?

त तेहिउ जल सायरहो सो तेवड़ु विस्थारु।
तिसहे निवारणु पलु वि नवि पर धुट्ठुअइ असारु ॥

—प्रा० व्या०, ४।३९५।७

रहीम ने भी उस पंक की प्रशंसा की थी जिसके थोड़े जल में कितने लोग अपनी प्यास बुझा लेते हैं लेकिन उस उदधि की इतने ही कड़े शब्दों में निंदा भी की थी।

धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है जगत पियासो जाय ॥

—र० विला०, १०।१०२

उच्चादर्शवादिता

अपभ्रंश कवि की उच्चादर्शवादिता समाज सापेक्ष है और उत्कृष्ट समाज रचना में प्रवृत्त है। उसने आकर्षणों के सारे जाल को विच्छिन्न करके अच्छे मनुष्य की खोज की थी और निर्भ्रान्त होकर कहा था—न तो सरिताओं से, न सरों से, न सरोवरों से और न तो उद्यान वनों से ही किसी देश की रमणीयता बढ़ती है वरन् एकमात्र सुजनों के निवास से ही देश का गौरव बढ़ता है।

सरिहि न सरेहि सरवरेहि न वि उज्जाण वणेहिं।
देस रवण्णा होत बढ़ निवसंतेहिं सुज्जणेहिं ॥

—प्रा० व्या०, ४।४२२।१०

बाबा दीनदयाल गिरि ने भी कहा था—

वहै विराजत थल जहाँ बुध हैं सहित उमंग।
लसै हेम जिहि अग में बसै प्रभा तिहि अग ॥

—दी० ग्रं०, २६।७५

अपभ्रंश कवि ने यह भी देखा था कि कि सपन्न लोगों से तो सभी लोग बातचीत करते हैं लेकिन आर्तजनों को वही लोग 'माभैषीः' कहते हैं जो सज्जन होते हैं।

सत्थावत्थहं आलवणु साहु वि लोउ करेइ ।
आदन्नहं मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ ॥

—प्रा० व्या० ४।४२२।१६

सहृदय रहीम का भी यही निश्चय था—

जे गरीब परहित करें ते रहीम बड़ लोग ।
कहाँ सुदामा बापुरो कृष्ण मिताई जोग ॥

—रहि० वि०, ६।६२

इन उच्चादर्शों वाले भारतीय नीतिकार का प्रमुख आदर्श है संतुष्ट जीवन। उसने कहा है कि गिरि से शिलातल, तरुओं से फल, असामान्य भाव से प्राप्त होता है। किंतु तब भी मनुष्यों को अरण्य नहीं अच्छा लगता।

गिरिहे सिलायलु तरुहे फलु घेप्पइ निःसावन्नु ।
धरु मेल्लेपिणु माणुसहं तो वि न रुच्चइ रन्नु ॥

प्रा० व्या०

किंचित भिन्न प्रकार से रहीम ने इस बात को इस प्रकार से रखा है—

तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पान ।
कहि रहीम परकाज हित, संपत्ति सचहि सुजान ॥

—रहि० वि० ८।२७

स्वभाव-कथनमूलक उक्तियां—

इसमें कुछ वस्तुओं के उत्कृष्ट या निकृष्ट स्वभाव की ओर इशारा करते हुए उसकी जीवन से संगति बैठायी जाती है। यह वस्तु प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों रूपों में सामने आती है। इसमें एक प्रकार की तथ्यमूलकता भी होती है। आगे इन तथ्यों का विश्लेपण अपने-आप हो जायगा।

[१] कमलों को छोड़कर भौंरे हाथियों के कुंभस्थलों की इच्छा करते हैं। जिन्हें दुर्लभ की इच्छा भली लगती है वे दूरी नहीं गिनते।

कमलइं मेल्लवि अलि-उलंइ करि गण्डाइ महंति ।
असुलहमेच्छण जाहं भलि ते णवि दूर गणंति ॥

—प्रा० व्या० ४।३५३।१

बाबा दीनदयाल गिरि ने भी इसी भाव को इस रूप में प्रकट किया है—

श्री को उद्यम तें बिना कोऊ पावत नाहिं।
लिए रतन अति जतन सों, सुर असुरन दधि माहिं॥

—दी० ग्रं० ७३।८

वृंद के शब्दों में—

श्रम ही तैं सब मिलत है बिन श्रम मिलै न काहि।
सीधी अंगुरी घी जम्यौ क्यों हू निकरे नाहि॥

—स० स० वृ० स० ३०१।१८९

असुलभ की आकांक्षा के लिए मनुष्यों को असाधारण प्रयत्न करने होते हैं—यही इन सभी दोहों का वर्ण्य है।

[२] जीवन किसे नहीं प्यारा है और धन भी किसे नहीं इष्ट है पर विशिष्ट लोग अवसर आ पड़ने पर इसे तृण के समान गिनते हैं।

जीविउ कासु न वल्लहउ, धणु पुणु कासु न इट्ठु।
दोण्णि वि अवसर निवडि-अइं तिण सम गणइ विसिट्ठु॥

—प्रा० व्या० ४।३५८।२

वृंद ने भी कहा है—

तन धन इ दे लाज के जतन करत जे धीर।
टूक टूक हुह्वै गिरत पै नहिं मुख फेरत वीर॥

—स० स०, वृ० स० ६३६।२३६

अवसर और मर्यादा यह दोनों ही विशिष्ट और वीर व्यक्तियों को प्राणाधिक प्रिय होते हैं इनके लिये वे यौवन और धन दोनों का किंचिन्मात्र भी मोह नहीं करते।

[३] हे पपीहा! निष्करुण होकर बारबार बोलने से क्या लाभ? विमल जल से सागर के भरने पर भी तू एक भी धार नहीं पायेगा।

बप्पीहा कइं बोल्लिएण निग्घिण वार इ वार।
सायरि भरिअइ विमल जलि लहहिं न एक्कुवि धार॥

—प्रा० व्या० ४।३८३।२

वृंद ने भी अनुभव किया था कि—

सैयौ छोटी ही भलौ, जासौ गरज सराय।
कीजै कहा पयोधि कौ जातैं प्यास न जाय॥

—स० स०, वृं० स० १८८।२०१

निश्चित ही यहाँ निष्करुण साधन संपन्न व्यक्तियों पर व्यंग्य किया गया है और उनके यहाँ जाने का निषेध किया गया है। प्राकृत व्याकरण में इसी व्यंग्य को और प्रखर बनाते हुए एक स्त्री एक पथिक से कहती है कि यदि बड़े घरों को पूछते हो तो वह वे हैं लेकिन यदि विह्वलित जनों के अभ्युधारक मेरे कन्त के कुटीर को चाहते हो तो वह यह है।

जइ पुच्छइ घर वड्डाइं तो वड्डा घर ओइ।
विहलिअ जणु अन्भुधरणु कंत कुडीरइ जोइ॥

—प्रा० व्या० ४।३६४।१

बाबा दीनदयाल गिरि ने भी कहा है—

मानत हैं बहु दीन कों आए सरन महान।
हीन कला ससि सींस मैं धारत ईस सुजान॥

—दी० ग्रं० ७।७३।

[४] हे कुंजर सल्लकियों को मत सुमिर और लंबी सांस मत छोड़, विधिवश जो कंवल प्राप्त हैं उन्हें चर और मान मत छोड़।

कुंजर सुमिरि म सल्लअउ सरला सांस म मेल्हि।
कवल जि पावय विहि-वसिण ते चरि माणु म मेल्हि॥

—प्रा० व्या० ४।३८६।१

यही विवशता सर के सूखने पर मीन को भी होती है। रहीम ने कहा है—

सर सूखे पंछी उड़ै औरे सरव समाहिं।
दीन मीन बिनु पच्छं के कहु रहीम कहुँ जाहिं॥

—रहि० विला० ३२।१४५

ऐसे उपेक्षितों को अपना मान रखकर प्रतीक्षा करनी चाहिए—इस बात को अपभ्रंश-कवि ने इस प्रकार कहा है कि हे भ्रमर, अब यहीं नीम पर कुछ दिन तक विरम, जब तक घने पत्तों वाला छायाबहुल कदंब नहीं फूलता।

भमरा एत्थु वि लिम्बिडइ के वि दियहडा विलम्बु ।
घण पत्तलु छाया-बहुलु फुल्लइ जाय कयम्बु ॥

—प्रा० व्या० ४।३८७।२

बिहारी की भी यही सम्मति है—

यहै आस अटक्यौ रह्यौ अलि गुलाब के मूल ।
अहैं बहुरि बसंत ऋतु इन डारन वै फूल ॥

(बिहारी सतसई)

(५) दिन झटपट चले जाते हैं और मनोरथ पीछे छूटते जाते हैं । जो है उसी को मानो । होगा—ऐसा कहते हुए मत रहो ।

दिअहा जंति झडपडहिं पडहिं मनोरह पच्छि ।
जं अच्छहि त माणिअइ होसइ करतु म अच्छि ॥

—प्रा० व्या० ४।३८८।१

इसी भाव का दोहा कबीर ने भी कहा है—

काल्हि करहु सो आजु कर आजु करहुँ सो अब्ब ।
पल में परलै होयगो, बहुरि करौगे कब्ब ॥

(कबीर)

(६) यहाँ वहाँ घर द्वार पर लक्ष्मी अस्थिर होकर दौड़ रही है, प्रिय से वियुक्त गोरी की तरह कहीं भी निश्चल नहीं रहती ।

एत्तहे तेत्तहे वारि घरि लच्छि विसुंठुल धाइ ।
पिअ पब्भट्ठ व गोरडी निच्चल कहिँ वि न ठाइ ॥

—प्रा० व्या०, ४।४३६।१

रहीम ने कहा है—

कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय ।
पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय ॥

—रहि० वि०, ३।२३

इन कतिपय स्वभावकथन संबंधी उदाहरणों के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा यह विशेषतया स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी की नीतिकाव्य परंपरा भी अपभ्रंश से सीधे विकसित हुई है ।

× × ×

इन नीतिमूलक दोहों की कुछ अपनी विशिष्ट कलागत उपलब्धियाँ हैं नीति का अंतिम उद्देश्य अवश्य ही उपदेशात्मक या प्रचारात्मक होता है परंतु वह जब नीति काव्य बनता है तो काव्य के साधनोपायों से समलंकृत होकर ही।

नीति को नीति काव्य बनाने में प्रायः निम्नलिखित उपादान ग्रहण किए जाते हैं।

१—उक्ति बंकिमा—जो बात बहुत दिनों के शास्त्रार्थ और तर्क वितर्क से किसी के मन में न जमाई जा सके वह सहसा किसी चतुराई भरी एक छोटी सी वक्र उक्ति से एक क्षण में सुझाई जा सकती है।[1]

२—प्रत्युत्पन्नमतित्व—उस लघुनैतिक तथ्य को दो ही पंक्तियों में अवसरोचित ढंग से सहसा कहना चाहिए। अचानक और शीघ्र आक्रमण की सफलता असंदिग्ध होती है। इस प्रकार अवसर पर उचित बात कहना ही नीति काव्यकार का प्रत्युत्पन्नमतित्व है।

३—अलंकार योजना—सरल अलंकार योजना के द्वारा कथन का प्रभाव बढ़ता है। प्रायः प्रयुक्त होने वाले मुख्य अलंकार दृष्टांत, अन्योक्ति उपमा आदि हैं। दृष्टांत और अन्योक्ति ये दो नीतिकाव्य के अत्यंत महत्वपूर्ण साधन हैं। इन सभी अलंकारों द्वारा चित्रकल्पना को प्रोत्साहन मिलता है और चित्रकल्पना से भावबोध को।

४—स्वाभाविक भाषा और लोकोक्ति प्रयोग—जितनी नीति रचनाओं का विवेचन ऊपर किया जा चुका है उससे स्पष्ट है कि नीति रचनाओं में अपेक्षाकृतसरल और सरस भाषा का प्रयोग होना चाहिए। इसके अभाव में रचना की प्रसाद गुण में बाधा पड़ती है। यदि रचना की प्रसादगुणिता बाधित हो गई तो उसका प्रभाव और उद्देश्य सिद्धि ही खतरे में पड़ जाएगी। इसीलिये लोकभाषा का सहज सुथरा और मधुर रूप सभी नीतिकारों ने अपनाया है। दोहों की भाषा में सामासिकता के आगमन की सहज संभावना को भी नीतिकारों ने कुशलतापूर्वक बचाया है।

नीतिकाव्य की भाषा की शक्ति का सबसे बड़ा आधार है लोकोक्ति और मुहाविरों का प्रयोग। मुहाविरों में एक लघु परिवेश की परंपरागत बुद्धिमता

१—सतसई सप्तक की भूमिका : डा० श्यामसुंदरदास, पृ० ७।
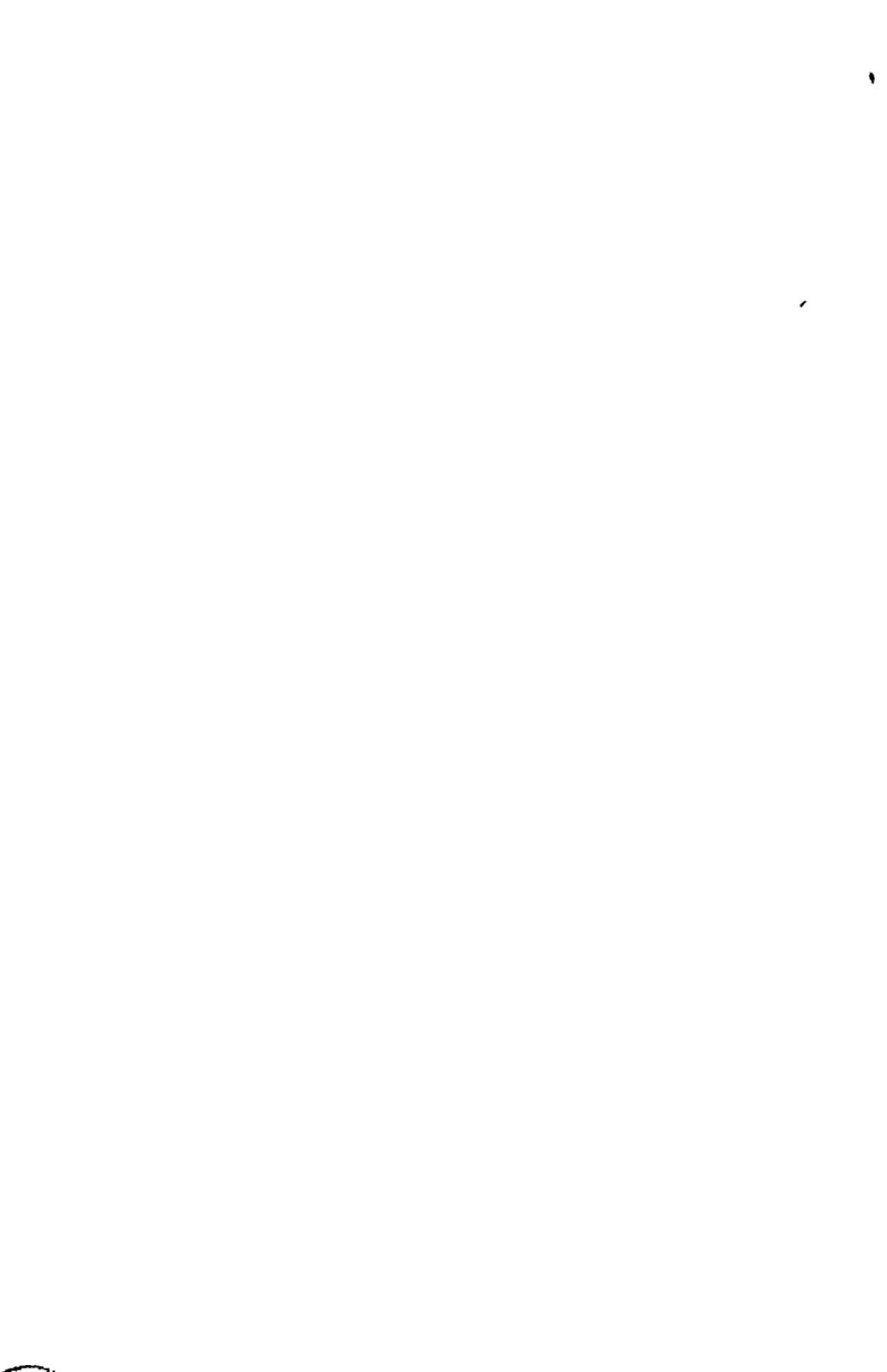
श्री अगरचंद नाहटा ने नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित (सं० २०१०, अंक ४) 'प्राचीन भाषाकाव्य की विविध संज्ञाएँ' शीर्षक महत्वपूर्ण निबंध में प्राचीन भाषा काव्यों के ११५ काव्यरूपों की सूचना दी है। इस निबंध में श्री नाहटा जी का प्राचीन भाषा से अभिप्राय विशेषतः अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी भाषा से है। महत्वपूर्ण समझ कर संपूर्ण सूची नीचे उद्धृत की जाती है।

(१) रास, (२) संधि, (३) चौपाई, (४) फागु, (५) धमाल, (६) विवाहलो, (७) धवल, (८) मंगल, (९) वेलि, (१०) सलोका, (११) संवाद (१२) वाद, (१३) झगड़ो, (१४) मातृका, (१५) बावनी, (१६) कक्क, (१७) बारह मासा, १८) चौमासा, (१९) पवाड़ा, (२०) चर्चरी (चांचरि), (२१) जन्माभिषेक, (२२) कलश, (२३) तीर्थमाला, (२४) चैत्यपरिपाटी, (२५) संघ, (२६) ढाल, (२७) ढालिया, (२८) चौढालिया, (२९) छढालिया, (३०) प्रबंध, (३१) चरित, (३२) संबंध, (३३) आख्यान, (३४) कथा, (३५) सतक (३६) बहोत्तरि, (३७) छत्तीसी, (३८) सत्तरी, (३९) बत्तीसी, (४०) इक्कीसी, (४१) इकतीसी, (४२) चौवीसी, (४३) बीसी, (४४) अष्टक, (४५) स्तुति, (४६) स्तवन, (४७) स्तोत्र, (४८), गीत, (४९) संझाय, (५०) चैत्यवंदन, (५१) देववंदन, (५२) वीनती, (५३) नमस्कार, (५४) प्रभाती, (५५) मंगल, (५६) सांझ, (५७) बधावा (५८) गहूँली, (५९) हीयाली, (६०) गूढ़ा, (६१) गजल, (६२) लावणी, (६३) छंद, (६४) नीसाणी, (६५) नवरसो, (६६) प्रवहण, (६७) बाहण, (६८) पारणो, (६९) पट्टावली (७०) गुर्वावली, (७१) हमचड़ी, (७२) हींच, (७३) मालामालिका, (७४) नाममाला, (७५) रागमाला, (७६) कुलक, (७७) पूजा, (७८) गीता, (७९) पट्टाभिषेक, (८०) निर्वाण, (८१) संयमश्री विवाह वर्णन, (८२) भास, (८३) पद, (८४) मंजरी, (८५) रसावली, (८६) रसायन, (८७) रसलहरी, (८८) चंद्रावला, (८९) दीपक, (९०) प्रदीपिका, (९१) फुलड़ा, (९२) जोड़, (९३) परिक्रम, (९४) कल्पलता, (९५) लेख, (९६) विरह, (९७) मूंदड़ी, (९८) सत, (९९) प्रकाश, (१००) होरी, (१०१) तरंग, (१०२) तरंगिणी, (१०३) चौक, (१०४) हुंडी, (१०५) हरण, (१०६) विलास, (१०७) गरबा, (१०८) बोली,

(१०९) अमृतध्वनि, (११०) हालरियो, (१११) रसोई, (११२) कड़ा, (११३) भूलडा, (११४) जकड़ी, (११५) दोहा, कुडलियाँ, छप्पय आदि ।[१]

इस सूची तथा नाहटा जी के द्वारा इन काव्यरूप वोधक संज्ञाओं के परिचयात्मक विवरण का अध्ययन करने पर इन काव्यरूपों का निम्नलिखित वर्गीकरण संभव हो सकता है—

(क) वाद्यमूलक काव्यरूप, जैसे—ढाल, ढालिया, चौढालिया, लकुट रास, ताला रास, हमचड़ी, हींच आदि ।

(ख) अवसरमूलक काव्यरूप, जैसे—चैत्यवदन, बारहमासा, मगल, बधावा, सवाद आदि ।

(ग) संख्यामूलक काव्यरूप, जैसे—सतक, बहोत्तरी, छत्तीसी, सत्तरी, कुलक ।

(घ) वर्णमालामूलक काव्यरूप, जैसे—मातृका, बावनी, कक्क आदि ।

(ङ) रागमूलक काव्यरूप, जैसे—गजल, पद, लावणी, छद, अमृत ध्वनि आदि ।

(च) प्रवधमूलक (चरित मूलक) काव्यरूप, प्रवधमूलक काव्यरूपों पर पीछे चिह्न लगा दिया गया है ।[२]

इन काव्यरूपों में आख्यानगीतात्मक तत्व प्रचुर मात्रा में सुरक्षित हैं । इसी बात की ओर सकेत करते हुए प्रो० गुणे ने 'भविस्सयत्त कहा' की भूमिका में लिखा है कि अपभ्रंश के अधिकाश काव्यरूप और उसकी छद सपत्ति लोक से सीधे प्रभावित और सबद्ध है । उसका लोक से इतना अधिक सपर्क है कि साधारण श्रमिक काम काज करते हुए भी इन छंदों और काव्यरूपों को गा सकता है ।

× × ×

१—चिह्नित सज्ञाए प्रवधात्मक हैं । इसमें कुछ के निर्णय का आधार नाहटा जी के ही निर्देश हैं पर कुछ के अन्यत्र से प्राप्त प्रमाण और किंचित् अनुमान हैं ।

२—जो प्रबंधमूलक काव्यरूप हैं उनमें कुछ ऐसे हैं जो प्रबन्ध भी हैं, मुक्तक भी हैं या प्रवधमुक्तकगत हैं । उदाहरण स्वरूप रास, चौपाई, फागु, मगल वेलि आदि ।

अब यहाँ पर कतिपय उन मुक्तक काव्यरूपों का विचार किया जायगा जो अपभ्रंश और हिंदी दोनों में मिलते हैं—

(१) रास, (२) रमैनी, (३) पद, (४) वसंत फागु, (५) चाँचर, (६) वेलि, (७) साखी, (८) मंगल, (९) बारहमासा, (१०) वर्णमालामूलक काव्यरूप, (११) गोष्ठी और संवाद, (१२) गीता, (१३) स्तोत्र, (१४) पारिवारिक गान, (१५) संख्यामूलक काव्यरूप ।

अपभ्रंश में रासक काव्यरूप संदेशरासक जैसे प्रबंध मुक्तकों तथा उपदेशरसायन रास[1] जैसे उपदेशपरक मुक्तक-काव्यों में प्रयुक्त हुआ है । हिंदी में रास काव्यरूप का विकास पृथ्वीराज रासो जैसे विख्यात रासो प्रबंधों में हुआ किंतु बीसलदेव रासो जैसे वीर गीतात्मक प्रबंध मुक्तकों में भी वह विकसित हुआ । बीसलदेव रासो को प्रबंध मुक्तक मानकर के रासकाव्य परंपरा के विवेचन में उसको यहाँ स्थान दिया जाता है ।

रास

उपदेशरसायन रास की रचना सुगुरु-कुगुरु-सुपथ - कुपथ के विवेचन, लोकप्रवाह-चैत्य-अवधियों के निरोधन, श्रावक श्राविकादि के शिक्षण के लिए हुई है ।[2] इसमें तालारासु और लउडारासु दो प्रकार के रासों का उल्लेख है—

मूल—तालारासु विदिंति न रयणिहिं दिवसि वि लउडारासु संहु पुरिसहिं ॥३६॥

टीका—तालारासकमपि न ददति श्राद्धा रजन्यां प्रदीपोद्योते पि । तदानीम—

दृश्यसूक्ष्मपिपीलिकादिध्वंसहेतुत्वात् । दिवसेपि लगुडरासं पुरुषैरप्यास्तां योषिद्भिः तस्यात्यन्त विटचेष्टारूपत्वात, कदाचित् प्रमादवशान्मस्तकाद्याघातहेतुत्वात्, दुष्टपाठादिवत्वाच्चेत्यर्थः ॥[3]

अर्थात् तत्कालीन जैन मंदिरों में श्रावक आदि लोग रात्रि के समय ताल देकर रासो का गान करते थे, उसमें प्रदीप प्रकाश के होते हुए भी जीवहिंसा

१—उपदेश रसायन रास का नाम उसके रचयिता जिनदत्तसूरि ने केवल उपदेश रसायन ही दिया है परंतु उसके टीकाकार सूरि जी के प्रशिष्य के शिष्य जिनपाल उपाध्याय ने उसमें रासक जोड़कर 'उपदेश रसायन रास' की संज्ञा दे दी ।

२—अपभ्रंशकाव्यत्रयी की संस्कृत भूमिका पृ० ११५ ।

३—वही, पृ० ४७ ।

की संभावना के कारण रात्रि में ताल देकर गाये जाने वाले रास का निषेध किया गया है। दिवस में भी पुरुषों और स्त्रियों के साथ लगुडरास करने (डंडियों के साथ नृत्य करते हुए रास गाने) को भी, मस्तक आदि पर चोट लगने के भय से वर्जित किया गया है। सं० १३२७ में रचित 'सप्तक्षेत्रि रास से यह भी पता चलता है कि जैन मंदिरों में यह दोनों रास १५ वीं शती तक खेले जाते थे।[1]

रासक काफी पुराना काव्यरूप है। उसका प्रथम साहित्यिक उल्लेख बाणभट्ट (७वीं शती) के हर्षचरित में मिलता है। यह एक उपरूपक विशेष है। आचार्य हेमचद्र और वाग्भट्ट ने अपने काव्यानुशासन नामक ग्रंथ में रासक के संबंध में निम्नलिखित व्यवस्था दी है:—

गेय डोम्बिका भाण-प्रस्थान-शिंगक-भणिका-प्रेरण-रामाक्रीड़-हल्लीसक रासक, गोष्ठी श्रीगदित-रागकाव्यादि—हेमचद्र।

डोम्बिका-भाण-प्रस्थान - भणिका - प्रेरण - शिंगक - रामाक्रीड-हल्लीसक-श्रीगदित-रासक-गोष्ठी-प्रभृतिनि गेयानि—वाग्भट्ट।

हेमचद्र के काव्यानुशासन की वृत्ति के अनुसार ये सब डोंबिकादि गेय रूपक प्राचीनों द्वारा कहे गए हैं।

पदार्थाभिनयस्वभावानि डोम्बिकादीनि गेयानि रूपकाणि चिरतनै-रुक्तानि।

ये गेय रूपक तीन प्रकार के होते हैं मसृण (कोमल) उद्धत और मिश्र। इनमें रासक ऐसा कोमल और उद्धत गेयरूपक है जिसमें अनेक नर्तकिया होती हैं, अनेक प्रकार के ताल और लय होते हैं। सदेशरासक और वीसलदेवरास इसी प्रकार के गेयरूपक हैं। विद्वानों ने अनुमान किया है कि पृथ्वीराज रासो जैसे हिंदी प्रबंध काव्यों में 'मसृण' बहुविध शृगारिक वर्णनों में सुरक्षित रह गया और 'उद्धत' भयकर युद्धों में विस्तृत हो गया।

प्रयोग में रास शब्द रासक, रासो, रासौ, रासउ अनेक रूपान्तरों के साथ प्रयुक्त होता है। सदेशरासक की काव्यरूप परपरा एक प्रकार से हिंदी के वीसलदेव रासो में विकसित हुई है। परवर्ती काल में यह रासक काव्यरूप कथापूर्ण मिश्र काव्यों के लिए प्रयुक्त होने लगा। राजस्थानी और गुजराती

१—प्रा० गुर्जर काव्य संग्रह, सप्तक्षेत्रि रास पृ० ५२।

में लिखे रासनामधारी जैन चरित प्रबंध और हिंदी में 'वीरगाथा' परक पृथ्वीराज रासो इसी दूसरी परंपरा के विकास हैं।

रमैनी शब्द संत साहित्य में दोहा - घत्ताक - कडवक - शैलीबद्ध रचनाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। चौपाई और दोहा या किसी अन्य घता छंद से युक्त चौपाई अपभ्रंश प्रबंध काव्यों में खूब व्यवहृत हुई है। अपभ्रंश में इसे पद्धड़िया बंध भी कहा गया है। मुक्तक रूप में दोहे चौपाई की शैली सर्वप्रथम सिद्धों में मिलती है।

रमैनी

संक पास तोडहु गुरु बअणे। ण सुनइ सो णउ दीसइ णअणे।
पवण वहंते णउ सो हल्लइ। जलण जलंते णउ सो उज्झइ॥
घण वरिसंते णउ सो तिम्मइ। ण उवज्जहि णउ खअहि पइस्सइ॥
णउ तं वाअहिं गुरु कहइ, णउ तं वुज्झइ सीस।
सहजामिअ रसु सअल जगु, कासु कहिज्जइ कीस॥

सरहपाद, दोहा ७, ८

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार इस शैली को गोरखनाथ की वाणियों में भी खोजा जा सकता है। उनके ही अनुसार सूर के पदों में भी इस काव्यरूप के चिह्नों को पाया जा सकता है। कवीर ने तो जमकर इसका प्रयोग किया है। बीजक में इनको रमैनी कहा गया है। डा० द्विवेदी का विश्वास है कि कबीर के दोहे चौपाइयों को रमैनी संज्ञा तुलसी के रामचरितमानस के प्रचार के पश्चात मिली होगी। (संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ—बीजक की रमैनियां) जो भी हो रमैनी शब्द परवर्ती है जो दोहे चौपाई की शैली को एक मुक्तक काव्यरूप प्रदान करता है। इसके पूर्व दोहा चौपाई मुख्यतः प्रबध काव्यरूप ही था। बाद में बूला साहब आदि संतों ने भी रमैनी काव्यरूप का प्रयोग किया है। एक बात और स्मरणीय है कि इन रमैनियों को अक्सर रागों के भीतर भी रखने का प्रयास किया गया है।

पद काव्यरूप अपभ्रंश और हिंदी भाषा मुक्तक साहित्य का सर्व प्रिय अंग रहा है। इसका सबसे बड़ा कारण यह रहा है कि पद वस्तुतः लोक गीतों के अनियंत्रित सहज स्वर प्रवाह से संबद्ध थे। सर्वप्रथम पदों की रचना प्राप्त साहित्य में सिद्धों की मिलती है। डा० कीथ का यह कहना गलत है कि 'गीत गोविंद' से पदों का आरंभ हुआ है। डा० कीथ गीतगोविंद पर केवल बंगाल के यात्रा

पद

गीतों का प्रभाव मानते हैं।[1] पिशेल की इस सूचना के आधार पर कि गीत गोविंद किसी अपभ्रंश कृति से प्रभावित हुआ है[2] डा० कीथ ने केवल इतना माना है कि अपभ्रंश की समतुकांततामात्र से गीतगोविंद प्रभावित हो सकता है। यहाँ अत्यत स्पष्टता पूर्वक कह देना चाहिए कि गीतगोविंद एक चली आती हुई सुदीर्घकालीन परंपरा का विकास है। उस परंपरा की प्राप्त कड़ियों का विश्लेषण नीचे किया जा रहा है।

१—बौद्ध पालि साहित्य में पद काव्य की रूपगत रूढ़ियाँ—

खुद्दक निकाय के सुत्तनिपात्त नामक अंश में 'उरग सुत्त' 'धनिय सुत्तं' 'खग्गविसाण सुत्त' 'वसल सुत्त' आदि अनेक ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें पदों की प्रमुख विशेषता ध्रुवक को कसकर पकड़ा गया हैं।[3] एक उदाहरण आरंभ में दिया जा चुका है दूसरा उदाहरण नीचे दिया जा रहा है।

> यो उप्पतितं विनेति कोधं विसतं सप्पविसंऽव ओसधेहि।
> सो भिक्खु जहाति ओरपारं उरगो जिण्णमिव तच पुराणं ॥ १ ॥
> यो रागमुदच्छिदा असेसं भिसपुप्फऽव सरोरुह विगयूह।
> सो भिक्खु जहाति ओरपारं उरगो जिण्णमिव तचं पुराणं ॥ २ ॥
> यो तण्हमुदच्छिदाअसेसं सरित सीघसरं विसोसयित्वा।
> सो भिक्खु जहाति ओरपारं उरगो जिण्णमिव तचं पुराण ॥३॥[4]

१—A History of Sans. Lit, P. 192.

२—यह मत डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने भी अपने 'ओरिजिन ऐण्ड डेवलपमेंट आफ बगाली लैंग्वेज (कलकत्ता १९२६ ई०), पृष्ठ १२५–२६ में दुहराया है।

३—ध्रुवक शैली का मूल ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में भी मिल सकता है। ऋग्वेद का 'अप नः शोशुचद्घम्', 'कस्मै देवाय हविषाविधेम्' 'तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु' आदि ऋचाओं में ध्रुवकों का आदिम रूप प्राप्त हो सकता है।

४—जो फैलते हुए सर्पविष को औषधि की तरह चढे क्रोध को शात कर देता है, 'वह भिक्षु इस पार तथा उस पार को छोड़ता है साँप जैसे अपनी पुरानी केंचुली को ॥ १ ॥ जो तालाब में उतर कर कमल पुष्प तोड़ देने की तरह, निःशेष राग को नष्ट कर देता है वह भिक्षु इस पार तथा

ऊपर स्पष्ट ही 'सो भिक्खु जहाति ओरपारं उरगो जिण्णमिव तचं पुराणं' वाली पंक्ति प्रत्येक चरण के पश्चात दुहराई गई है। यह अपने-आप में एक सशक्त संकेत है। मालूम होता है कि पदों की प्रमुखतम रूढ़ि, वल्कि छांदिक काव्यरूपों से पदों की एकमात्र भेदक रूढ़ि ध्रुवक शैली पालि काव्यों से ही आरंभ हो गई थी। जरा और ध्यान दिया जाय तो इसमें समतुकान्तता के वीज भी दृष्टिगोचर हो जाएंगे। आरंभ में उद्धृत 'धनिय सुत्तं' में यह बीज अत्यंत सुस्पष्ट रूप से प्राप्त किया जा सकता है। विद्वानों की धारणा है कि इन पालि-काव्यों ने छंद-साहित्य में नूतन पद विन्यास करने के वजाय संस्कृत का ही अनुसरण अधिक किया। लेकिन यह तर्क देते हुए यह भुला दिया जाता है कि पालि एक युग की लोकभाषा थी और उसमें उस युग के लोक-हृदय की धड़कन विशाल बौद्ध-साहित्य में होकर ही सही सुनाई पड़ी थी। पद लोक-मानस की स्वर-भंगिमा का सबसे प्रथम वाणीवद्ध रूप है। केंद्रीय भाव को संभालने वाले ध्रुवक को प्रत्येक चरण के पश्चात दुहराना यह मनुष्य की आदिम संगीत शैली रही होगी। आज भी छोटे वच्चे यदि कहीं से गीत की एक कड़ी पा जाते हैं तो उसे तव तक दुहराते रहते हैं जब तक वे दूसरी ओर नहीं आकृष्ट कर लिए जाते।[1]

२—अपभ्रंश में निवद्ध सहजयानी सिद्धों के चर्यापद

आठवीं शती में सरह आदि के चर्यापद प्राप्त होते हैं। इनमें ध्रुवक शैली तो विशेष व्यवहृत नहीं हुई है किंतु राग-निर्देश अवश्य हुआ है। यथा राग देशाख, राग भैरवी, राग मलाशी, राग वलाड्डि आदि। यह रागनिर्देश-शैली हिंदी पदों में अविकल रूप में गृहीत हुई है। कवीर, सूर, तुलसी सभी ने इस शैली को अपनाया है। सिद्धों के चर्यापदों की दूसरी विशेषता समतुकांत-प्रवृत्ति है जिसको भी हिंदी पद कर्ताओं ने संपूर्णतया अपनाया है।

उस पार को छोड़ता है, साँप जैसे अपनी पुरानी केंचुली को ॥ २ ॥ जो शीघ्रगामी तृष्णारूपी सरिता को सुखाकर उसका नाश कर देता है वह भिक्षु इस पार तथा उस पार को छोड़ता है साँप जैसे अपनी पुरानी केंचुली को ॥ ३ ॥

१—इस सबंध में प्रस्तुत लेखक का 'पद काव्यरूप का विकास' शीर्षक निवंध (त्रिपथगा मई, १९५७) द्रष्टव्य ।

३—क्षेमेंद्र का दशावतार चरित और जयदेव का गीतगोविंद

कश्मीरी कवि क्षेमेंद्र (११वीं शताब्दी) ने अपने दशावतार चरित में गोपी-गान पद शैली में लिखा है। क्षेमेंद्र के पदों की ओर इस संदर्भ में सर्व प्रथम संकेत डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया। वह पद नीचे दिया जाता है—

ललितविलासकला सुखखेलन—
ललनालोभनशोभनयौवन
मानितनवमदने।
अलिकुलकोकिलकुवलयकज्जल
कालकलिन्दुसुताविव लज्जल—
कालियकुलदमने।
केशिकिशोरमहासुरमारण
दारुणगोकुलदुरितिविदारण—
गोवर्धनधरणे।
कस्य न नयनयुग रतिसगे।
मज्जति मनसिजतरल तरगे—
वररमणीरमणे।[1]

लगभग १२वीं शती में उड़ीसा के कवि जयदेव ने 'गीतगोविंद' के पदों की रचना सर्गबद्ध-शैली में किया। वक्तव्य-विषय के गीतकाव्यात्मक होने और पद-काव्यरूप के प्रयोग के कारण गीतगोविंद मुक्तक पद-साहित्य का ही मार्गस्तभ बन सका है प्रबध काव्य का नहीं। इसके पश्चात मिथिला के कवि विद्यापति और बगाल के कवि चडीदास ने पदों में लीलागान किया। इन सकेतों को मिलाकर डा० द्विवेदी ने निष्कर्ष निकाला है कि कृष्णलीला से सबद्ध गेयपद के साहित्य की उरस भूमि पूर्वी भारत ही है और वहीं से चलकर यह प्रथा पश्चिम भारत में आई है। बौद्ध सिद्धों के गान, जयदेव का गीत गोविंद, चडीदास और विद्यापति के पद—सभी इसी प्रकार के विश्वास को बल देते हैं।[2] लेकिन आगे क्षेमेंद्र के गीतों का उद्धरण देकर डा० द्विवेदी ने अनुमान किया है कि जिस प्रकार के पद बंगाल और उड़ीसा

१—आचार्य० ह० प्र० द्विवेदी के 'हिंदी-साहित्य' के पृ० १६६-७० पर उद्धृत।

२—हिंदी साहित्य, पृ० १६८।

में प्रचलित थे उसी प्रकार के पद सुदूर काश्मीर में भी प्रचलित थे अर्थात् पूर्व से पश्चिम तक संपूर्ण भारत में ऐसे पद व्याप्त थे।[1] इस प्रकार का पद काव्य रूप मूलत. लोक गीतों से संबद्ध होने के कारण संपूर्ण उत्तर भारत में व्याप्त थे किंतु इनका आरंभिक प्रचलन विशेष रूप से पूर्व भारत में ही हुआ। विद्यापति और सूर से पूर्व होने वाले गोरखनाथ के नाम पर भी कुछ पद मिलते हैं जिनकी भाषा तो अवश्य विशेष परवर्ती है पर मूलतः वे पद गोरखनाथ द्वारा ही लिखे गए होंगे और बाद में चलकर अनुयायियों के मुख में उसे नया रूप प्राप्त हुआ होगा। गोरखनाथ द्वारा पद रचना इसलिये भी सहज संभव है कि वे ८४ सिद्धों से भी संबद्ध हैं। कबीर की पदरचना-परंपरा के पीछे यही सिद्ध और नाथ हैं।

कबीरदास के पदों को शब्द कहा गया है। सिद्धों और गोरख पंथियों की तरह कबीर और उनके अनुकरण पर सभी संतों के यहाँ राग निर्देश किया गया है। यहाँ तक कि कबीर ग्रंथावली में रमैनी का भी राग सूहौ निर्दिष्ट है। सूर और तुलसी ने भी इस प्रणाली को अपना कर शास्त्रीय संगीत की कोटि को पहुँचा दिया।

परवर्ती हिंदी काव्य में इस पद-काव्यरूप के तीन रूप दिखलाई पड़ते हैं।

१—ज्ञान धर्म ख्यापक पद।

२—व्यक्तिगत भाव व्यंजक पद और।

३—प्रबंधात्मक पद।

प्रथम के अंतर्गत कबीर आदि संतों के शब्द आते हैं। दूसरे के अंतर्गत मीरा आदि के पद लिए जाते हैं। तृतीय के अंतर्गत सूर के कथाश्रयी पद आते हैं इन्हें आरंभ में मुक्तक प्रबंध कहा गया है।

फागु वसंत

अपभ्रंश के 'थूलिभद्द फागु' आदि काव्यों में फागु-काव्यरूप मिलता है। श्री अगरचंद नाहटा के अनुसार 'उपलब्ध फागु-काव्यों में खरतरगच्छीय जिन प्रबोध सूरि का 'जिनचदसूरि-फागु' सर्वप्रथम और सबसे प्राचीन है। ··· राजस्थानी और गुजराती में फागु सज्ञक लगभग ५० रचनाएँ 'उपलब्ध हुई हैं।'[2] फागु काव्य वस्तुतः वसंत का उल्लसित गान है। इसका प्रारंभिक रूप

१—वही, पृ० १७०।

२—प्राचीन भाषा-काव्यों की विविध-संज्ञाएँ, ना० प्र० प०, (सं० २०१० अंक ४) पृ० ४२४।

श्री हर्ष प्रणीत रत्नावली नाटिका के प्रथम अक में मिलता है। कदर्प-पूजा के अवसर पर चेटियाँ नृत्य करती हुई समवेत स्वर में द्विपदी-खड गाती थीं—

कुसुमाउह पिअदूअओ भउलीकिद बहुचूअओ।
सिढिलिय माणग्गहणओ वाअदि दाहिण पवणओ॥
विअसिव बउलासोअओ कखिअ पिअगण मेलओ।
पढिवालणा ममत्थओ तम्मइ जुवई सत्थओ॥
इह पढमं मधुमासो जणस्स हिअआइं कुणइ मिउलाइं।
पच्छा विद्धइ कामो लद्धप्पसरेहि कुसुमबाणेहिं॥[1]

जैनाचार्य जिनपद्म सूरि ने 'थूलिभद्द फागु' के अत में फागु के उक्त रूप का सकेत किया है—

खरतरगच्छि जिणपद्म सूरि किय फागु रमेउ।
खेला नाचइं चैत्र मासि रगिहि गावेवउ॥

अर्थात् खरतर गच्छीय जिन पद्म सूरि ने रमण के लिये यह फागु रचा। इसे खेल चैत्र मास अर्थात् वसंत में रग पूर्वक (उमंग के साथ) खेल और नृत्य के साथ गाना चाहिए।

श्री अबालाल प्रेमचद शाह ने फागु को अनुप्रास यमक प्रधान एक शैली मात्र माना है। श्री शाह ने अपने कथन की पुष्टि में देवरत्न सूरि फाग, हेमविमल सूरि फाग, वसत विलास, नेमीश्वर चरित, फागुवध फागुकाव्य-नतर्षि एव जीरापल्ली पार्श्वनाथ फागु के अंशों को उद्धृत किया है।[2] किंतु श्री अक्षय चद्र शर्मा ने थूलिभद्द फागु आदि में अलकारिक शैली का अभाव और प्रसाद गुण का आधिक्य पाकर फागु की आलकारिक शैली को फागु की मूल शैली नहीं माना है।[3] यह फागु काव्य प्रवधात्मक होता था। यहाँ इसके विवेचन की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि इसे एक मुक्तकात्मक काव्यरुप भी माना गया है। कवीर दास में जो फागु वसत होरी आदि की मुक्तक काव्य परपरा प्राप्त होती है वह अपभ्र श में मुक्तक रूप में अवश्य रही होगी। श्री शर्मा ने अनुमान किया है कि जैनेतर विद्वानों ने फागु रचनाएँ अवश्य की

१—रत्नावली, १।१३-१५।
२—श्री जैन सत्य प्रकाश वर्ष १२, अक ५-६, पृ० १६५।
३—ना० प्र० प०, वर्ष ५६, अक १, स० २०११।

होंगी किंतु उनके लेखन और संरक्षण का प्रबंध न होने से वे लुप्त हो गईं।[1] सिरि थूलभद्द फागु में जिस २३ मात्राओं के छंद का प्रयोग हुआ है वह कबीरदास के वसंत के चौपई छंद[2] से स्पष्ट ही भिन्न है फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि वसंत के आसपास गाने की विविध शैलियाँ रही होंगी जिनमें से एक को जैनियों ने लिया तो दूसरी को कबीर आदि जैनेतर लोगों ने।

चच्चरी या चाँचर

चच्चरी या चाँचर रास की ही तरह उत्सव आदि में नृत्य के साथ गाई जाती है। विक्रमोर्वशीय के चतुर्थांक में अपभ्रंश भाषा में कई चच्चरी पद्य पाये जाते हैं। जिससे इस काव्यरूप की प्राचीनता का ज्ञान होता है। श्री हर्ष की रत्नावली नाटिका में भी चर्चरी का उल्लेख हुआ है। पिंगलनाग और हेमचंद्र दोनों ने क्रमशः अपने छन्दःशास्त्र और छन्दोनुशासन में चर्चरी के लक्षण बताये हैं।[3] जिनदत्त सूरिकृत चच्चरी का एक छंद नीचे उद्धृत किया जाता है।

> कालिदासु कइ आसु जु लोइहिं वन्नियइ।
> ताव ताव जिणवल्लहु कइ नाअन्निपइ॥
> अप्पु चित्तु परियाणहिं तं पि विसुद्ध न य।
> ते वि चित्तकइराय भणिज्जहि मुद्धनय॥[4]

इसमें २१ मात्राओं का व्यवहार हुआ है किंतु कबीरदास कृत बीजक में हरिपद और दोहा छंदों का व्यवहार हुआ है।

> सोभा अद्‌भुद रूप की, महिमा वरनि न जाय।
> चंदबदनि मृगलोचनि माया, बुदका दियौ उधार॥[5]

शायद इसी विभेद को देखकर डा० द्विवेदी ने अनुमान किया है कि 'चचरी का कोई निर्दिष्ट छंद नहीं था।'[6]

१—वही, पृ० २५।

२—बीजक, विचारदास द्वारा संपादित, पृ० ३२३।

३—अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका पृ० १४४।

४—वही, चर्चरि, पृ० ४।

५—श्री विचारदास द्वारा संपादित बीजक, पृ० ३४४।

६—हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० १०७।

बेलि का अपभ्रंश और राजस्थानी में ग्रहण प्रबंधात्मक काव्यरूप की तरह हुआ है किंतु हिंदी में कबीर के बीजक में भी एक बेलि मिलती है जिसमें मुक्तक तत्वों का निर्वाह हुआ है।

बेलि

हंसा सरवर सरीर में हो रमैया राम।
जागत चोर घर मूसै हो हो रमैया राम॥[1]

श्री विचारदास ने इसका छंद उपमान निश्चित किया है। वस्तुतः यह भी कोई लोकप्रचलित काव्यरूप था जिसका अपभ्रंश कवि ने प्रबंध के रूप में ग्रहण किया तथा हिंदी कवि ने मुक्तक के रूप में।

साखियों की रचना पहले पहल गोरखपंथियों में मिलती है। डा० द्विवेदी ने काण्हपा के चर्यापदों में से 'साखि करब जालधर पाए' खोज करके साखी शब्द से सिद्धों का परिचय बताया है। पूरा पद यह है—'साखि करब जालधर पाएं। पाखि न चहइ मोर पंडिआए॥'[2] इसका अर्थ संभवतः यह है कि कण्हपा जालधरपाद को साक्षी मानते हैं और पंडितों के आचार विचार को अपने पास नहीं फटकने देना चाहते। द्विवेदी जी का अनुमान है कि 'धीरे धीरे गुरु के वचनों को साखी कहा जाने लगा होगा। बौद्ध सिद्धों के ये उपदेश दोहा छंदों में लिखे गए थे। इसलिये दोहा और साखी समानार्थक शब्द मान लिये गये होंगे। सरहपाद ने अपने एक दोहे में उसे उएस या उपदेश कहा है। यही 'उएस' या उपदेश परवर्तीकाल में साखी बन गया है।'[3] कबीर साहित्य में इन दोहों को साखी के नाम से संकलित किया गया है। इनको 'अंगों' में भी बाँटा गया है यथा, विरह को अंग, गुरु को अंग, मन को अंग, आदि। यह अंग विभाजन की प्रणाली परवर्ती है।

साखी

मंगल काव्यरूप के अंतर्गत लोक के वे गान आते हैं जिन्हें स्त्रियाँ विवाह या अन्य उत्सवों के अवसर पर गाती हैं।

१—बीजक, पृ० ३५० ।

२—J D. L. Cal. XXX, P. 36

३—हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० १०५ ।

आरंभ में दी हुई नाहटा जी की सूची में विवाहलो धमाल और मंगल ाव्यों का उल्लेख हुआ है। यह तीनों चरित काव्यों के भीतर आते हैं।

मंगल

विवाहलो में जैनाचार्यों का संयमश्री से विवाह संपन्न होता है। वैसे अपने मूल में ये मुक्तक ही रहे होंगे। इनमें विवाह का अवसरजन्य उल्लास व्यक्त होता रहा होगा। हिंदी साहित्य में तुलसी ने उसी रूप में 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' की रचना की है। उनके अतिरिक्त कबीरदास के नाम पर भी अगाध-मंगल, आदिमंगल, अनादिमंगल तीन आध्यात्मिक अर्थवाहक मंगलकाव्य मिलते हैं। नाहटा जी का विश्वास है कि 'हिंदी, राजस्थानी और बंगला में जो मंगल संज्ञा वाले काव्य मिलते हैं वे इसी (जैन धवलकाव्य) परंपरा की देन हैं।'[१] कहा नहीं जा सकता कि यह कथन कहाँ तक ठीक है। सामान्यतया यह विश्वास किया जाता है कि बंगाल में मंगल काव्यों की बड़ी पुरानी परंपरा है।

'शृंगारिक मुक्तक' वाले अध्याय के अंत में बारहमासा का उल्लेख हो चुका है। श्री विनयचंद्र सूरिकृत 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' प्राप्त साहित्य में

बारहमासा

वह प्रथम प्रबंध रचना है जिसमें बारहमासा वर्णन का प्रयोग हुआ है। यह प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज) में प्रकाशित हुआ है। राहुलजी ने इसका समय १२ वीं शताब्दी अनुमानित किया है।[२] नाहटाजी के अनुसार 'उपलब्ध बारहमासों में सबसे प्राचीन 'जिनधर्मसूरि बारह नांवउ' है जिसकी पद्य संख्या ५० है। यह तेरहवीं शताब्दि की रचना है।'[३] जो भी हो बारहमासा वर्णन १२ वीं शताब्दी से पूर्व नहीं मिलता। इसमें प्रोषितपतिका के ऊपर बारह महीनों की प्राकृतिक गतिविधि का प्रभाव दिखाया जाता है।[४] सारी की सारी प्रकृति अतिशय विरहोद्दीपक रूप में सामने आती है। 'नेमिनाथ चउपई' में श्रावण से बारहमासा आरंभ करके

१—ना० प्र० प०, वर्ष ५८, पृ० ।

२—हिंदी काव्यधारा, पृ० ४२८ ।

३—ना० प्र० प०, वर्ष ५८, अंक ४, सं० २०१०, पृ० ४३० ।

४—बारहमासा साहित्य में अवश्य विरहवर्णन में ही गृहीत हुआ पर लोकगीतों में यह संयोग वर्णन में भी प्राप्त होता है।

आषाढ़ में समाप्त किया गया है। इस बारहमासे का विकास हिंदी में मुक्तकों और प्रबंधों दोनों में हुआ है। हिंदी में लोगों को आमतौर से पद्मावत के ही बारहमासे का पता है लेकिन विद्यापति ने भी बारहमासा लिखा है यह कम लोगों को ज्ञात है। इस प्रकार हिंदी में सर्वप्रथम बारहमासा मैथिली कवि विद्यापति का ही मिलता है जिन्होंने विरहोद्दीपन रूपा प्रकृति को आषाढ़ से आरंभ करके ज्येष्ठ में समाप्त किया है। अंत में इन्होंने लिखा है :—

रूपनरायन पूरथु आस। भनइ विद्यापति बारहमास ॥[१]

कबीर और तुलसी के नाम पर भी बारामासी-रचनाएँ बताई जाती हैं। ये रचनाएँ इन महात्माओं की ही हैं यह नहीं कहा जा सकता। जो भी हो साहित्य में बारहमासा ज्ञान और वैराग्य के वहन का भी साधन बनकर अपना ऐतिहासिक विकास सूचित करने के लिये सुरक्षित है। केशवदास ने भी कवि-प्रिया में बारहमासा का वर्णन षड्ऋतु वर्णन के साथ किया। सेनापति ने 'कवित्तरत्नाकर' में इन दोनों शैलियों का समन्वय कर दिया है। उन्होंने प्रत्येक ऋतु के दो मास का अलग और फिर दोनों भागों में से एक एक का वर्णन किया है। मुक्तककाव्य रूप के भीतर अंतिम बारहमासा वर्णन क्रमबद्ध रूप से 'विक्रम सतसई' में मिलता है।

संपूर्ण बारहमासा वर्णन में देश विशेष की प्रकृति विशेष का चित्रण होता है। लोकभाषा से चयित देशज उपमानों के नियोजन से बारहमासे विशेष सुंदर हो जाते हैं। षडऋतु वर्णन में अवश्य परंपरारूढ़ उपमान लिए जाते हैं।

वर्णमाला मूलक काव्य रूप

वर्णमाला के प्रथम अक्षर से आरंभ करके काव्य-रचना अपभ्रंश में आरंभ हो गई थी। इसको वहाँ मातृका और कक्क संज्ञाएँ प्रदान की गई हैं। प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह को देखने से पता चलता है कि शालिभद्र कक्क दूहा मात्रिका, सम्यकत्व माई चौपाई और मात्रिका चौपाई ऐसी ही रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी की हैं। इन रचनाओं में नागरी वर्णमाला के बावन अक्षरों से काव्यरचना आरंभ की जाती है। बाद में संभवतः इसी कारण इसे 'बावनी' संज्ञा मिल गई। हिंदी में एक ऐसी रचना जायसी की अखरावट प्राप्त होती है। कबीरदास के बीजक

१—विद्यापति पदावली, पृ० २७३।

के ज्ञान चौंतीसा में भी यही प्रणाली अपनाई गई है। इन्हीं के नाम पर 'आलिफनामा'[1] नामक एक इसी शैली की पुस्तक बताई जाती है। डा० द्विवेदी की सूचना के अनुसार बंगाल में भी मुसलमान कवियों के लिखे चौंतीसा नामवाले काव्य ग्रंथ मिलते हैं। नाहटा जी की सूचना के अनुसार हिंदी, राजस्थानी, गुजराती में लगभग ५० के करीब बावनियाँ हैं। भिन्न भिन्न छंदों में रची होने से इनके नाम दूहाबावनी, सवैयाबावनी, कवित्त बावनी, कुंडलिया बावनी आदि रखे गए हैं और कुछ के नाम विषय के अनुसार धर्म-बावनी, गुणबावनी आदि भी मिलते हैं। जैनाचार्यों और कबीर आदि के द्वारा लिखे हुए इस शैली के काव्यों में प्रायः अपने अपने मतवादों के रहस्यों और धर्मोपदेशों का स्थापन है।[2]

गोष्ठी और संवाद

हिंदी में कबीरदास के नाम पर कबीर और धर्मदास की गोष्ठी, कबीर गोरख गोष्ठी आदि गोष्ठी परक रचनाएँ मिलती हैं। गोरखनाथ के नाम पर भी 'मछींद्र गौरव बोध', 'गोरख गणेश गुष्टि', 'गौरव दत्त गुष्टि', 'महादेव गौरव गुष्टि' आदि की रचनाएँ प्राप्त होती हैं। इन रचनाओं की प्रामाणिकता अवश्य संदिग्ध है पर यहाँ उससे प्रयोजन नहीं। गोष्ठी एक काव्यरूप था हमें केवल इसी सूचना से प्रयोजन है। अपभ्रंश में भी संवाद वाद, झगड़ो आदि काव्यरूपों में यह शैली प्राप्त होती है।

गीता स्तोत्र

अपभ्रंश और राजस्थानी में कदाचित् श्री भगवद्गीता की प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर जैनाचार्यों ने गीता संज्ञक रचनाएँ की है। कबीर के नाम पर भी उग्रगीता नामक एक रचना मिलती है। स्तोत्र स्तुति स्तवन आदि में भी जैनाचार्यों का गुणानुवाद हुआ है। कबीरदास के नाम पर भी 'ज्ञानस्तोत्र' नाम की एक रचना मिलती है। अपभ्रंश और हिंदी दोनों के स्तोत्रों में साम्य है।

१—अलिफनामा में फारसी वर्णमाला के अक्षरों से आरंभ करके काव्य रचना होती है।

२—गोरखबानी में भी 'सप्तवार' और 'पंद्रह तिथि' नामक दो रचनाएँ मिलती हैं। इनमें क्रमशः प्रत्येक वार और प्रत्येक तिथि से आरंभ करके मतोपदेश किया गया है। इसमें स्पष्टतः वर्णमाला वाली पद्धति तो नहीं अपनाई गई है पर व्यापक दृष्टि से शैली वही है।

पारिवारिक गानों का भी अपभ्रंश और हिंदी काव्यरूपों पर विशेष प्रभाव पड़ा है। अपभ्रंश और पुरानी राजस्थानी में मिलने वाले गरबा, बोली, हालरियो, रसोई, कड़ा आदि काव्यरूप इन्हीं पारिवारिक गानों से निकले हैं। हिंदी में कबीर ने बिरहुली बेलि आदि में वस्तुतः इसी पारिवारिक परिवेश के विविध क्रिया कलापों से संबधित गीतों से लिया है। आगे चलकर तुलसीदास ने भी सोहर आदि पारिवारिक गान शैलियों को अपनाया है।

पारिवारिक गान

'मुक्तक काव्य का स्वरूप' वाले अध्याय में जैसा कि कहा जा चुका है कि अनिबद्ध मुक्तकों को संकलन की सुविधा के लिये संख्यामूलक काव्य रूढ़ि दी गई। हाल की गाथा सप्तशती ऐसा पहला ज्ञात संख्यामूलक काव्यरूप संकलन है जिसमें सात सौ की रूढ़ि अपनाई गई है। अमरूक का शतक और गोवर्धन की आर्या सप्तशती इसी शृंगारिक परंपरा में आते हैं। इधर स्तोत्र ग्रंथों में भी इस रूढ़ि को अपनाया गया है! मयूर कवि का स्तुतिपरक सूर्यशतक और बाण का चंडीशतक आदि ग्रंथ इसके उदाहरण हैं। नीति, वैराग्य और शृंगार को विषय बनाकर भर्तृहरि ने भी तीन प्रसिद्ध शतक लिखे। संस्कृत शृंगारिक शतकों की परंपरा को उत्प्रेक्षावल्लभ ने सुन्दरीशतक (१४ वीं शती) और विशेश्वर कवि ने रोमावली शतक (१८वीं शती) लिखकर बढ़ाया। गोवर्द्धन की आर्याशप्तशती की परंपरा में १८वीं शती में विश्वेश्वर कवि की आर्यासप्तशती आती है। विल्हण कवि की एक चौरपचाशिका भी मिलती है और काफी परवर्ती काल में चंडी कुच पचाशिका नामक ग्रंथ भी मिलता है। इन सबमें स्तोत्र परंपरा और शृंगार परंपरा का विचित्र घालमेल हो गया है। अपभ्रंश में यह परंपरा चली अवश्य होगी जिसके निश्चित चिह्न हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण में मिलते हैं किंतु वह परंपरा अपने संपूर्ण रूप में लुप्त हो गई है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार हेमचंद्र के व्याकरण में आए हुए दोहों को देखकर अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि उस समय वह परंपरा जीती अवश्य रही होगी।[1] पुरानी राजस्थानी में अवश्य जैनाचार्यों ने सतक, बहोत्तरी, सत्तरी, छत्तीसी, बत्तीसी, इक्कीसी, चौबीसी,

---

१—हिंदी साहित्य, पृ० ३२६।

चौसी, अष्टक आदि काव्यरूपों में रचनाएँ की हैं। हिंदी में सबसे पहले रहीम की सतसई कही जाती है जिसके कुछ दोहे भर अब प्राप्त होते हैं। तुलसी के नाम पर भक्ति सतसई भी मिलती है। तत्पश्चात् मुबारक आदि कवियों के अलक शतक और तिलक शतक जैसे ग्रंथ आते हैं। हिंदी में इस परंपरा की सबसे प्रमुख रचना बिहारी की सतसई है। इसके ढंग पर मतिराम ने भी एक सतसई बनाई। इसके दोहे सरसता में बिहारी के दोहों के समान ही हैं।[१] इसके बाद रसनिधि ने अपना 'रतन हजारा' तैयार किया और राम सहाय तथा विक्रम की क्रमशः राम सतसई तथा विक्रम सतसई तो प्रसिद्ध ही है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का यह मत सही है कि हिंदी में शृंगार की सतसइयों का आरंभ बिहारी से ही होता है।[२] लेकिन बिहारी सतसई के पीछे निश्चित रूप से प्राकृत की गाथा सप्तशती, अमरुक शतक, आर्या सप्तशती और अपभ्रंश के शृंगारिक दोहे रहे हैं। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए डा० द्विवेदी ने कहा है कि 'यह एक विशाल परंपरा के लगभग अंतिम छोर पर पड़ती है और अपनी परंपरा को संभवतः अंतिम विंदु तक ले जाती है।'[३] पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार 'सतसैया पारंपारिक शृंगार-धारा का विकास है।'[४]

इन काव्यरूपों के अतिरिक्त भी हिंदी में अनेक ऐसे काव्यरूप हैं जो अपभ्रंश में नहीं मिलते या यदि उनके कुछ चिन्ह मिलते भी हैं तो राजस्थानी में। उदाहरण स्वरूप अठपहरा और अष्टयाम, हिंडोला, बिरहुली, कवित्त सवैया पद्धति आदि। इसके पीछे एक स्मरणीय बात यह है कि अपभ्रंश का न जाने कितना साहित्य लुप्त हो गया और न जाने कितना अभी भांडारों में छिपा पड़ा है। इस दिशा में अथक परिश्रम करने की आवश्यकता है।

———

१—हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल पृ० २८०।
२—बिहारी, पृ० ८४।
३—हिंदी-साहित्य, पृ० ३२६।
४—बिहारी, पृ० ८४।

भाषा की लय जब काल और स्वराघात के साम्य और अन्विति द्वारा नियंत्रित होती है तो उसी का नाम छंद है। छंद दो प्रकार के होते हैं वर्णिक और मात्रिक। वर्णिक वृत्त रचना की परंपरा तो संपूर्ण संस्कृत साहित्य में गृहीत हुई है किंतु मात्रिक वृत्त-रचना अपभ्रंश भाषा की अपनी देन है। अपभ्रंश छंदों ने मात्रावृत्तों को ही नहीं अपनाया वरन् समतुकांत की प्रवृत्ति भी अपनाई। तीसरी प्रवृत्ति यह थी कि अपभ्रंश में पूर्व साहित्य में अप्रचलित और अप्राप्त अनेक नूतन लोकछंद गृहीत हुए। अपभ्रंश का पूरा साहित्य आज प्राप्त नहीं है किंतु जितना भी प्राप्त है उसको देख कर यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि अपभ्रंश ने विशाल मौलिक छंद संपत्ति अर्जित की। अपभ्रंश से सहज रूप से निकलने वाली हिंदी भाषा की विभिन्न विभाषाओं के साहित्यों ने भी इन छंद प्रवृत्तियों को अपनाया। न केवल राजस्थानी बल्कि ब्रजभाषा, अवधी, बिहारी आदि सब में यह समतुकांत और मात्रिक छंद प्रवृत्तियाँ विकसित हुई। मात्रिक छंद और समतुकांत प्रवृत्ति की जो इतनी बड़ी देन अपभ्रंश की मानी जाती है वह भी संभवतः लोकस्वर के अनुकरण के ही कारण। विद्वानों ने अनुमान करके इन प्रवृत्तियों को विदेशागत भी कहने का प्रयत्न किया है किंतु यदि लोक साहित्य और लोकगीतों का ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और शैलिपक दृष्टियों से सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि ये प्रवृत्तियां लोक छंदों के सतत अनुसरण की फल हैं। यही कारण है कि अपभ्रंश अथवा हिंदी कविताएँ वर्णवृत्तों में नहीं जम पातीं। मात्रावृत्त इन काव्यों का अविभाज्य शरीर है।

अपभ्रंश के हिंदी में विकसित होने वाले उन छंदों का विश्लेषण नीचे किया जाता है जिनका यहाँ पर विचार किया गया है।

१—चौपाई काव्यरूपों के विवेचन के प्रसंग में रमैनी शीर्षक के अंतर्गत दोहा चौपाई को एक काव्यरूप मानकर विचार किया गया है। यह बताया गया है कि दोहा चौपाई की प्रणाली सिद्धों में प्राप्त होती है जिसका विकास प्रबंधों के क्षेत्र में तो हुआ ही संतों की मतपोषक मुक्तक रचनाओं में भी हुआ। यह चौपाई दोहा प्रणाली लोक का अत्यंत उपयोगी छंद है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने चौपाई छंद का मूल अपभ्रंश का अलिल्लह छंद बताया है।[१] प्राकृत पैंगलम् के अनुसार अलिल्लह छंद १६ मात्राओं का होता

१—हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ५६।

है। उसमें दो यमकों का विनियोग होना चाहिए और अंत में जगण न होकर दो लघु होना चाहिए।[1] उदाहरणस्वरूप—

जहि आसावरि देसा दिएहउ, सुत्थिर डाहर रज्जा लिएहउ ॥
कालजर जिणि कित्ती थप्पिअ, घणुआ वज्जिअ धम्मक अप्पिअ ॥[2]

प्रो० हरिवल्लभ भयाणी ने प्राकृत के विभिन्न छद शास्त्रियों के मतों का विमर्श करके बताया है कि कालातर में यमक के बिना भी १६ मात्राओं का छंद अडिल्ला कहा जाने लगा।[3]

पिछले अध्याय में सरहपा की कुछ अडिल्लवत रचनाएँ दोहे चौपाई के नाम पर दी गई हैं। उनमें न तो यमक के नियम का पालन हुआ है न तो अत में भगण के विनियोग का नियम ही पालित किया गया है। इन छदों को अक्सर चर्यापदों के अतर्गत रखा गया है। आगे चलकर कबीर के बीजक की रमैनियों में इस पद्धति का प्रयोग हुआ है इसमें भी उक्त नियमों का पालन नहीं किया गया है।

तत्वमती इनके उपदेसा। ई उपनिषद कहैं संदेसा ॥
ई निश्चै इन्हके बड़भारी। वाहिक वरन करैं अधिकारी ॥

बीजक—पृ० ३०

इधर हिंदी का चौपाई छद १६ मात्राओं का होता है जिसके अंत में जगण अथवा तगण (SS।) का निषेध है। यह विश्वास करने का पर्याप्त आधार है कि अल्लिलह या अडिल्ल या अरिल्ल छद ही चौपाई का पूर्व रूप रहा होगा क्योंकि चौपाई छद अपभ्रंश में ज्यों का त्यों नहीं मिलता। अरिल्ल ही उसका समशील मिलता है। श्री नामवरसिंह ने चौपाई में एक मात्रा घटाकर

१—सोलहमत्ता पाउ अलिल्लह। वेवि जमक्का भेउ अलिल्लह ॥
हो ण पओहर किंपि अलिल्लह। अत सुपिअ भण छदु अलिल्लह ॥
प्रा० पैं० २२२।१२८

२—प्रा० पैं० १२८।

३—Introduction to Sandesh Rasaka, P. 51.

चौपाई बनाये जाने की कल्पना की है[1] पर यह विशुद्ध कल्पना है। श्री भयाणी के अनुसार अढिल्ल में १६ मात्रा का होना ही काफी था और चौपाई के विषय में भी १६ मात्राओं और जगण तगण के निषेध के अतिरिक्त और कोई नियम नहीं रखा गया है। इस प्रकार अरिल्ल से चौपाई का विकास विशेष संभव जान पड़ता है।

चौपाई का प्रयोग जायसी और तुलसी के प्रबंधों में बाद में चलकर हुआ किंतु कबीर आदि संतों की रचनाओं में इसका प्रयोग पहले ही हो चुका था। अडिल्ल का प्रयोग सिद्धों में तो हुआ ही प्रबंधकाव्यों के अतिरिक्त संदेशरासक जैसे प्रबंध मुक्तकों में भी हुआ है। एक बात और, यदि शास्त्रीय रूढ़ियों को थोड़ा ढीला किया जाय तो अनेक मात्रिक और वर्णिक वृत्त अरिल्ल और चौपाई की तरह दीख पड़ेंगे। उदाहरणस्वरूप अलिल्ला; पज्झटिका, अडिल्ल, चउबोला आदि छंद चौपाई से मिलते जुलते हैं। यह चौपाई की व्यापक लोकप्रियता की सूचना है।

(२) दोहा—प्रत्येक नया युग या नया वर्गीय जागरण अपने साथ नया छंद लाता है। लोकभाषा अपभ्रंश जिस समय शक्तिशाली हुई उस समय इस नई ग्रामीण जनसंस्कृति का वाहक दोहा बना। दोहा सर्वप्रथम विक्रमोर्वशीय में मिलता है।[2] डा० द्विवेदी ने दोहा छंद का संबंध आभीर जातियों से जोड़ा है। प्राकृत पैंगलम् में ग्यारह मात्राओं के चार समान चरणों से युक्त 'आभीर या अहीर छंद मिलता है। डा० द्विवेदी ने इसे दोहे से मिलाया है। अंत में उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि दोहा का कुछ संबंध सम्भवतः आभीर आदि जातियों से स्थापित किया जा सके, परंतु यह बात ठोस प्रमाणों पर कम और अटकल पर अधिक आधारित है।'[3] प्राकृत पैंगलम् में स्वयं दोहा छंद आया है। उसमें प्रथम पद १३ मात्रा और द्वितीय पद ११ मात्रा का

१—हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ३०२।

२—मई जाणिअं नियलोयणी, णिसयरु कोइ हरेइ।
जाव ण णव जलि सामल, धाराहरु वरसेइ॥
विक्रमोर्वशीय च० अंक

३—हिंदी साहित्य का आदिकाल।

होता है। पुनः तेरह ग्यारह मात्राएँ दोहा का लक्षण बनाती हैं।[1] दोहा अपभ्रंश के मुक्तक साहित्य का प्रतिनिधि छंद है। प्रस्तुत प्रबंध के प्रत्येक निबंध में बहुत से अपभ्रंश दोहा छंदों का प्रयोग हुआ है। हिंदी मुक्तकों में भी सर्वाधिक लोकप्रिय छंद दोहा ही रहा है। यह दोहा प्रबंधों में भी कड़ियों के रूप में आया है जिसे घत्तामूलक छंद कहना चाहिए।

(३) सोरठा—सोरठे का संबंध सौराष्ट्र से बताया जाता है। जो भी हो यह दोहे से विपरीत छंद है। नागराज पिंगल के अनुसार इसके प्रत्येक पद में यमक होना चाहिए।[2] उदाहरण यह है—

सो माणिअ पुणवंत जासु भत्त पंडिअ तणअ।
जासु घरिणि गुणवंति सो वि पुहवि सग्गह णिलअ॥

हिंदी में इसका उदाहरण यह है—

जाचै बारहमास, पियै पपीहा स्वाति जल।
जान्यौ तुलसीदास, जोगवत नेही मेहमन॥

(४) रोला—इसके प्रत्येक चरण में ११, १३ के विश्राम से २४ मात्राएँ होती हैं। अंत में चार लघु या भगण (ऽ।।) या सगण (।।ऽ) भी मिलते हैं। अपभ्रंश से उदाहरण—

पअभरु दरमरु धरणि तरणि रह धुल्लिअ झंपिअ।
कमठ पिठ्ठ टरपरिअ मेरु मंदर सिर कंपिअ॥
कोह चलिअ हमीर वीर गअजूह संजुत्ते।
किअउ कट्ठ हाकंद मेच्छहके पुत्ते॥

—प्रा० पैं० १५७।९२

१—तेरह मत्ता पढम पअ पुणु एआरह देह।
पुणु तेरह एआरहहि दोहा लक्खइ एह॥

प्रा० पैं० १३८।७८

२—सो सोरट्ठउ जाण जं दोहा विवरीअ ठिअ।
पअ पअ जमक बखाण णाअराअ पिंगल कहिअ॥

प्रा० पैं० २७८।१७०

हिंदी से—

नव उज्जल जलधार, हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद, मध्य मुक्तामनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन, एक पै इक इमि आवत।
जिमि नरगनमन विविध मनोरथ करत मिटावत॥

रोला का प्रयोग अपभ्रंश में सिद्धों ने बहुत अधिक किया है। उदाहरण स्वरूप :—

एत्थु में सुरसरि जमुणा, एत्थ से गंगा साअरु।
एत्थु पआग बणारसि, एत्थु से चंद दिवाअरु॥ ४७॥

—सरह दोहाकोष

प्रबंधों में घत्ताक छंद के रूप में इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है। हिंदी में भी इसका दोनों शाखाओं में विकास हुआ है।

(५) कुंडलिया—इसमें २४-२४ मात्राओं के छः चरण रहते हैं इस प्रकार कुल १४४ मात्राओं का यह मात्रिक विषम छंद है। आदि के दो चरणों में दोहा रहता है जो दो दलों में लिखा रहता है। आगे रोला जोड़ देने से यह छंद बन जाता है। दोहे के आदि के कुछ शब्दों का रोला के चौथे चरण के अंतिम शब्दों के साथ और दोहे के चौथे चरण का रोला के आदि से सिंहावलोकन होना आवश्यक है।[1] अपभ्रंश से उदाहरण—

ढोल्ला मारिअ ढिल्लिमह मुच्छिअ मेच्छ सरीर।
पुर जज्जला मंतिवर चलिअ वीर हम्मीर।
चलिअ वीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिग मग णह अंधार धूलि सूरह रह झंपइ॥
दिग मग णह अंधार आणु खुरसाणक ओल्ला।
दरमरि दमसि विपक्ख मारअ दिल्लि मह ढोल्ला।

—प्रा० पै० २४८।१४७

हिंदी में बाबा दीनदयाल गिरि की कुंडलियाँ अत्यंत प्रसिद्ध हैं।

१—काव्यांग कौमुदी (तृतीय कला) पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र पृ० २०४।

(६) हरिगीतिका—प्रा० पैं० में एक हरिगीता छंद मिलता है। सभवतः उसे ही हिंदी में हरिगीतिका कहा गया है क्योंकि दोनों के लक्षण परस्पर मिलते हैं। इसमें १६-१२ के विश्राम से २८ मात्राएँ होती हैं और अंत में लघु गुरु (।ऽ) होता है। प्रा० पैं० (पृ० ३०९) का उदाहरण—

गअ गअहि ढुक्किअ तरणि लुक्किअ तुरअ तुरअहि जुज्झिआ।
रह रहहि मीलिअ धरणि पीलिअ अप्पपर णहि बुज्झिआ॥
वल मिलिअ आइअ पत्ति जाइउ कंप गिरिवर सीहरा।
उच्छलइ साअर दीण काअर वरह वट्टिअ दीहरा॥

हिंदी में—

ये दारिका परिचारिका करि, पालिवी करुणामयी।
अपराध छमियो बोलि पठये, बहुत हौं ढीठा दयी॥ आदि

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने इस छंद का खड़ी बोली में विशेष प्रयोग किया है।

(७) छप्पय—इसमें छः चरण होते हैं। पहले २४-२४ मात्राओं के चार चरण रोला के होते हैं। अंतिम दो चरणों में या तो २८-२८ मात्राओं के उल्लाल छंद के दो दल होते हैं अथवा २६-२६ मात्राओं के उल्लाला के दो दल होते हैं।

प्रा० पैं० का उदाहरण—

पिंधउ दिढ सरणाह वाह उप्पर पक्खर दइ।
वंधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर वअण लइ॥
उड्डल णहपह भमउ खग्ग रिउ सीसहि डारउ।
पक्खर पक्खर ठेल्लिपेल्लि पव्वअ अप्फालउ॥
हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुहमह जलउ।
सुलताण सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिअ चलउ॥

—प्रा० पैं० १८०।१०६

हिंदी में नाभादास के छप्पय अत्यंत प्रसिद्ध हैं।

पटपद या छप्पय का वास्तविक सौंदर्य वस्तुतः पृथ्वीराज रासो में दिखाई पड़ता है यद्यपि वहाँ इसे कवित कहा गया है। पुरातन प्रबंध संग्रह में पृथ्वीराज रासो के जो चार छप्पय मिलते हैं वे अपभ्रंश भाषा में ही हैं।

अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदी का छप्पय छंद अपभ्रंश से ही आया है।

(८) चवपैया—१०, ८ और १२ के विराम से इसके प्रत्येक चरण में ३० मात्राएँ होती हैं। इसके तुकांत में एक सगण और एक गुरु (॥ऽऽ) रहना चाहिए। इसके अंत में गुरु का होना आवश्यक है। इसमें पहले द्विकल रखकर फिर चौकल रखना चाहिए। प्राकृत पैंगलम् (१६९।९८) से—

जसु सीसइ गंगा गौरि अधंगा गिव पहिरिअ फरिहारा।
कंठदि्ठअ बीसा पिंधण दीसा संतारिअ संसारा॥ आदि

हिंदी में चउपइया का विकास प्रबंधों में विशेष हुआ है पर मुक्तकों में यह छंद विरल है।

कह दुहुँ कर जोरी, अस्तुति तोरी, केहि विधि करउं अनंता।
माया गुन ग्यानातीत अमाना, वेद पुरान भनंता॥ आदि

(९) झूलणा—प्राकृत पैगलम् (२६१।१५६) में झूलणा छंद मिलता है इसको कबीर आदि संतों ने विशेष प्रयुक्त किया है। प्रा० पैं० के अनुसार इसमें १०, १०, १७ मात्राओं के विश्राम से ३७ मात्राएँ होती हैं। अंत में गुरु का आना आवश्यक है।

उदाहरण—

सहस मअमत्त गअ, लाख लख पक्खरिअ,
साहि दुइ साजि खेलंत गिंदू।
कोप्पि पिअ जाहि तहि, अप्पि जसु बिमल महि,
जिणइ णाहि कोइ तुअ तुलक हिंदू॥

कबीर की शब्दावली में भी यह छंद मिलता है—

साध का खेल तो बिकट बैंढ़ा-मती सती और सूर की चाल आगे।
सूर घमसान है पलक दो चार का सती घमसान पल एक लागे॥

(१०) चौपई—इसमें १५-१५ के विश्राम से ३० मात्राएँ होती हैं।

कत्तिग क्षित्तिग ऊगे संझ। रजमति झिज्झड हुइ अति झंझ।
राति दिवसु आछइ विलपंत। वलि वलि दय करि दयकरि कंत॥
—नेमिनाथ चउपई

तेरहवीं शताब्दी के अमीर खुसरो ने भी चउपई की प्रयोग किया है—

एक थाल मोती से भरा। सबके सिर पर औंधा धरा।
चारो ओर वह थाली फिरै। मोती उससे एक न गिरे॥

× × ×

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अपभ्रंश का प्रस्तुत मुक्तक छंद दोहा है। हिंदी में भी दोहे की यह प्रमुखता बनी रही। हिंदी के भक्तिकाल में आकर अवश्य दोहे के कुछ प्रतिद्वंद्वी छंद अस्तित्व में आए। सवैया और कवित्त ऐसे ही छंद थे। यदि एक ओर तुलसी की दोहावली लिखी गई तो दूसरी ओर कवितावली भी। रीतिकाल में भी यह परपरा अक्षुण्ण रही। वहाँ भी एक ओर यदि देव मतिराम घनानंद आदि के सवैया और कवित्त लिखे गए तो दूसरी ओर बिहारी, मतिराम, रसनिधि, विक्रम आदि के द्वारा दोहों में सतसइयाँ भी लिखी गईं। सवैया और कवित्त इन दोनों का संस्कृत अथवा अपभ्रश साहित्य में स्पष्ट मूल नहीं मिलता। सस्कृत वर्णवृत्तों में सवैया का कुछ सधान अवश्य मिलता है।

हिंदी में सवैया के निम्नलिखित स्वरूप भेद प्राप्त होते हैं —

१—मदिरा २—चकोर ३—मत्तगयद ४—सुमुखी ५—किरीट ६—मुक्तहरा ७—दुर्मिल ८—वाम ९—अरसाल १०—सुंदरी।

प्रा० पैंगलम् में सीधे सवैया नाम तो कहीं नहीं आता किंतु हिंदी के सवैया छद के स्वरूप भेदों के अनेक नाम उसमें प्राप्त हो जाते हैं।

(१) दुम्मिला प्रा० पैं० पृ० ५७१–५७४ । २०८–२०९ (वर्णवृत्त)
(२) सुंदरी ,, ५६७–५७० । २०६–२०७ (वर्णवृत्त) ।
(३) किरीट ,, ५७५–५७८ । २१०-२११ (वर्णवृत्त)
(४) सुमुही ,, ४१३–४१४ । १०२–१०३ (वर्णवृत्त)

श्री नामवर सिंह ने 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' नामक पुस्तक में सवैया के विषय में लिखा है कि संस्कृत का जो वर्णिक वृत्त द्विगुणित किए जाने पर दुर्मिल सवैया हो जाता है वह है चार सगण वाला त्रोटक छद। (पृष्ठ ३०४) लेकिन यह बात समझ में नहीं आती कि संस्कृत के अनेक वर्णिक वृत्त स्वयं सवैया के समशील हैं तो किसी छद को द्विगुणित करके सवैया का सधान खोजने की क्या जरूरत। इस बात को प्रमाणित करने के

लिये नीचे प्राकृत पैंगलम् के वर्णिक वृत्तों और हिंदी सवैया के कुछ भेदों की तुलना उपस्थित की जाती है:—

(१) दुर्म्मिल—हिंदी के दुर्मिल सवैया में आठ सगण (॥ऽ) होते हैं। उदाहरण—

तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।
अति सुंदर सोहत धूरि भरैं, छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं॥ आदि

प्रा० पैं० दुर्मिला वर्णवृत्त में भी आठ सगण होते हैं। प्रा० पैं० में लिखा है—

भणु मध वत्तीसह जाणह सेसह अट्ठह ठाम ठई सगणा।

उदाहरण में निम्न छंद दिया है:—

पहु दिज्जिअ वज्जअ सिज्जिअ होप्पर कंकण बाहु कीरीट सिरे।
पइ कस्महि कुंडल णं रइ मंडल ठाविअ हार फुरंत उरे॥
पइ अंगुल मुद्दरि हीरहि सुंदरि कंचण रज्जु सुमज्झ तणू।
तसु तूणउ सुंदर क्किज्जिअ मंदर ठावह वाणह सेस धणू॥

स्पष्ट है कि दुर्मिल सवैया का मूल खोजने के लिये त्रोटक की आवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि दुर्मिल की ही तरह संस्कृत के अनेक वर्णवृत्त हिंदी के सवैया के अनेक भेदों से मिलते हैं प्रमाण नीचे दिया जाता है।

सुंदरी—हिंदी में सुंदरी सवैया में आठ सगण (॥ऽ) और एक गुरु वर्ण, कुल २५ अक्षर होते हैं।

भुव मारहिं संयुत राकस को गन जाय रसातल में अनुराग्यो।
जग में जय शब्द समेतहि केसव राज विभीसन के सिर जाग्यो॥

—आदि

प्रा० पैं० में जो सुंदरी वर्णवृत मिलता है उसमें आदि में दो सगण वीच में भगण और अंत में पांच सगण होते हैं (पृ० ५६९) इसमें तेईस अक्षर होते हैं। उदाहरण निम्न है।

जिण वेअ धरिज्जे महिअल लिज्जे पिट्ठिहि दंतहि ठाउ धरा।
रिउ वच्छ विआरे छलतणु धारे वंधिअ सत्तु सुरज्जहरा॥

—आदि

दोनों की तुलना करने पर पता चलता है कि जब हिंदी सुदरी में आठ सगण और अत में गुरु है तो अपभ्रंश में सात सगण तथा एक मध्यवर्ती भगण मात्र है। अपभ्रंश में अतिम एक गुरु का अभाव है। नाम की एकता और अधिकाश लक्षणों की समानता देखकर यह कहा जा सकता है कि हिंदी वालों ने सात सगणों के समूह में एक भगण को उड़ा देना ही उचित समझा होगा तथा अतिम गुरु को स्वराघात की दृष्टि से बढ़ा लिया होगा।

किरीट—यह आठ भगण (ऽ॥) का सवैया है—

बालि बली न बच्यौ पर खोरहि क्यों बचिहौ तुम आपनी खोरहिं।
जा लगि क्षीर समुद्र मथ्यौ कहि कैसे न बाधिहै बारिधि थोरहिं॥

प्रा० पैं० में जो किरीट छद दिया गया है उसमें भी ८ भगण की ही शर्त है (५७६ पृ०) छद नीचे उद्धृत किया गया है।

वप्पअ उक्कि सिरे जिणि लिज्जिअ तेज्जिअ रज्ज बणंत चले विणु।
सोअर सुंदरि संगिहि लग्गिअ मारु विराध कवध तहा हणु॥
—आदि

दोनों सर्वथा समान हैं।

सुमुखी—प्रा० पैं० में सुमुही नामक एक छद मिलता है। संभावना यह है कि हिंदी के सुमुखी सवैया का विकास इसी छद से हुआ होगा। दोनों में नामों की एकता की समानता के अतिरिक्त थोड़ा स्वरैक्य भी है। हिंदी सुमुखी में जब २३ अक्षर होते हैं तो सुमुही में २२ अक्षर, हिंदी में जब जगण पद्धति मिलती है तो सुमुही में ऐसी बात नहीं है। दोनों के उदाहरण निम्न-लिखित हैं।

मही पदपंकज जाहि लखे सिव, गंग तरग बही जिनते।
लजै रवि नदिनि जा परसे, प्रसते नहिं दोष दुसै तिनते॥

प्रा० पैं का उदाहरण—

अइचल जोव्वण देह धणा सिविणअ सोअर बधु अणा।
अवसउ काल पुरी गमणा परिहर पव्वर पाप मणा॥

ऐसे ही खोजने पर हिंदी सवैया के अन्य भेदों का भी सधान प्राप्त हो जायेगा ऐसा विश्वास किया जा सकता है।

कवित्त—कवित्त छंद भी हिंदी के भक्ति और रीतिकाल के भावों का समर्थ वाहक रहा है। कवित्त छंद का रासो में अर्थ छप्पय होता है। प्रा० पैं० या अपभ्रंश के रचनात्मक मुक्तक या प्रबंध साहित्य में कवित्त का संधान ठीक नहीं मिलता। लेकिन प्रा० पैं० में ऐसे अनेक छंद आये हैं जो युद्धभावव्यंजक हैं और जो कवित्त के स्वर से मिलते जुलते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कवित्तों का विकास इन्हीं युद्धभाव व्यंजक छंदों से हुआ होगा। बाद में चलकर कवित्त छंद न केवल वीररसात्मक भावों वरन श्रृंगाररसात्मक भावों के भी वाहक हुए। यह बात आश्चर्यजनक नहीं है। जिस प्रकार रास छंद मूलतः मसृण भावव्यंजक गेयरूपक से विकसित होकर युद्धप्रधान उद्धत रासो काव्यों के रूप में बदल गये उसी प्रकार कवित्त का भी विकास संभव है।

सारांश यह कि हिंदी के प्रायः सभी छंदों का उद्गम सातवीं आठवीं शताब्दी से चौदहवीं पंद्रहवीं शताब्दी तक विकसित होने वाले विशाल अपभ्रंश साहित्य में अवश्य ही प्राप्त हो जायेगा। वस्तुतः अपभ्रंश तथा हिंदी छंदों का तुलनात्मक अध्ययन अपने आप में बहुत बड़ा विषय है। इसलिए यहाँ कतिपय प्रमुख मुक्तक छंदों का ही विकास दिखाकर संतोष किया जाता है।

नामानुक्रमणिका

द

ध

न

प

स

सहायक ग्रंथ सूची

[इस सूची में केवल उन सहायक ग्रंथों की सूचना दी गई है जो केवल आलोचना या शोध ग्रंथ हैं या फिर संपादित रचनाओं की भूमिकाएँ हैं। मूल उपजीव्य और आलोच्य ग्रंथों की सूचना 'प्रवेश' नामक अध्याय तथा अन्य मध्यवर्ती पृष्ठों में दे दी गई है।]

संस्कृत

१—नाट्य शास्त्र—भरत

२—काव्यादर्श—दंडी

३—ध्वन्यालोक—आनंदवर्द्धन

४—अग्नि पुराण

५—ध्वन्यालोक लोचन—अभिनव गुप्त

६—काव्य मीमांसा—राजशेखर

७—काव्यानुशासन—हेमचंद्र

८—काव्यानुशासन—वाग्भट्ट

९—साहित्य दर्पण—विश्वनाथ

१०—मालविकाग्नि मित्र—कालिदास

११—मेघदूत—कालिदास

१२—शतकत्रय—भर्तृहरि

१३—अमरूकशतक—अमरु

१४—आर्या सप्तशती—गोवर्धन

१५—उज्वल नीलमणि—रूप गोस्वामीपाद

१६—शांडिल्य भक्तिसूत्र

१७—प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि—अनंग वज्र

१८—अपभ्रंश काव्यत्रयी—लालचंद्र भगवानदास गांधी।

१९—रत्नावली नाटिका—श्रीहर्ष

२०—महाभारत

२१—महाभाष्यम्—पतंजलि

२२—दशरूपक—धनंजय

२३—काव्यालंकार—रुद्रट
२४—काव्यालंकर—भामह

पालि

सुत्तनिपात
धम्मपद

प्राकृत

गाथा सप्तशती

हिंदी

अगरचंद नाहटा	प्राचीन भाषा काव्यों की विविध संज्ञाएँ (ना० प्र० प० स० २०१०, अं० ४)	
	वीरगाथा काल का जैन साहित्य (ना० प्र० प०, सं० १९९८, अं० ३)	
उदय नारायण तिवारी (डा०)	'वीरकाव्य संग्रह' की भूमिका	सं० २००५ वि०
चंद्रधर शर्मा गुलेरी	पुरानी हिंदी	सं० २००५ वि०
	गुलेरी ग्रंथावली	सं० २००० वि०
धर्मवीर भारती (डा०)	सिद्ध साहित्य	१९५५ ई०
नरेंद्रदेव (आचार्य)	बौद्धधर्म दर्शन	१९५६ ई०
नाथूराम प्रेमी	जैन साहित्य का इतिहास	१९४२ ई०
नगेंद्र (डा०)	रीतकाव्य की भूमिका	१९४९ ई०
नामवर सिंह (डा०)	हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग	१९५४ ई०
परशुराम चतुर्वेदी	उत्तरी भारत की संत परपरा	सं० २००८ वि०
पीतांबर दत्त बड़थ्वाल (डा०)	'हिंदी कविता में योग प्रवाह' (ना० प्र० प०) अ० ४ स० १९८७।	
प्रबोधबेचरदास पंडित (डा०)	प्राकृत भाषा	१९५४ ई०
भरतसिंह उपाध्याय	पालि साहित्य का इतिहास	सं० २०१२ वि०
	बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (द्वि० भा०)	२०११ वि०
मोतीलाल मेनारिया	राजस्थानी भाषा और साहित्य	स० २००८ वि०
	डिंगल में वीररस	सं० २००८ वि०

राहुल सांकृत्यायन	'हिंदी काव्यधारा' की भूमिका	१९४५ ई०
	पुरातत्व निबंधावली	१९३७ ई०
रामचंद्र शुक्ल (आचार्य)	हिंदी साहित्य का इतिहास सं०	१९९९ वि०
	जायसी ग्रंथावली की भूमिका सं०	२००८
	भ्रमरगीतसार (भूमिका) सं०	१९९६
रामकुमार वर्मा (डा०)	हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	१९३८ ई०
	कबीर का रहस्यवाद	१९३० ई०
	संत कबीर	१९४२ ई०
	साहित्य शास्त्र	१९५४ ई०
वासुदेव शरण अग्रवाल (डा०)	पाणिनिकालीन भारतवर्ष	सं० २०१२
	हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन	१९५३ ई०
विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	बिहारी	सं० २००७
श्यामसुंदरदास (डाक्टर)	कबीर ग्रंथावली की भूमिका	१९२७ ई०
	सतसई सप्तक की भूमिका	१९३१ ई०
हीरालाल जैन	अपभ्रंश भाषा और साहित्य अंक ३—४	सं० २००२
हजारीप्रसाद द्विवेदी (आचार्य)	हिंदी साहित्य की भूमिका	१९५० ई०
	कबीर	१९५३ ई०
	नाथ संप्रदाय	१९५० ई०
	हिंदी साहित्य का आदिकाल	१९५२ ई०
	मध्यकालीन धर्मसाधना	१९५२ ई०
	विचार वितर्क	१९५४ ई०
	हिंदी साहित्य	१९५२ ई०
त्रिगुणायत (डा०)	कबीर की विचारधारा	सं० २००० वि०

अंग्रेजी

Bhayani H. B.—Introduction to Sandesh Rasaka —1954.

Barathwal, P. D—Nirguna School of Hindi Poetry.

Brown, P.—Indian Painting.

Chatterji, S. K.—The Origin and Development of Bengali language.

Das Gupta, S. N. and De. S K } History of Sanskrit Literature

Dictionary of World Literature.

Encyclopeadia Britanica Vol. X.

Gune. P.—Introduction to Bhavisyatta Kaha.

Dictionary of World Literary terms. T. Shipley

Jinvijaya Ji—Preface to Sandesh Rasak.

Ker. W. P.—Forms and Styles in Poetry.

Keith. A B.—History of Sanskrit Literature.

Upadhye. A. N.—Introduction to Parmatma Pra—kash and yoga Sara.

Smith. V.—History of Fine Arts in India.

Upham. H.—The Typical forms of English Litera—ture.

Winternitz —A History of Indian Literature.

पत्र पत्रिकाएँ

नागरी प्रचारिणी पत्रिका

गगा पुरातत्वांक

हिंदी अनुशीलन

आलोचना

श्री जैन सत्यप्रकाश

सम्पूर्णानद अभिनंदन ग्रंथ

विश्वभारती पत्रिका—

The Journal of Department of Letters, Calcutta University Vol. XXVIII and Vol. XXX,

Indian Antiquery,

Journal of the Banaras Hindu University.

———

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
५	६	जाइन्दु	जोइन्दु
१९	८	कलांतर	कालांतर
७४	३	स्पृहणीय	स्पृहणीय
७४	७, १०, १८	ढूला	ढोला
७६	४	श्टगारिक	श्रृंगारिक
८१	२४	ढूला	ढोला
८२	१४	शंतिम	अंतिम
८४	२०	ढूला	ढोला
८६	१५	श्रृंगार	श्रृंगार
८६	१५	संमवहो	संमवहो
९५	११, २५	ढूला	ढोला
९९	१०	गड्ढिया	गड्डिया
१०१	४	भमर	भमर
१०६	२३	उसके	उसकी
१०८	१४	अइतुंगतणु	अइतुंगत्तणु
११०	१०	पढ़ें	गढें
१११	१	नारी की रूप	नारी के रूप
१११	२२	रंग का नाप	रंग की नाप
११३	१५	गौण	गौण हो गया है
१२०	१	विद्यावती	विद्यापति
१२२	७	नरवर	नखर
१२२	१७	अवाईं	आवइ
१२६	२७	प्रार्थक्य	पार्थक्य
१२७	२८	अपरिमित	अपरिमिति
१३१	२४	काव्य के विषम प्रेम पद्धति	काव्य की विषम प्रेम पद्धति
१३२	७	सूझी	सूफी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
१३७	१	अपा	अपार
१४२	५	पारसी	फारसी
१४६	२२	कविता से	कविता में
१५१	१४	प्रधान्य	प्राधान्य
१५१	२०	प्रतीत	प्रतीप
१७०	३०	जोयोगे	जोमोगे
१७२	१५	मुरझित	मुरझित
१७२	१६	पारलौकि	पारलौकिक
१७४	२	रसवाला	रखवाला
१८०	१४	दिग्म्रमित	दिग्भ्रमित
१८५	६	प्रमास्वर	प्रभास्वर
१८८	१७	गुरू	गुरु
१९५	६	सहिअउ	सहितउ
१९८	११	तरगापित थ	तरगायित था
२००	२६	असक्ति	आसक्ति
२०४	१२	लोभ	लोम
२०८	१६	सहजवानियों	सहजयानियों
२०६	१०	फरौ	फरो
२१४	८	वाह्यचारों	वाह्याचारों
२१५	१२	नार्यो	नार्यो
२२६	२६	पुत्रकारे	पुचकारे
२२७	१२	वेषम्यमूलक	वैषम्यमूलक
२२७	२२	प्रिया	प्रिय
२२८	४	गुट्ठठिअइो	गुट्ठिइओ
२२६	१४	हेलि	हेली
२२६	१५	देख	देस
२२६	१६	मववाला	मतवाला
२३१	५	जहीं	जहिं
२३२	७	ओसरिहया	ओसरियाइ
२३२	१	वणिअइ	वणिणअइ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
२३२	१	अम्मारा	अम्हारा
२४७	१२	खाइं	खाइँ
२४८	१५	जिस प्रकार अपने	जिस प्रकार सागर
२४८	२८	वृद्द वच	वृद्द पर वच
२५०	२०	सरवरेहि	न सरवरेहिँ
२५२	१६	हुहै	है
२५५	२२	रचना की प्रसाद गुण	रचना के प्रसाद गुण
२५६	१४	तहइ	लहइ
२६८	२०	अलंकारिक	आंकालरिक
२७२	१	आषाड़	आपाढ
२७३	१३	गौख	गोरख
२७४	६	कलापों ने	कलापो से
२७५	१५	पारंपारिक	पारंपरिक
२८०	२०	चौपाई	चौपई
२८६	४	प्रस्तुत	प्रमुख
२८७	५	सरोरूह	सरोरुह
२८७	११	कीरीट	किरीट
२८८	३	मगण	भगण

———

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
१३७	१	अपा	अपार
१४२	५	पारसी	फारसी
१४६	२२	कविता से	कविता में
१५१	१४	प्रधान्य	प्राधान्य
१५१	२०	प्रतीत	प्रतीप
१७०	३०	जोवोगे	जोभोगे
१७२	१५	मुरक्षित	सुरक्षित
१७२	१६	पारलौकि	पारलौकिक
१७४	२	रसवाला	रखवाला
१८०	१४	दिग्म्रमित	दिग्भ्रमित
१८५	६	प्रमास्वर	प्रभास्वर
१८८	१७	गुरू	गुरु
१६५	६	सहिअउ	सहितउ
१६८	११	तरगापित थ	तरगायित था
२००	२६	असक्ति	आसक्ति
२०४	१२	लोभ	लोम
२०८	१६	सहजवानियों	सहजयानियों
२०६	१०	करौ	करो
२१४	८	वाह्यचारों	वाह्याचारों
२१५	१२	नार्थो	नार्थो
२२६	२६	पुत्रकारै	पुचकारै
२२७	१२	वेपम्यमूलक	वैषम्यमूलक
२२७	२२	प्रिया	प्रिय
२२८	४	गुट्ठठिअड्डो	गुट्ठट्ठिहश्री
२२६	१४	हेलि	हेली
२२६	१५	देख	देस
२२६	१६	मववाला	मतवाला
२३१	५	जहीं	जहिं
२३२	७	ओसरिहया	ओसरियाइ
२३२	१	वणिअइ	वणिणअइ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
२३२	१	अम्मारा	अम्हारा
२४७	१२	खाइं	खाइँ
२४८	१५	जिस प्रकार अपने	जिस प्रकार सागर
२४८	२८	वृत्त वच	वृत्त पर वच
२५०	२०	सरवरेहि	न सरवरेहिँ
२५२	१६	हुहै	है
२५५	२२	रचना की प्रसाद गुण	रचना के प्रसाद गुण
२५६	१४	तहइ	लहइ
२६८	२०	अलंकारिक	आ ंकालरिक
२७२	१	आषाड़	आषाढ
२७३	१३	गौख	गोरख
२७४	६	कलापों ने	कलापों से
२७५	१५	पारंपारिक	पारंपरिक
२८०	२०	चौपाई	चौपई
२८६	४	प्रस्तुत	प्रमुख
२८७	५	सरोरूह	सरोरुह
२८७	१५	कीरीट	किरीट
२८८	३	मगण	भगण